

चौमासा

वर्ष-27 अंक-82
मार्च-जून, 2010

सम्पादक
कपिल तिवारी

सहायक सम्पादक
अशोक मिश्र



आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल का प्रकाशन

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित

सम्पर्क

आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी,
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्
मुह्ला रमूजी संस्कृति भवन, आधार तल,
बाणगंगा, भोपाल-462003
E-mail : mplokkala@rediffmail.com

मूल्य

एक प्रति बीस रूपये
वार्षिक पचास रूपये
आजीवन सदस्यता पन्द्रह सौ रूपये
चौमासा का वार्षिक शुल्क अनुषंग पुस्तिका के साथ सौ रूपये

प्रचार/प्रसार

श्रीमती उर्मिला पारखे, प्रवीण गावण्डे

शब्दांकन

आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी,
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्

आवरण

पीतल शिल्प, श्रीमती रामकली बाई सोनी, टीकमगढ़

मुद्रण

शासकीय केन्द्रीय मुद्रणालय, भोपाल

- चौमासा में प्रकाशित सामग्री लेखकों के अपने कार्य और विचार हैं। आवश्यक नहीं कि अकादमी उससे सहमत हो।
- पत्रिका और प्रकाशन से संबंधित समस्त विवादों का न्यायालयीन कार्यक्षेत्र भोपाल रहेगा।

डॉ. कपिल तिवारी, निदेशक, आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल सम्पादक, मुद्रक, प्रकाशक द्वारा शासकीय केन्द्रीय मुद्रणालय, मैदा मिल, भोपाल से मुद्रित कराकर आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, मुह्ला रमूजी संस्कृति भवन, आधार तल, बाणगंगा, भोपाल से प्रकाशित।

सम्पादक-डॉ. कपिल तिवारी

इस अंक में

- परम्परा और लोक संगीत / डॉ. शांति जैन / 5
- समकालीनता में लोक परम्पराएँ / डॉ. अशोक डी. पाटिल / 13
- बुन्देलखण्ड की लोक देवियाँ / डॉ. सुधा गुप्ता / 17
- बघेली की वाचिक परम्परा / डॉ. परमानन्द तिवारी / 27
- बघेली प्रेमगीत / डॉ. प्रवेश तिवारी / 30
- मालवा में आदिवासी सत्ता / डॉ. पूरन सहगल / 44
- कहावतों में भीली जीवन / व्यंकटराव यादव / 48
- लोक जीवन का राग / डॉ. महेशचन्द्र शांडिल्य / 52
- छिन्दवाड़ा में गोंड जनजाति - / सरोज जावलकर / 56
- राजस्थानी प्रेमाख्यानों में ढोलामारू / डॉ. कमला गर्ग / डॉ. शिवा धमेजा / 63
- बंगाल का लोक साहित्य और संस्कृति / प्रो. हरिश्चन्द्र मिश्र / 68
- जनजातीय चित्रकला एवं नृत्य / डॉ. आदित्य प्रसाद सिन्हा / 112
- महाराष्ट्र की चित्रकथी / डॉ. कहानी भानावत / 117
- किशनगढ़ के लघुचित्रों में रामायण / डॉ. नीरू / 120
- सृष्टि निर्माण : गालो अवधारणा / डॉ. शिवानन्द झा / 124
- त्योहारों की भूमि : अरुणाचल / जमुना बीनी / 128
- पंजाबी लोकधारा में गालियाँ / अमृतपाल कौर / 132
- रागनी का उद्भव और विकास / डॉ. राजेन्द्र गौतम / 137
- ब्रज के आख्यान गीत / डॉ. (श्रीमती) मालती शर्मा / 160
- पीला रूमाल / डॉ. कैलाश नारद / 163

परम्परा और लोक संगीत

डॉ. शान्ति जैन

परम्परा विरासत से मिलती है, जिसके निर्वाह का अर्थ है कि कोई वस्तु ज्यों की त्यों रहे, किन्तु परम्परा को आगे बढ़ाना, उसका नवीनीकरण करना है। श्रेष्ठ को श्रेष्ठतर बनाना ही परम्परा का उचित निर्वाह है। इसके लिए परम्परा स्वयं अपना अतिक्रमण करती है। परम्परा एक कड़ी है, श्रृंखला है - जिसमें निरन्तरता है, आने-जाने का भाव है, गतिशीलता है। परम्परा में एक ओर स्थायित्व है तो परिवर्तन भी है, जुड़ाव है तो जिज्ञासा भी। परम्परा का अर्थ केवल प्राचीनता को या ट्रेडीशन को मात्र पकड़े रहना नहीं है, बल्कि उसमें कहीं-कहीं उचित परिवर्तन करना भी है। परम्परा में स्वीकार है तो परिहार भी है। इसमें कुछ चीजें छूटती हैं, कुछ जुड़ती हैं। इसी कारण एक परम्परा बिल्कुल लुप्त नहीं होती, उसमें अगर कोई विरोध या परिवर्तन होता भी है, तो वह आगे जाकर परम्परा का विकल्प बन जाता है। सन्तान जैसे वंश परम्परा को आगे बढ़ाती है, उसी प्रकार लोक परम्परा भी पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ती रहती है, अपनी गुणवत्ता के साथ।

लोक परम्परा का उत्स कहाँ है? इसकी जड़ें कहाँ हैं? इसके बीज कहाँ हैं? — कोई नहीं जानता। जंगलों के बाद बस्तियाँ आईं, फिर नगर आये और फिर आईं महानगर की संस्कृति। परम्परा इसी प्रकार फलती-फूलती रही।

लोक परम्परा वस्तुतः एक वाचिक परम्परा रही है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ग्रन्थ शिक्षा की अपेक्षा वाचिक शिक्षा अधिक प्रभावी होती है। एक से एक कला, संगीत, चित्रांकन पीढ़ी दर पीढ़ी वाचिक परम्परा से पल्लवित एवं पोषित रहे हैं। वाचिक परम्परा में जीवन के दैनन्दिन या नैतिक अनुष्ठान, उनके लिए रची जाने वाली कला या गाये जाने वाले गीत एक दूसरे से जुड़े होते हैं।

लोक परम्परा शास्त्र विरोधी नहीं है। शास्त्र भी लोक विरोधी नहीं हैं। लोक और शास्त्र दोनों का अनुभव हुए बिना जीवन में समग्रता नहीं आ सकती। जिन्हें लोक का अनुभव नहीं, वे शास्त्र ज्ञान में भी कोरे रहते हैं। कबीर जैसे कवियों ने लोक के उपादानों को ही सेतु बनाकर आध्यात्म की राह बनाई। उनकी रचनाओं में चरखा, बढ़ई, जुलाहा, उसका ताना-बाना, कुम्हार, उसका चाक, किसान उसकी खेती आदि रूपक दृष्टिगत होते हैं। लोक परम्परा में वस्तुतः सम्पूर्ण जीवन समाहित है। लोक परम्परा सजीव है, मंगल विधायिनी

और निरन्तर सजग होती है। लोक परम्परा पूर्णता की तलाश है। लोक परम्परा में विशेष रूप से चार तत्त्व समाहित हैं-

परिवार का भरा पूरापन : एक कोहबर गीत में एक पुरखिन सास का चित्र है, जो मचिया पर बैठी है। उसकी बहू पूछती है - कोहबर में क्या लिखूँ? पुरइन के पत्ते, सुग्गा, मैना कहाँ लिखूँ? सास कहती है- दूर-दूर सुग्गा-मैना लिखो, हंस-हंसिनी का जोड़ा लिखो, दाना चुगती गौरैया लिखो, बछड़े को दूध पिलाती गाय लिखो, कलश लिये दासी को लिखो, पोथी लिये ब्राह्मण को लिखो, गाय दुहता हुआ ग्वाला और दही बेचती ग्वालिन लिखो। बेला फूल, इमली और आम के पेड़ लिखो। कोहबर गीत का यह भरा-पूरापन परिवार, समाज और प्रकृति से जुड़ने का लक्षण है।

जीवन की परार्थता : दूसरों के कल्याण के लिए जीना ही जीवन की सार्थकता है। एक स्त्री पूछती है- कुँआ खुदवाने का क्या फल है? उत्तर है- पनहारिनें आकर पानी भरें। बाग लगाने का क्या फल है? जब राही बटोही को उसके फल खाने को मिलें। पोखरा खुदवाने का क्या फल है? जब गाय-बैल उसका ठंडा पानी पीयें। स्त्री जन्म का क्या फल है? जब वह सन्तानवती हो। पुत्र के जन्म का क्या फल है? जब उससे कुल-परिवार या समाज आनन्दित हो।

समाज में सबकी साझेदारी : पाँच पान के पत्ते और नारियल से जब विवाह का निमंत्रण दिया जाता है, तो अच्छे-बुरे, प्रिय-अप्रिय, जड़-चेतन, देवता-मनुष्य सबको भागीदार बनाया जाता है। स्वर्गस्थ पुरखे, नाते-रिश्ते, भूमिदेवता, कुलदेवी के साथ साँप-बिच्छू, आँधी-पानी को भी न्यौते जाने की प्रथा लोक परम्परा में है।

आत्मीयों के लिए विकलता : लोक जीवन में अपनों के लिए विकलता देखने को मिलती है। बारहमासा में किसी विरहिणी की बारह महीनों की विरह वेदना में उसके मनोभाव देखने को मिलते हैं। एक बारहमासा में माता कौशल्या अपने वनवासी पुत्र राम-लखन के लिए अत्यन्त व्याकुल दिखती हैं। वे सोचती हैं कि बैसाख-जेठ में मेरे राम-लखन के कोमल चरण जलते होंगे, आषाढ़-सावन में वे भीग रहे होंगे, क्रॉर-कार्तिक में होने वाले उत्सव उनके बिना श्रीहीन हैं, अगहन-पूस की रातें कटार की धार के समान हैं और फागुन का महीना तो राम-लखन के बिना बेरंग और फीका है।

एक चैती गीत में किसी चकवी की मनोव्यथा चित्रित है। उसका चकवा खो गया है। इधर किसी ग्वालिन का हार जमुना में गिर गया है। वह चकवी से हार ढूँढने को कहती है, तो चकवी कहती है- आग लगे तुम्हारे हार को। मैं अपने चकवे को शाम से ढूँढ रही हूँ। मेरे लिए तो मेरे आकाश का चाँद ही खो गया है।

कोई पत्नी परदेस जाते हुए प्रियतम से कहती है- तुम्हारे बिना मेरे दिन कैसे कटेंगे? पति कहता है- मैं पाती भेजूँगा। पत्नी कहती है- आग लगे तुम्हारी आती-पाती को। मेरी छाती तो दीये की बाती की तरह जल रही है-

*आग लगे तोरे आती-पाती
दीया के टेम जरै छतिया।*

लोक परम्परा की तीन विशेषताएँ हैं-

- (1) लोक परम्परा व्यतीत नहीं है। वह व्याप्त है, जीवन्त है, जीवन से जुड़ी है और अनवरत गतिमान है।
- (2) लोक परम्परा मनुष्य और प्रकृति के बीच, व्यक्त और अव्यक्त के बीच सम्बन्ध स्थापित करती है।
- (3) लोक परम्परा शास्त्र को समृद्ध करती है, उसका समर्थन करती है। प्रत्येक शास्त्रीय परम्परा लोक परम्परा से जुड़ी है। शास्त्र और लोक एक दूसरे की परम्परा को समृद्ध करते हैं।

शास्त्र में बहुत से राग हैं, जो लोकधुनों से बने हैं। होली की धुन से काफी और सावन की धुन से मल्हार प्रभावित है। लोकधुनों और लोकगीतों से शास्त्रीय संगीत का विकास हुआ है, तो शास्त्रीय रागों के आधार पर लोकगीतों की रचना भी हुई है। इस लोक परम्परा में एक समग्र दृष्टि है और यह सम्बन्धों के निर्वाह तथा विश्व को एक सूत्र में बाँधने वाली परम्परा है।

वाचिक पद्धति पर आधारित लोक परम्परा पीढ़ी दर पीढ़ी माता-पिता से सन्तान को या गुरु से शिष्य को सौंपी जाने वाली परम्परा है, पर यह सौंपना और ग्रहण करना दोनों की क्षमता पर निर्भर है। सौंपने वाले को निस्वार्थ भाव से सौंपकर यह आशा करनी चाहिए कि इसमें अभिवृद्धि होगी। लेने वाले को अकिंचन होकर समर्पित भाव से लेना चाहिए। इस तरह वाचिक परम्परा में केवल वाक्य नहीं, अपितु वाक्यार्थ को ग्रहण करने वाला समर्पण भाव भी होता है।

प्रत्येक कलाकार को शास्त्रीय या लोक परम्परा से कुछ अंश प्राप्त होता है, जिसका अनुशीलन कर वह अपनी कला-यात्रा पूरी करता है। उसकी कला उसकी नहीं, परम्परा की होती है। उसकी मौलिकता मूल के निर्वाह में होती है। कुम्हार वर्षों से मिट्टी की मूर्ति, बर्तन, घड़ा, दीया आदि बनाता है, जो परम्परा से उसके दादा-परदादा बनाते आये हैं, पर उसकी कोई कृति अपने पूर्वजों की नकल नहीं, बल्कि उसकी पहचान होती है।

आनन्द कुमार स्वामी ने कहा था कि वे ही कलाकृतियाँ रम्य हैं, जो शास्त्र और लोक परम्परा के अनुसार रची गई हैं।

लोक परम्परा का बहुत बड़ा अंश अनाम है। हमारे लोकाचारों, अनुष्ठानों, वेदमंत्रों और लोकस्वर का एक ढला हुआ साँचा है, जिसे सभी ने बिना किसी तर्क के स्वीकार कर लिया है। यह साँचा किसने और कब बनाया, यह न कोई जानता है, न जानना चाहता है। किसी अनुष्ठान का कोई मंत्रविशेष ही क्यों होता है? इसकी जिज्ञासा कोई नहीं करता। मांगलिक अनुष्ठानों की संसिद्धि में मंत्र और लोकगायन दोनों की अनुपूरक भूमिका है। आज भी परम्परानिष्ठ वर्गों का अध्ययन किया जाए, तो पता चलेगा कि उस वर्ग की स्त्रियों ने आदिम से आदिम आचारों को किसी न किसी व्रत में सँजोकर रखा है। घरों में एक ओर शास्त्र की महिमा है, तो दूसरी ओर लोकाचार, लोक परम्परा का आग्रह भी है।

वस्तुतः लोक-प्रचलित व्यवहार शास्त्र की रक्षा भी करते हैं और उनका नियमन भी। कोई भी कार्य यदि शास्त्र-सम्मत हो, किन्तु लोक-विरुद्ध हो तो उसे लोक में मान्यता नहीं प्राप्त होती। यह दृष्टि ही भारतीय परम्परा को लोक और शास्त्र से जोड़ती है।

लोक के योग से लोक साहित्य की कई विधाएँ बनी हैं, जैसे लोकगीत, लोकगाथा, लोककथा, लोकनृत्य, लोकचरित्र, लोकाचार, लोकधर्म, लोकरंजन, लोकवृत्त आदि। इन सभी शब्दों में लोक का अर्थ व्यापक मानव व्यवहार है, किन्तु इसमें लोक संगीत विशेष रूप से मानव हृदय के निकट है।

लोक संगीत

लोक संगीत की परम्परा भारत में अत्यन्त प्राचीन है। सम्भवतः सृष्टि के आरम्भ से ही इसकी परम्परा रही है। लोकगीतों का बीज हमारे प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में उपलब्ध है। प्राच्य साहित्य में जिन गाथाओं का उल्लेख है, उन्हें लोकगीतों का पूर्व प्रतिनिधि कहा जा सकता है। पद्य या गीत के अर्थ में 'गाथा' तथा

उसे गाने वाले के अर्थ में 'गाथिन्' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के मंत्रों में मिलता है। गृह्यसूत्र में विवाह, सीमान्तोन्नयन तथा यज्ञादि के अवसर पर गाथाएँ गाई जाती थीं। ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में भी गाथाओं का वर्णन मिलता है। गाथाओं का सम्बन्ध लोकगीतों से बहुत निकट का जान पड़ता है। 'गाथासप्तशती' से पता चलता है कि उस समय लोकगीत गाने और बजाने की प्रथा थी।

वाल्मीकि रामायण में श्रीरामजन्म के समय तथा श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्णजन्म के शुभ अवसर पर स्त्रियों द्वारा मनोरंजक गीत गाने का वर्णन मिलता है। संस्कृत साहित्य में चक्री पीसना, धान कूटना, ढेंकी चलाना, खेती निराना, चरखा कातना आदि समयों में झुण्ड बाँधकर गीत गाने का उल्लेख हुआ है। बारहवीं शताब्दी की एक कवयित्री विज्जका ने धान कूटने वाली स्त्रियों के गीत गाने का चित्र खींचते हुए कहा है कि स्त्रियाँ धान कूट रही हैं और साथ-साथ गीत भी गा रही हैं। मूसल उठाने और गिराने के कारण उनकी चूड़ियाँ खनक रही हैं। मीठी हुँकार का स्वर और चूड़ियों की खनक में मिलकर उनके गीत विचित्र आनन्द पैदा कर रहे हैं।

महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' में धान के खेत की रखवाली करने वाली स्त्रियों द्वारा ईख की छाया में बैठकर लोकगीत गाने का उल्लेख किया है।

गोस्वामी तुलसीदास के समय विभिन्न संस्कारों के अवसर पर लोकगीत गाने की प्रथा थी। श्रीराम विवाह के अवसर पर स्त्रियों द्वारा गीत गाने का उल्लेख है-

गावहिं मंगल मंजुल बानी,
सुनि कलरव कलकंठ लजानी।

सोहर छन्द में उन्होंने 'रामललानहछू' की रचना करके लोकगीतों की महत्ता प्रतिपादित की है। श्रीराम विवाह के अवसर पर गाली गाये जाने का उल्लेख भी तुलसीदास ने किया है।

लोकगीतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्त इस प्रकार हैं-

- (1) आदिमानव द्वारा प्रकृति की प्रजनन शक्ति से सुख और विनाश की शक्ति देखकर दुःख की अनुभूति ही लोकगीतों के रूप में परिणत हुई।
- (2) सन्तोष और उल्लास से लोकगीतों का जन्म हुआ।

(3) परिश्रम के बोझ को हल्का करने के लिए आदिमानव की गुणगुनाहट से लोकगीत जन्मे।

लोकगीतों की रचना के विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं-

(क) ग्रिम के अनुसार लोकगीत अपने आप बनते हैं।

(ख) पेरी ने लोकगीतों को आदिमानव का उल्लासमय संगीत कहा है।

(ग) बिशप पर्सी के मत से लोकगीतों की रचना चारण एवं भाटों के द्वारा हुई।

(घ) जर्मन विद्वान श्लेगल लोकगीतों को व्यक्ति विशेष की रचना मानते हैं, जबकि डॉ. फ्रांसिस चाइल्ड का कहना है कि लोकगीतों में व्यक्ति विशेष की वाणी तो मिलती है, उसका व्यक्तित्व नहीं मिलता।

(ङ) लोकगीतों का उद्गम शहर की चकाचौंध में नहीं, अपितु गाँव की प्राकृतिक सुषमा के साथ होता है।

गुजराती विद्वान झबेरचन्द मेघाणी ने कहा है कि जिस प्रकार हरे जंगलों में पंछी अपने आप गा उठते हैं, वैसे ही लोकगीत स्वाभाविक रूप से हृदय से फूट पड़ते हैं।

राल्फ वी. विलियम्स ने कहा है कि लोकगीत न पुराना होता है, न नया। वह तो जंगल के एक वृक्ष जैसा है, जिसकी जड़ें तो दूर जमीन में धँसी हुई हैं, परन्तु जिनमें निरन्तर नई-नई डालियाँ, पल्लव और फल लगते हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि लोकगीत सहज उद्भूत संगीतात्मक योजना है और श्रुति-साहित्य परम्परा का सबसे प्रामाणिक भाष्य है। लोकगीतों में निम्न विशेषताएँ पाई जाती हैं-

(1) ये स्वतः उद्भूत हैं।

(2) लोकगीत आदिमानव का स्वतः उद्गीर्ण संगीत है।

(3) ये गीत प्रकृति के उद्गार और आर्येतर सभ्यता के वेद हैं।

लोक संगीत हमारे जीवन विकास की गाथा है। इनमें जीवन के सुख-दुःख, मिलन-विरह, उतार-चढ़ाव की भावनाएँ व्यक्त हुई हैं। सामाजिक रीति एवं कुरीतियों के चित्र भी इन लोकगीतों में हैं। इनमें जीवन की सरल अनुभूतियों और भावों की गहराई है।

लोकगीतों का विस्तार कहाँ तक है, यह कहना मुश्किल है, किन्तु इनमें सदियों से चले आ रहे धार्मिक विश्वास और परम्पराएँ हैं। ये हृदय की गहराईयों से जन्मे हैं, अतः इनमें तर्क कम, भावना अधिक है। न इनमें छन्दशास्त्र की लौह श्रृंखला है, न अलंकारों की बोझिलता। इनमें तो लोकमानस का स्वच्छ और पावन गंगा-जमुना जैसा प्रवाह है। लोकगीतों का सबसे बड़ा गुण यह है कि इनमें सहज स्वाभाविकता एवं सरलता है। इनमें सुख-दुःख प्रेम और करुणा के विविध रंग हैं। कहीं पुत्रजन्म के अवसर पर हर्ष उल्लास के स्वर गूँजते हैं, तो कहीं कन्या की विदाई और प्रिय वियोग की बेला में करुणा के गीत मुखर होते हैं।

लोक साहित्य की समस्त विधाओं में लोकगीत एक ऐसी विधा है, जिसकी सहजता बरबस मन को खींच लेती है। जैसे-प्रकृति के रंगों के आगे कोई रंग नहीं, छत पर छिटकी चाँदनी के आगे हजार पावर के बल्बों की कोई शोभा नहीं, वैसे ही लोकगीत उतने ही स्वाभाविक हैं, जैसे हरे जंगलों में पंछी का गाना, जैसे झरनों की कलकल, जैसे बूँदों की छमछम, जैसे हवाओं की बाँसुरी। इनमें सरल काव्य होता है, भावों की खींचतान नहीं होती।

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि लोकगीत की एक-एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ-सौ मुग्धाएँ और खण्डिताएँ न्यौछावर की जा सकती हैं, क्योंकि ये निरलंकार होकर भी प्राणमयी हैं और वे अलंकारों से विभूषित होने पर भी निष्प्राण हैं। ये अपने जीवन के लिए किसी शास्त्र विशेष की मुखापेक्षी नहीं हैं। ये अपने आप में परिपूर्ण हैं।

कालिदास ने शकुन्तला के वल्कल वस्त्रयुक्त सौन्दर्य को देखकर कहा था कि यदि यह सौन्दर्य किसी आश्रमवासी का है, तो उद्यान की लताएँ वन की लताओं से तिरस्कृत हो गईं। कहाँ निरलंकार शकुन्तला और कहाँ राजा दुष्यन्त के अन्तःपुर की वे रानियाँ, जिनके तन पर बहुमूल्य रेशमी वस्त्र और अनमोल आभूषण हैं।

लोकगीतों में दैनन्दिन जीवन के चित्र होते हैं। उन्हें भावपूर्ण अमृतकलश भी कहा जा सकता है। शिशु के प्रथम क्रन्दन से लेकर जीवन की अन्तिम कड़ी तक के भावचित्र यहाँ मिलते हैं। भाई से मिलने को व्याकुल बहन की व्यथा कथा, स्त्रियों का आभूषण प्रेम, सास-ननद और सौत के अत्याचारों से पीड़ित स्त्री की मनोव्यथा, विरहिणी की वेदना, माता का वात्सल्य, कृषक परिवार की विपन्नता, वीरों की शौर्यगाथा और मिलन-विरह के

रंगारंग भाव इन गीतों में मिलते हैं। दूसरे शब्दों में इन लोकगीतों में जीवन का शाश्वत सत्य झलकता है।

मौखिक परम्परा से विकसित होते हुए इन लोकगीतों को वेदों के समान माना गया है, क्योंकि दोनों ही अधिक मात्रा में श्रव्य हैं। लोकगीतों की शैली सहज होती है और उनमें गेयतत्त्व की प्रधानता होती है। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में कहा गया है कि कोई भी गीत, कैसा भी संगीत, लोक संगीत पर निर्भर है। संगीत की दृष्टि से ये गीत बिना किसी वाद्ययंत्र के भी स्वाभाविक हृदयस्पर्शी स्वर का प्रतिनिधित्व करते हैं।

महादेवी वर्मा ने कहा था- सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था विशेष को गिने-चुने शब्दों में स्वरसाधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है और इस गीत में जब सहज चेतना जुड़ जाती है, तो वह लोकगीत बन जाता है।

महात्मा गाँधी ने कहा था कि वही काव्य और वही समाज चिरंजीवी रहेगा, जिसे लोग सुगमता से पा सकेंगे और आसानी से पचा सकेंगे। अतः यदि साहित्य को समूह के साथ विकसित होना है, तो उसे लोक समाज और लोक साहित्य से जुड़ना होगा। वस्तुतः साहित्य लोकगीतों से ही अनुप्राणित होकर सहज होता है और रस का सृजन करता है, क्योंकि लोकगीत अकृत्रिम एवं पूर्ण होते हैं।

लोकगीतों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों की सुन्दर योजना है। रूपक अलंकार का एक सुन्दर उदाहरण इस प्रकार है-

नयन सरोवर, काजर नीर
ढरकि खसल सखि, धनिक सरौर

इसमें विरहिणी के नयनों को सरोवर और काजल को नीर कहा गया है।

लोकगीतों की कल्पना, उसके उपमान हमारे दैनिक जीवन से जुड़े होते हैं, इसलिए अधिक सहज और प्रभावशाली होते हैं। इनमें स्वाभाविक एवं मौलिक उपमानों का प्रयोग होता है। उपमान नवीन भी होते हैं। हिन्दी या संस्कृति के कवि आँख की उपमा खंजन, मीन, मृग और कमल से देते हैं, जबकि लोककवि आँखों की उपमा आम की फाँक से देते हैं। होठों की उपमा बिम्ब फल या बिद्रुम से न देकर पान के पत्ते से दी गई है। पेट की उपमा पुरइन के पत्ते से और पीठ की उपमा धोबी के पाट से दी गई है।

स्त्री के जूड़े की उपमा लाठी के हूरे से दी गई है।

लोकगीतों में उपमान उपमेय का साम्य बड़ा स्वाभाविक बन पड़ा है। लोहार की दुकान में जैसे लोहा तपता है, वैसे ही किसी भाई की बहन ससुराल में कष्ट पाती है-

लोहरा जरै जैसे लोहरा दुकनियाँ रे ना
मोरी बहिनी जरै ससुररिया रे ना।

बहन पसीने से भीगी अपनी मैली-कुचैली धोती की तुलना सावन की बदली से करती है-

कपड़ा देख भइया मोर पहिरवना रे ना
भइया जइसे सवनवाँ के बदरी रे ना।

पिता के बिना पुत्री और पति के बिना पत्नी की दुर्दशा का चित्रण सटीक उपमाओं द्वारा किया गया है-

जैसे केवट बिनु नैया चलत है
तैसे बाबुल बिनु बेटी
जैसे पीपर केर पत्ता डोलतु है
वैसे पुरुष बिनु नारी।

लोकगीतों में ध्वन्यात्मक मार्मिक व्यंजनाओं की भी बहुलता है। एक विरहिणी नायिका अपने प्रिय के प्रति हृदय के भाव इस प्रकार प्रकट करती है-

साजन तेरे हेत आँखिया तो नदिया भई
मन भयो बालू रेत गिर-गिर परत कगार।

पुत्र के लिए माता की विकलता कुम्हार के आवाँ से उपमित है-

जइसे कोहार के आवाँ त भभकि-भभकि रहे
बेटा, ओइसन माई के करेजवा त धधकि रहे।

लोकगीतों में प्रतीकों का भी अच्छा प्रयोग हुआ है। गंगा-यमुना शब्दों का प्रयोग पवित्रता के संकेत रूप में हुआ है। निर्गुण गीतों में आत्मा के लिए पंछी, शरीर के लिए पिंजड़ा आदि प्रतीकों का प्रयोग हुआ है-

सुगना निकल गइल पिंजरा से
खाली परल रहल तस्वीर।

एक गीत में अपने प्रिय के प्रति प्रेम प्रकट करने के लिए

तन को अदहन, मन को चावल, नयनों को मूँग की दाल मानकर प्रिय के लिए भोजन बनाने का उल्लेख है-

तन मोरा अदहन मन मोरा चाउर
नयन मूँग के दाल
अपने बलम के जेवना जेंवइणे
बिनु अदहन बिनु आग।

एक लोकगीत में बिजली को सोने की डोर और बादल की उपमा कथरी से दी गई है-

खेलली बिजुरिया बदरवा के कोरा
कथरी सिंयाल वाटे सोनवा के डोरा

विरहिणी की वेदना को व्यंजित करने के लिए चैत को उत्पाती की संज्ञा दी गई है-

नइ भेजे पतिया, आयल चैत उतपतिया

कोई पत्नी अपने प्रेम की पराकाष्ठा प्रकट करती हुई सेर भर गेहूँ से वर्ष भर काम चलाने के लिए कहती है, किन्तु अपने प्रिय को नजरों से दूर नहीं जाने देना चाहती-

सेर भर गेहुँआ बरिस दिन खइबै
पिया के जाय न देबै हो,
रखबइ आँखिया के हजुरवा।

प्रायः ग्रीष्म ऋतु के लिए कोमल भावों का चित्रण नहीं मिलता, किन्तु एक राजस्थानी लोकगीत में ग्रीष्मकालीन लू का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा गया है-

कह लूवां कित जावस्यो
पावस धर पड़ियांह
हिये नवोरा नार रा, बालम बीछड़ियांह

कहो हे लू! तुम कहाँ जाओगी, जब धरती पर पावस आ जायेगा। लू कहती है- मैं उन नववधुओं के हृदय में रहूँगी, जिनके प्रिय परदेस गये हैं।

रचनात्मक स्वातंत्र्य

लोकगीत जंगल के वे फूल हैं, जो स्वतंत्र वातावरण में खिलते और विकसित होते हैं।

(1) लोकगीत जगण, मगण आदि छन्दशास्त्र के नियमों में नहीं पड़ते, न मात्रिक एवं वर्णिक छन्द में बँधते हैं। यही कारण है कि लोकगीत की पंक्ति कहीं बड़ी हो जाती है, कहीं छोटी, किन्तु

इससे गीतों की गेयता और लयात्मकता में कोई बाधा नहीं आती। इन गीतों को गाते समय कहीं ह्रस्व को दीर्घ, कहीं दीर्घ को ह्रस्व कर दिया जाता है और किसी पद में अक्षरों की कमी होने पर हो, रे या रामा आदि पद जोड़ दिये जाते हैं, जो लोकगीतों के लचीलेपन के प्रमाण हैं।

(2) लोकगीतों में भाव-व्यंजना और छन्द-विधान में उचित सामंजस्य है। संयोग श्रृंगार के वर्णन में प्रायः झूमर, छोटे छन्द में लिखे जाते हैं, तो मार्मिक भावों की व्यंजना के लिए लम्बे छन्द लिखे जाते हैं। सोहर छन्द प्रायः लम्बे ही होते हैं। विप्रलम्भ श्रृंगार का वर्णन जँतसार में दिखाई देता है।

(3) लोकगीतों में तुकान्त होने के नियम का पालन सभी जगह नहीं होता। पद के अन्त में कहीं समान स्वर होते हैं, कहीं समान व्यंजन। चैता के गीतों में 'हो रामा' और मैथिली वटगमनी गीतों में 'सजनि गे' शब्दों की पुनरावृत्ति पाई जाती है। जट-जट्टिन के गीतों में 'रे जट्टा' या 'रे जट्टिन' शब्दों की आवृत्ति होती है। लोकगीतों में प्रायः 'रे ना, हो ना, आहो रामा, राम, हो राम' आदि पदों की आवृत्ति देखी जाती है।

(4) भिन्न-भिन्न लोकगीतों को विभिन्न लयों में गाया जाता है। झूमर, होली, कजरी, बहुधा द्रुत लय में तथा सोहर, चैती, जँतसार, निर्गुण गीत प्रायः विलम्बित लय में गाये जाते हैं। विरहा, आल्हा, लोकगाथा आदि तारस्वर से गाये जाते हैं, जबकि सोहर, जनेऊ, विवाह, जँतसार, रोपनी, सोहनी आदि के गीतों में मन्द्र व मध्यस्वर का प्रयोग होता है।

(5) शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से भी लोकगीतों का महत्त्व है। टप्पा, दादरा, कीर्तन, भजन आदि लोक संगीत के ऋणी हैं। यद्यपि लोकगीतों में संगीत का सर्वांगीण शास्त्रीय रूप नहीं मिलता, किन्तु वे शास्त्रीय संगीत से पृथक भी नहीं हैं।

(6) इन लोकगीतों में अधिकतर शास्त्रीय परम्परा के कहरवा, दादरा, खेमटा, दीपचन्दी तथा जत तालों का प्रयोग होता है। कजरी, झूमर, पूर्वी, पराती आदि गीतों में कहरवा, दादरा का प्रयोग होता है। सोहर, जनेऊ, गोधन, होली, चैती, जँतसार आदि जतताल में गाये जाते हैं। एक लोकगीत दो भिन्न तालों में भी गाया जा सकता है, जैसे- बिदेसिया दीपचन्दी एवं जतताल में तथा झूमर, कहरवा और दादरा दोनों में गाया जाता है। लोकगीत में एक और ताल प्रमुख है, जिसे भरताल या भड़कतिल्ला कहते हैं।

(7) प्रायः लोकगीतों में चार थाटों का अंश अधिक पाया जाता है- बिलावल, खमाज, काफी और भैरव। चैत के गीतों में प्रायः खमाज या कल्याण थाट का प्रयोग होता है, जबकि छठ एवं होली के गीतों में काफी थाट की प्रमुखता होती है।

(8) लोकगीतों में प्रायः सात शुद्ध स्वरों के साथ कोमल गान्धार और कोमल निषाद का प्रयोग होता है। कहीं-कहीं कोमल ऋषभ और कोमल धैवत का प्रयोग भी होता है। तीव्र मध्यम वाले लोकगीत प्रायः नहीं मिलते। लोकगीतों में चार-पाँच स्वरों का ही प्रयोग होता रहा है।

(9) लोकधुनें सरल होती हैं लेकिन इनमें खटके, मुर्की, मींड आदि के प्रयोग से सौन्दर्यवर्धन होता है। इनसे आसावरी, भैरवी, झिंझोटी, पहाड़ी आदि रागों का जन्म माना जा सकता है।

(10) लोकगीतों में प्रयुक्त होने वाले ताल वाद्य- मादल, ढोलक, नगाड़ा, नौबत, डफ, डमरू, खँजड़ी, तारवाद्य- सारंगी, इकतारा और सितार, सुषिर वाद्य- बाँसुरी, बीन, शहनाई आदि हैं।

(11) लोकगीतों की कई विधाएँ हैं, क्योंकि उनके कई प्रयोजन हैं। वे मूलतः जीवन के अंगभूत हैं। उनका मूल प्रयोजन जीवन से जुड़ा व्यापार है। वह दैनन्दिन श्रम का कार्य हो, खेती व्यवसाय से जुड़ा कार्य हो, मांगलिक उत्सव हो अथवा ऋतुपूर्व हो, किसी न किसी के साथ उनकी लय मिली हुई है। चक्की के गीतों की टेक 'हो राम' वहीं रुकती है, जहाँ एक घानी पूरी होती है। निराई और रोपनी गीतों का विराम एक-एक काम पूरा होने के साथ होता है। कजरी गीतों की टेक झूले की पेंग के साथ लयबद्ध होती है, संस्कार गीतों में सुख-दुःख, मिलन-विरह सबके उतार-चढ़ाव प्रतिध्वनित होते हैं।

(12) वैदिक सूक्तों में जैसे मनुष्य और देवता के बीच अत्यन्त सामीप्य का भाव होता है, वैसी ही संवाद की भाषा लोकगीतों में भी मिलती है।

(13) लोकगीतों की मांगलिकता समग्र जीवन के सुख-दुःख की पहचान और विपरीत से विपरीत परिस्थिति में जीने के उत्साह के कारण है। विवाह गीतों में बबूल के पेड़ के नीचे मण्डप छाने की चर्चा इस बात का पूर्वाभास है कि विवाह एक कठिन जीवन की पूर्वपीठिका है।

(14) लोक के संस्कार गीतों में पारिवारिक स्नेहधारा, श्रमगीतों में मानव नियति की करुणा, ऋतुगीतों में युवा मन का राग, तो यात्रा

गीतों में विश्वव्यापी चैतन्य शक्ति मुखर होती है।

(15) लोकगीतों में मंत्रों की तरह पुनरुक्ति होती है। एक पंक्ति के क्रियापद दूसरी पंक्ति में भी होते हैं, किन्तु वहाँ संज्ञा बदल जाती है।

(16) लोकगीतों में प्रश्नोत्तरों का प्रयोग बहुत होता है-

का बिनु सून अँगनवा ए बाबा
का बिनु सून दुआर...
बेटी बिनु सून अँगनवा ए बाबा
पूता बिनु सून दुआर।

यह परम्परा वैदिक सूक्तों और अनेक आख्यानों में भी मिलती है।

(17) लोकगीतों की एक अन्य विशेषता है - इसका नाटकीय गठन। इनमें प्रायः घटनाओं का क्रम रहता है।

(18) लोकगीतों में सहज मानवीय भावों पर बल दिया जाता है। बड़े से बड़े ऐश्वर्य को तटस्थ भाव से देखते हुए शिव, राम, कृष्ण को आत्मीय बनाया जाता है और दुर्बल से दुर्बल व्यक्ति का आत्मगौरव जगाकर उसे जीवन-संग्राम के लिए समर्थ बनाया जाता है।

(19) बनावट की दृष्टि से लोकगीतों में शब्द समूहों की पुनरावृत्ति होती है। जब कोई पात्र किसी प्रश्न का उत्तर देता है, तो उस प्रश्न में प्रयुक्त शब्दों और उसके विशेषणों का ज्यों का त्यों उत्तर देता है। इससे अर्थ की प्रतीति में व्यवधान नहीं होता। थाली हो तो सोने की, चौकी हो तो चन्दन की, डोरी हो तो रेशम की और सेज सजी हो तो बेले की कलियों से ही। यह साहचर्य विशेष रूप से लोक परम्परा में है।

(20) लोकगीतों में अनपेक्षित कथा का परिहार और केवल मर्मभूत कथांश का मर्म-विन्यास होता है। हिरणी वाले प्रसिद्ध सोहर में हिरणी और कौशल्या के संवाद से भी पूरी कथा या हिरणी की निराशा स्पष्ट हो जाती है।

(21) लोकगीतों के शिल्प विधान की एक विशेषता यह है कि इसके बिम्ब लोक कल्पना की परिधि से आते हैं, जैसे- चन्दन के किवाड़, सोने की थाली, सोने की सुराही में गंगाजल पानी आदि ऐसे बिम्ब हैं, जो मंगल का पूर्णबोध करा देते हैं।

(22) लोक साहित्य में उपमाएँ सीधी-सादी होती हैं, किन्तु वे

पूरी तरह अभिव्यक्त होकर समूची उक्ति को चमत्कार से भर देती हैं। एक लम्बे गीत की पहली कड़ी इस प्रकार है-

एकहि बँसवा के दुई रे करैली
एक बँसुरी दुई बाँस रे
एकहि मइया के दुई रे लरिक्वा
एक पुता दुई धीय रे।

इसमें एक सादृश्य बिम्ब है, जैसे एक बाँस के दो कल्ले फूटते हैं- एक से बाँसुरी बनती है, दूसरे से लाठी, वैसे ही एक माँ से दो सन्तानें होती हैं। एक लड़की बनकर पराई हो जाती है, दूसरी लड़का बनकर घर की रक्षा करता है। यहाँ बाँसुरी और लाठी से जो बेटे-बेटे का सादृश्य है, वह परिनिष्ठित साहित्य की कल्पना से परे है।

(23) लोकगीत में शिल्प विधान की दृष्टि से कुछ और भी विशेषताएँ पाई जाती हैं। एक तो यह कि अवसर या प्रकृति के साथ लय और ताल का मेल होता है। दूसरी यह कि ये सामान्य परिस्थिति से आरम्भ होकर भाव की तीव्रता पर समाप्त होते हैं।

(24) लोकगीतों में नायक-नायिका के रूप में अलौकिक पात्रों का जीवन चरित्र भी देखने को मिलता है। राम और कृष्ण के प्रसंगों से लोकगीत भरे पड़े हैं। इनके जन्म से लेकर सम्पूर्ण जीवन यात्रा तक के चित्र इनमें मिलते हैं।

इस तरह स्पष्ट होता है कि लोकगीत लोक समूह द्वारा विशेष अवसरों एवं संस्कारों के समय हुई अनुभूतियों की लयपूर्ण सामूहिक अभिव्यक्ति है। इनमें लोक जीवन और लोक संस्कृति के मौलिक चित्र हैं।

समकालीनता में लोक परम्पराएँ

डॉ. अशोक डी. पाटिल

समाज में प्रचलित कार्य-प्रणालियों, प्रथाओं, रूढ़ियों और रीति-रिवाजों को परम्परा कहा जाता है। परम्पराएँ समाज में प्रचलित और विरासत में प्राप्त वे आचरण-आदतें या व्यवहार हैं, जिन्हें हमने वर्तमान में नहीं बनाया है। परम्पराओं को सीखने की प्रक्रिया हम अपने से बड़ों से प्राप्त करते हैं। वस्तुतः परम्परा पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होने वाली विरासत है। इसलिए परम्परा न तो विशिष्ट वैयक्तिक आचरण है और न ही वैयक्तिक स्तर पर इनकी रचना होती है। इसी प्रकार वैयक्तिक पसन्द या नापसन्द से इसे परिवर्तित भी नहीं किया जा सकता है। परम्परा के सन्दर्भ में उल्लेखनीय यह है कि विरासत में प्राप्त होने के कारण इनके साथ सामाजिक सहमति जुड़ी रहती है। लम्बे समय तक, प्रायः अनेक पीढ़ियों तक, किसी आचरण को समाज के सदस्यों द्वारा सतत् दोहराते रहने से परम्परा का विकास होता है। परम्परा विकास की एक दीर्घ प्रक्रिया है। इसका प्रारम्भ तब होता है, जब कोई आवश्यकता समाज के सदस्यों के समक्ष उत्पन्न होती है। आवश्यकता के उत्पन्न होने पर समुदाय के सदस्य उसे पूर्ण करने का तरीका अपने-अपने विवेक से खोजते हैं। इस प्रक्रिया में वैयक्तिक स्तर पर अनेक तरीके अपनाए जाने लगते हैं। विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा वैयक्तिक रूप से अपनाए जाने वाले विविध तरीकों में से जिस तरीके के उत्तम होने के प्रति लोक सहमति बन जाती है, उस तरीके को समुदाय के बहुसंख्यक सदस्य अपना लेते हैं। इस प्रकार किसी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए वैयक्तिक स्तर पर विकसित किसी तरीके को उपयुक्त या श्रेष्ठ तरीका मानकर जब समुदाय के बहुसंख्यक सदस्यों के द्वारा उसे अपना लिया जाता है, तो वह तरीका जन या लोक की रीति अर्थात् जनरीति या लोकरीति बन जाता है। इस रूप में हम कह सकते हैं कि किसी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए लोक के द्वारा मान्यता प्राप्त तरीका या विधि या आदत जनरीति या लोकरीति है। यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि आवश्यकता यदि तात्कालिक न होकर सतत् बनी रहती है, अर्थात् उसमें निरन्तरता होती है, तब उस आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए विकसित लोकरीति या जनरीति भी अनवरत् प्रचलन में बनी रहती है। इसी प्रक्रिया में उस लोकरीति को लोक के द्वारा तत्सम्बन्धी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए पीढ़ी दर पीढ़ी दोहराया जाता है। किसी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए पीढ़ी दर पीढ़ी दोहराई जाने के कारण लोकरीति समाज में स्थायी स्वरूप प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार आवश्यकता में स्थिरता या निरन्तरता होने पर उस आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए विकसित लोकरीति भी तात्कालिक अथवा अस्थायी न रहकर स्थायी लोकरीति बन जाती है। निरन्तरता और स्थिरता के कारण स्थायी लोकरीति सामान्य लोकरीति न रहकर एक महत्त्वपूर्ण लोकरीति बन जाती है। जनमानस में उसके प्रति विकसित विश्वास उसे सामान्य लोकरीति से ऊपर

उठाकर विशेष लोकरीति की स्थिति प्रदान करता है। इस कारण लोक उसके परिपालन को निरापद और उचित मानने लगता है। लोक के द्वारा मान्य और लोकजगत् में निरन्तर प्रचलन में बनी रहने वाली ऐसी स्थायी जनरीति या लोकरीति प्रथा के रूप में समाज में रूढ़ हो जाती है।

समय अथवा परिस्थितियों के प्रभावस्वरूप कतिपय प्रथाओं में संशोधन हो सकता है, अथवा वे प्रचलन से बाहर भी हो सकती हैं। उदाहरणस्वरूप, अतीत में जातिगत व्यवसाय करना हमारे यहाँ अनिवार्य था। वर्तमान समय में इसमें परिवर्तन हुआ है। आधुनिक शिक्षा, औद्योगीकरण, नगरीकरण और अब वैश्वीकरण के इस दौर में प्रत्येक भारतीय के लिए जातिगत व्यवसाय करने की अनिवार्यता का न तो कोई औचित्य है और न ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की दृष्टि से यह उपयोगी तथा लाभदायक है। इसीलिए जातिगत व्यवसाय करने की अनिवार्यता अब नहीं रह गई है। अब व्यक्ति जातिगत नियमों से परे अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार गैर-पारम्परिक व्यवसाय भी करने लगे हैं। अतीत में जातिगत नियमों के कारण शोषित और दलित जातियों के सदस्यों को अब राजकीय संरक्षण के कारण परम्परागत जातिगत व्यवसाय से भिन्न इच्छानुकूल व्यवसाय प्राप्त करने के अवसर उपलब्ध हुए हैं। समाज ने भी इस परिवर्तन को स्वीकार कर लिया है। समय तथा परिस्थितियों के प्रभाव से अब जातिगत व्यवसाय करने की परम्परा अवसान की ओर है। इसी प्रकार बालिकाओं को घर की चारदीवारी में सीमित रखने तथा उन्हें शिक्षा के अधिकार और आर्थिक उपार्जन के अवसरों से वंचित रखने सम्बन्धी प्रथाएँ भी समाप्त हो रही हैं। आज के सन्दर्भ में बहुपत्नी विवाह की प्रथा विकृति होने के कारण इसका प्रचलन समाप्त हो गया है। अतः प्रथाएँ समय और परिस्थिति सापेक्ष होती हैं।

कुछ प्रथाओं का महत्त्व सांस्कृतिक मात्र नहीं होता है। सांस्कृतिक महत्त्व के साथ ही वह प्रथाएँ व्यावहारिक दृष्टि से भी लोकोपयोगी और कल्याणकारी होती हैं। इसीलिए ऐसी प्रथाओं को सुरक्षित रखने का सचेष्ट प्रयास समाज करता है। उदाहरणस्वरूप स्त्री और पुरुष के बीच शारीरिक सम्बन्धों के नियमन और नियंत्रण की दृष्टि से विवाह एक उपयोगी और कल्याणकारी प्रथा है। इसीलिये विवाह करना और विवाह के माध्यम से परिवार बसाने सम्बन्धी प्रथाएँ उपयोगी प्रथाएँ हैं। यद्यपि अब परिवारों का आकार घट रहा है और वे अधिक लोकतांत्रिक बन रहे हैं, विवाह निर्धारण और आयोजन की व्यवस्था में कतिपय संशोधन हुए हैं, बावजूद

इसके विवाह और परिवार सम्बन्धी आस्थाएँ, परिपालन और सम्पादन की प्रतिबद्धता निरन्तर बनी हुई है। समाज इन लोकोपयोगी और कल्याणकारी प्रथाओं को नष्ट होने से बचाने तथा इन्हें बनाए रखने के लिए सदैव जागरूक रहा है। अतः लोकोपयोगी और कल्याणकारी प्रथाओं का महत्त्व मात्र सांस्कृतिक नहीं होता है, वे व्यावहारिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण होती हैं। इसीलिए वे काल की सीमा से परे समाज में सदैव रूढ़ रहती हैं। अक्षुण्ण अर्थात् निरन्तर रूढ़ रहने के कारण समाज उन्हें रूढ़ि कहता है।

इस प्रकार समाज में मान्यता प्राप्त तथा पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होने वाली प्रथाओं और रूढ़ियों की विरासत वस्तुतः परम्परा है। हमारे समस्त सांस्कृतिक आचरण, आदतें, लोकरीतियाँ, रीतिरिवाज, प्रथाएँ आदि हमारी परम्परा की अंग हैं।

परम्परा में वे आचरण, आदतें, लोकरीतियाँ, प्रथाएँ और रूढ़ियाँ सम्मिलित रहती हैं, जिनसे समुदाय के सदस्यों की एक या अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, अतः यह स्पष्ट है कि समग्र रूप में परम्परा प्रकार्यात्मक है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि परम्परागत आचरण या व्यवहार किसी न किसी आवश्यकता से जुड़ा रहता है, इसलिए आवश्यकता में परिवर्तन होने पर सम्बन्धित आचरण, रीतिरिवाज, प्रथा आदि में अर्थात् सम्बन्धित लोकपरम्परा के व्यवहारगत रूप में भी परिवर्द्धन या संशोधन हो सकता है। इसके उपरान्त भी परम्परा के समक्ष अस्तित्व खोने का भय नहीं रहता है। उदाहरणस्वरूप, विगत पचास वर्षों में भारतीय परिवारों की संरचना और प्रकार्यों में अनेक उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं। इन वर्षों में महिलाओं की स्थिति में अनेक परिवर्तन हुए हैं। उनमें शिक्षा निरन्तर लोकप्रिय हुई है। उनकी स्वतंत्रता, अधिकारों में वृद्धि हुई है। महिलाओं की पारिवारिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति में परिवर्तन के समाज पर अनेक सकारात्मक प्रभाव दिखाई दिये हैं। स्त्री-पुरुष समानता सम्बन्धी जागरूकता के कारण परिवारों में स्त्रियों की स्थिति उन्नत हुई है। उनकी स्थिति को बेहतर बनाने में शिक्षा का भी पर्याप्त योगदान रहा है। स्त्रियों के द्वारा कामकाज करने पर अब कोई प्रतिबन्ध नहीं रह गया है। इसलिए स्त्रियों में सफलता सम्बन्धी चेतना का विकास हुआ है। कामकाजी स्त्रियों का दैनन्दिन जीवन अब काफी व्यस्त रहता है। इसी प्रकार अनेक कारकों के प्रभावस्वरूप अब एकाकी परिवारों का प्रचलन बढ़ा है। साथ ही, छोटे परिवारों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। परिवारों में न केवल संरचनात्मक परिवर्तन घटित हुए हैं, बल्कि परिवार के प्रकार्यों और सदस्यों के

अधिकारों व कर्तव्यों की दृष्टि से परिवार में लोकतांत्रिक मूल्यों का विकास हुआ है। गृहस्थी के दैनन्दिन कामकाजों के लिए बिजली और इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों का अब अधिकाधिक उपयोग होने लगा है। बहुत से खाद्य पदार्थ अब बाजार में बने बनाये मिल जाते हैं। चाहे रोज की भोज्य सामग्री हो अथवा वार-त्योहार पर बनाये जाने वाले पकवान, अब बाजार में तैयार मिल जाते हैं। न घर पर बनाने की झंझट और न ही समय गँवाने की समस्या। परिवारों में अब पति भी पत्नी के कामों में हाथ बँटाने लगे हैं।

इन समस्त कारकों का महिलाओं की स्थिति पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। नित्य प्रति के उनके पारिवारिक कामकाज सहज हो गए हैं। इन कामों को सम्पन्न करने में उन्हें समय भी कम लगता है। दैनन्दिन के पारिवारिक कार्यों को सम्पन्न करने के पश्चात् अब उनके पास पर्याप्त समय शेष रहता है। इस अतिरिक्त समय और अपनी शिक्षा का सदुपयोग वे परिवार को आर्थिक सम्बल प्रदान करने के लिए करने लगी हैं। महिलाओं के द्वारा व्यवसायार्थ होने से उन्हें परिवार के बाहर की दुनिया के साथ समन्वित होने तथा अपनी योग्यताओं और क्षमताओं का उपयोग करने का अवसर भी मिला है। इसीलिए समकालीन समाज में महिलाओं का नौकरी या व्यवसाय करना आम बात हो गई है। आज की शिक्षित युवा स्त्री अपने व्यावसायिक सम्बन्ध के प्रति अधिक जागरूक है। कस्बाई नौकरीपेशा महिलाओं की अपेक्षा नगरीय और महानगरीय महिलाओं को घर से बाहर अधिक समय देना पड़ता है। महिलाओं के कामकाजी या नौकरीपेशा होने से उन्हें घर के कामकाज के साथ नौकरी से जुड़े दायित्वों का भी निर्वाह करना पड़ता है। इस परिप्रेक्ष्य में उनके द्वारा समय का समायोजन इस प्रकार करना आवश्यक हो गया है कि वे घर और बाहर के दायित्वों का भलीभाँति निर्वाह कर सकें। इसके परिणामस्वरूप उन्हें स्वयं पर व्यय किये जाने वाले समय में कमी करनी पड़ी है।

उदाहरणार्थ कामकाजी महिलाओं में छोटे बाल रखने का प्रचलन बढ़ा है। उनके लिए यह समय की बचत तथा बालों के रखरखाव की दृष्टि से सुविधाजनक है। इसी प्रकार सूखे कुंकुम से बिन्दी लगाने के स्थान पर अब बाजार में उपलब्ध चिपकने वाली बिन्दी लगाना अधिक सहज व सुविधाजनक है। यह तथ्य पूरी माँग भरने की बजाए केवल सिन्दूर की एक सांकेतिक लकीर बना देने में भी निहित है। पारम्परिक साड़ी के स्थान पर सलवार सूट का अधिक प्रचलन भी इसी कारण हो रहा है। साड़ी की अपेक्षा

सलवार सूट के पहिने और इसके रखरखाव में कम समय लगता है। स्पष्ट है कि बालों का आकार-प्रकार और रखरखाव, सौभाग्य के प्रतीक सिन्दूर तथा बिन्दी सम्बन्धी साज-श्रृंगार और वेशभूषा सम्बन्धी परम्परा में परिवर्तन का कारण मूलतः नौकरीपेशा महिलाओं के द्वारा व्यस्ततावश किया जाने वाला समय समायोजन ही है। समय के साथ यह परिवर्तन केवल कामकाजी महिलाओं तक सीमित न रहकर अन्य महिलाओं में भी लोकप्रिय होकर सामान्य प्रचलन में आ गया है। कहना न होगा कि इन परिवर्तनों को परिजनों एवं समाज के द्वारा भी मान्यता मिली है।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि समय और परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण महिलाओं की साज-सज्जा के पारम्परिक प्ररूपों, उनकी पारम्परिक स्थिति और उनके कार्यों में परिवर्तन हुआ है। परन्तु इन परिवर्तनों के उपरान्त भी भारतीय परम्पराओं के साथ जुड़ी भारतीय महिलाओं की आस्था और प्रतिबद्धता में कमी नहीं आई है। इसीलिए महिलाओं के सौभाग्यसूचक बिम्बों यथा-माथे पर बिन्दी और माँग में सिन्दूर रचने की परम्परा विनष्ट नहीं हुई है। यह उदाहरण इस ओर इंगित करते हैं कि भारतीय समाज में महिला शिक्षा और महिलाओं के कामकाजी होने के कारण कतिपय परम्पराओं के परिपालन की प्रक्रिया में कुछ संशोधन या परिवर्द्धन तो हुए हैं, परन्तु इन परिवर्तनों और संशोधनों के बावजूद परम्पराओं के प्रति महिलाओं की आस्थाओं और उनके परिपालन की प्रतिबद्धता यथावत् है।

हमारी परम्पराएँ किस प्रकार सार्थक और उपयोगी रही हैं, इसे एक उदाहरण के द्वारा हम भलीभाँति समझ सकते हैं। हिन्दू समाज में विवाह एक पवित्र और धार्मिक संस्कार है। विवाह के माध्यम से परिवार बसाने की परम्परा हिन्दुओं में ही नहीं, सभी समाजों में प्रचलित है। विवाह सम्बन्ध में आबद्ध होने वाला युगल एक दूसरे के साथ भावनात्मक, पारिवारिक और प्रकार्यात्मक सम्बन्धों में जीवन भर के लिए बंध जाता है। यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि विवाह में आबद्ध पति और पत्नी जिन परिवारों से आए हैं उनकी पारिवारिक, सामाजिक, व्यावसायिक, शैक्षिक, आंचलिक और व्यवहारगत पृष्ठभूमि भिन्न-भिन्न हो सकती है। यह भिन्नता पति-पत्नी और परिजनों के बीच सामंजस्य स्थापित करने में बाधा उत्पन्न कर सकती है। यहाँ महत्त्वपूर्ण यह है कि भारत ही नहीं, विश्व के प्रायः सभी समाजों में विवाह के पश्चात् स्त्री को ही अपने माता-पिता का घर त्याग कर पति के यहाँ आना पड़ता है। चाहे संयुक्त परिवार हो या एकाकी परिवार नववधु को और उसके पति

तथा सास-श्वसुर आदि परिजनों को परस्पर सामंजस्य करना ही पड़ता है। यद्यपि सामंजस्य सभी के द्वारा किया जाता है, परन्तु नववधू को अधिक सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक होता है कि नवविवाहिता धीरे-धीरे पति और नए परिवार के अनुरूप स्वयं को ढालने का प्रयास करे।

नगरीय समाज में अब संयुक्त परिवारों का प्रचलन घट रहा है। व्यवसाय या नौकरी सम्बन्धी बाध्यताओं के कारण भी विवाह के पश्चात् पुत्र अभिभावकों के साथ नहीं रह पाता है। ऐसी स्थिति में नवविवाहिता को केवल अपने पति के साथ ही सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है। इस सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि नववधू शैशव से ही माता-पिता, भाई-बहन आदि के साथ रही है। वहाँ उसने जो देखा है, सीखा है, उसके साथ उसका गहरा लगाव होता है। प्रारम्भिक अवस्था में यह लगाव पति और नए परिवार के साथ सामंजस्य में बाधक बन सकता है। परन्तु शनैः-शनैः सामंजस्य हो जाता है। दूसरी ओर नववधू के अभिभावकों के लिए भी यह कठिन होता है कि जिस बालिका को उन्होंने जन्म दिया, पाल-पोसकर बड़ा किया, उसे शिक्षा देकर संस्कारित किया, उसी लड़की को किसी अन्य व्यक्ति और परिवार के हाथों सौंपकर उसकी ओर से वे चिन्तारहित हो जाएँ। हर बात में उसकी याद आती है। उसकी पसन्द-नापसन्द, उसके स्वभाव की बारीकियाँ आदि याद कर वे आशंकित रहते हैं। इसी आशंका से वे बार-बार लड़की के पास जाने, उससे मिलने और उसकी कुशल-क्षेम जानने तथा स्वयं अपनी आँखों से देखने के लिए आतुर रहते हैं।

व्यावहारिक रूप से यदि लड़की के माता-पिता बार-बार लड़की के यहाँ आते-जाते रहें तो इससे न केवल लड़की के ससुराल पक्ष के लोगों को असुविधा होगी, बल्कि इससे लड़की के लिए नए परिवार और पति के साथ सामंजस्य स्थापित करने में भी व्यवधान उत्पन्न होगा। लड़की अपने मायके के संस्कारों और लगाव से मुक्त नहीं हो पाएगी। इस स्थिति में ससुराल पक्ष के लोग प्रारम्भ में तो इसे बड़े सहज रूप में लेते हैं और उलाहनों तथा मीठी डाँट-फटकार के द्वारा बहू में परिवर्तन लाकर उसे पति और ससुराल के अनुकूल बनाने का प्रयास करते हैं। यदि इससे स्थिति में परिवर्तन न हो और बहू अपने मायके के आवरण से बाहर न निकल पाये, उसी पर दृढ़ रहना चाहे तो ससुराल में परिजनों के साथ उसके सम्बन्धों और उसके प्रति उनके व्यवहार पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। प्रारम्भ में छोटी-मोटी तकरार, अनबन आदि होती है। फिर भी सुधार न हो तो निरन्तर कलह और परिवार के बिखराव की स्थिति बन जाती है। ऐसी समस्याओं को ध्यान में

रखकर ही हमारे यहाँ विवाह से सम्बन्धित दो बहुत उपयोगी परम्पराओं का विकास हुआ है। एक तो कन्यादान का और दूसरा विवाह के पश्चात् कन्या के साथ उसके माता-पिता के द्वारा दूरी रखने का। कन्यादान की परम्परा का वस्तुतः एक प्रतीकात्मक महत्त्व है। कन्यादान के माध्यम से कन्या को यह प्रतीति करवाई जाती है कि उसे दान में देकर उसका नाता ससुराल पक्ष से जोड़ा गया है, इसलिए ससुराल में रहकर उसे उनके साथ समन्वय स्थापित करना है। दूसरा यह कि कन्या के अभिभावकों को भी यह संदेश दिया जाता है कि चूँकि उन्होंने उनकी कन्या का दान कर दिया है, इसलिए कन्या की अभिरक्षा और उसके सुख-दुःख का ध्यान रखना उसके पति और ससुराल पक्ष का दायित्व है। अतः कन्या की चिन्ता से उन्हें मुक्त रहना चाहिये। इस स्थिति में बार-बार लड़की के घर जाना उचित नहीं है। इसके उपरान्त भी यदि लड़की के घर जाना आवश्यक हो तो उसके घर भोजन करना तो दूर रहा, पानी भी ग्रहण न करें। इसके पीछे भावना यह थी कि माता-पिता कम से कम समय तक उसके घर रहें, ताकि वे लड़की के पारिवारिक जीवन में ताक-झाँक, अनावश्यक सलाह-मशविरा न दें और न ही उसके पारिवारिक जीवन में छिद्रान्वेषण करें। इस निषेध को इस परिप्रेक्ष्य में समझना चाहिये कि माता-पिता का लड़की के प्रति इतना अधिक भावनात्मक लगाव होता है कि वे सोच ही नहीं सकते हैं कि लड़की उनके बगैर सुख से रह सकती है और ससुराल में उसका ध्यान उनसे अधिक नहीं तो उनके समान तो अवश्य ही रखा जाता होगा। अतः यह निषेध विवाहोपरान्त ससुराल पक्ष के साथ समायोजन की दृष्टि से उचित था तथा प्रकार्यात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। इसीलिए इस निषेध को सामाजिक मान्यता प्राप्त थी। हालाँकि अब अनेक कारणों से इस स्थिति में परिवर्तन हुआ है, परन्तु फिर भी यह सत्य है कि जिन परिवारों में कन्या के पारिवारिक जीवन में उसके माता-पिता का हस्तक्षेप अधिक रहता है, उन परिवारों में कलह का वातावरण रहता है और अनेक बार इसकी परिणति तलाक के रूप में होती है।

आधुनिकीकरण, पश्चिमीकरण और पाश्चात्य शिक्षा ने हमें तर्कपरक बना दिया है। तर्कपरकता बुरी नहीं है, परन्तु हर परम्परा को, उसकी व्यावहारिक उपयोगिता की उपेक्षा कर, तर्क की कसौटी पर कसना उचित नहीं है। परम्पराओं के यथार्थ में या उसकी गहराई में न जाकर अनर्गल तर्क देकर परम्पराओं का उपहास करना आजकल का चलन या यूँ कहें कि थोथी प्रगतिशीलता बन गई है। ऐसे तथाकथित प्रगतिशील महानुभाव समाज और संस्कृति का ही नहीं, स्वयं अपना भी बहुत नुकसान कर रहे हैं।

बुन्देलखण्ड की लोक देवियाँ

डॉ. सुधा गुप्ता

मातृदेवी की पूजा भारत में अति प्राचीनकाल से चली आ रही है, उसके चिह्न पुरातत्त्वविदों ने हड़प्पा सभ्यता में ढूँढ निकाले हैं। मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाईयों में मातृदेवी की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। यहाँ स्थापित शक्तिपीठ भी अत्यन्त प्राचीन माने जाते हैं। शक्तिपीठों के सम्बन्ध में पुराणों में एक कथा मिलती है, जिसके अनुसार दक्ष यज्ञ के बाद विष्णु के चक्र से सती का अंग-प्रत्यंग जहाँ-जहाँ गिरा था, वे सब स्थान देवीपीठ के नाम से विख्यात हुए।¹ देवीपीठों की संख्या के विषय में कई मत हैं। चतुष्पीठ तंत्र के अनुसार ये पीठ चार थे। कालिका पुराण में 26 पीठों का उल्लेख है। तंत्रचूड़ामणि में 51 और मत्स्य पुराण, पद्मपुराण, देवी भागवत में पीठों की संख्या 108 तक पहुँच गई है। खुदाई में प्राप्त मूर्तियों और शक्तिपीठों की सूची से यह स्पष्ट होता है कि देवी की उपासना प्राचीन होने के साथ ही हिंगुलाज से कामाक्षा तक और शारदा से सिंहल तक भारत के सभी भागों में प्रचलित थी, जो भारतीय जनमानस की मूल भावनात्मक एकता का प्रतीक रही है। समय के साथ-साथ भारत में देवी उपासना निरन्तर बढ़ती ही गई और देवी के नाम और रूपों में वृद्धि होती गई। देवी शक्ति थी, जो अपने पुरुष सहयोगी रूप का बल तथा पौरुष थी। ऐसी धारणा थी कि देव अकर्त्त एवं अतिश्रेष्ठ था, जबकि उसका नारीतत्त्व क्रियाशील तथा अन्तर्गूढ़ था। पौराणिक साहित्य के अन्तर्गत उसका रूप कहीं देव पत्नियों एवं अप्सराओं ने ग्रहण किया है, तो कहीं परावाक्, काली, दुर्गा, श्रद्धा, माया, सीता, सावित्री एवं अनुसूइया सदृश नारियों ने। इसी प्रकार दुर्गा, काली, ब्राह्मी, वाराही, कात्यायनी, रोहिणी, रौद्री, तारा, भैरवी, बगला, मांतगी आदि पंचदेवी, सप्त माता, नवदुर्गा, नव कन्यका, नवशक्ति दस महाविद्याओं की आराधना भी शक्ति उपासना के ही विविध रूप हैं। देवी माता का प्रधान रूप शिव की पत्नी का था, जिसे उसके परोपकारी पक्ष में पार्वती कहते हैं। अपने क्रूर रूप में वह दुर्गा के नाम से प्रसिद्ध हैं। काली, काले रूप वाली असितांग और चण्डी भयंकर युद्ध की देवी थी, अपने भयानक पक्ष में उसे बहुधा भयानक डहिन के रूप में चित्रित किया गया है, जिसकी सर्वदा अनेक भुजाएँ हैं और जिनमें वह विभिन्न शस्त्र धारण किये रहती है, गले में मानव मुण्डों की माला होती है।² जहाँ साधक एवं भक्त वैदिक-पौराणिक शक्तियों की उपासना शास्त्रोक्त विधि से करते हैं, वहीं भारत के विभिन्न क्षेत्रों में लोक परम्परा के अनुसार भगवती शक्ति के प्रतीक रूप में अनेक लोक देवियों की आराधना होती है।

भारत में प्रचलित इस देवी उपासना की धार्मिक पृष्ठभूमि में जब हम बुन्देलखण्ड क्षेत्र पर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि

यह क्षेत्र अत्यन्त प्राचीनकाल से शक्ति पूजा का प्रमुख केन्द्र और शैव-शाक्त मंत्र-तंत्र-सिद्धि में विश्वास रखने वाला जनपद रहा है। देवी भागवत में शक्तिपीठों का उल्लेख विन्ध्याचल और कालिंजर पर भी मिलता है। श्री दुर्गा सप्तशती के ग्यारहवें अध्याय में भगवती ने अपने सात अवतारों की कथा में विन्ध्याचल निवासिनी की कथा भी कही है।¹ यहाँ पुरातात्विक सर्वेक्षण में भी बौद्ध एवं गुप्तकालीन देवी प्रतिमाएँ और मातृकाओं की मूर्तियाँ तो काफी संख्या में प्राप्त हुई हैं। अनुसंधान होने पर इसका काल और भी पीछे जा सकता है। यहाँ प्राचीनकाल से ही ब्राह्मण, पुलिन्द, गौंड, भील, शबर आदि अनार्य-अशिक्षित जातियों का बाहुल्य रहा है। महाभारत आदि पुराणों में वैदिक युग से ही बुन्देलखण्ड में इन जातियों के निवासी होने के पर्याप्त साक्ष्य मिलते हैं। बुन्देलखण्ड का पठारी पर्वतीय प्रदेश अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण सदैव से शैक्षिक और आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा रहा है। अतएव अभावग्रस्त कठोर जीवन के कारण यहाँ के निवासियों में साहस, संघर्ष की प्रवृत्तियाँ और स्वभाव से अक्खड़पन आ गया, जिसने उन्हें शक्ति पूजक बना दिया।¹ यहाँ पर सबसे प्राचीनतम मठ और मन्दिर शिव और देवी के ही मिलते हैं।

अपनी कुछ आंचलिक विशिष्टताओं को छोड़कर बुन्देलखण्ड की शक्ति उपासना बहुत अंश तक भारत में प्रचलित शक्ति उपासना का ही प्रतिनिधित्व करती है। भारत के अन्य अंचलों की तरह बुन्देली लोक जीवन में भी अनेक देवियों की पूजा प्रचलित है। यहाँ गाँव-गाँव में देवियों के मठ हैं। प्रत्येक गाँव की एक स्थानीय देवी होती है, जिसे गंडे की देवी कहते हैं। इस देवी को किसी पूज्य वृक्ष के नीचे स्थापित कर दिया जाता है। सभी हिन्दू वेद, पुराणों, तंत्र ग्रन्थों में वर्णित देवी-देवताओं को मानते हैं, किन्तु लोकजीवन में उनका रूप बदलकर लौकिक हो गया है। बुन्देली लोक ने शास्त्रोक्त पद्धतियों को अपने अनुरूप ढालकर उन्हें सरल, सहज और लोकोपयोगी बना लिया है और वे लोक मुख में बुन्देली नाम पाकर उनकी अपनी मौलिक सी लौकिक देवियाँ बन गई हैं। बुन्देली परिवारों में विभिन्न पूजाओं पर जो भित्तिचित्र बनाये जाते हैं, खूँट निकाले जाते हैं, चौक पूरे जाते हैं - उनमें शास्त्रोक्त पद्धति के तंत्र-मंत्र चक्र घुले-मिले मिलते हैं, जो लोक में आज विस्मृत हो चुके हैं। उदाहरणतः दीपावली पर बनाई जाने वाली सुराती सोलह खण्ड की होती है। देवी का आवाहन करने के लिए शास्त्रों में सोलह खण्ड का एक मंत्र है। हिन्दू धर्म की मान्यता के अनुसार कोई भी देवी-देवता मंत्र के आवाहन करने पर ही आते हैं। इसी प्रकार लक्ष्मी पूजन में पन्द्रही बनती है। पन्द्रही में कहीं से भी जोड़ें

पन्द्रह का ही जोड़ होता है। इसमें भी सुख, समृद्धि, लाभ का ही मंत्र है।

बीजासेन माई

बुन्देलखण्ड में अनेक लोक देवियों की पूजा प्रचलित है और सभी का अपना विशिष्ट महत्त्व भी है, किन्तु अन्य देवियों की अपेक्षा में बीजासेन मइया हमारी प्रमुख विवेच्य हैं। इसका कारण यह भी है कि यह देवी जितनी जिज्ञासा उत्पन्न करती है, इसके नाम एवं व्युत्पत्ति के बारे में जितने मत-मतान्तर अनुश्रुतियाँ मिलती हैं, उतनी किसी अन्य देवी के सम्बन्ध में नहीं।

बीजासेन माई की पूजा को बुन्देली महिलाएँ 'पाटा भरना' कहती हैं। इनके पूजन में उरैन घर के भीतर ही डाला जाता है। बीजासेन का पाटा वर्ष में एक बार या तीसरे साल सोमवार या शुक्रवार को बीजासेन की मड़िया पर जाकर भरा जाता है और फिर घर आकर सुहागनें जिमाई जाती हैं। विवाह और पुत्रजन्म पर इनकी पूजा अनिवार्य होती है। जिनके यहाँ बीजासेन पूजती हैं, उनके यहाँ चढ़ावे के साथ बीजासेन की तबिजिया चढ़ाना आवश्यक होती है। यह एक प्रकार का यंत्रात्मक स्वरूप है। इसमें स्वर्ण या चाँदी के पत्ते पर सात या नौ पुत्तलिकाएँ अंकित की जाती हैं, जिसमें मुखाकृति की प्रतीक गोल बिन्दुओं के साथ सीधी-खड़ी लकीरें बनी रहती हैं। विवाह के समय पूजन कर यह यंत्र ताबीज की तरह स्त्रियाँ आजीवन अपने गले में धारण करती हैं। लोक विश्वास है कि जो स्त्रियाँ अपनी यह पुतरिया उतारकर रख देती हैं, उनके यहाँ कुछ न कुछ विपदा आती है। इस पूजा में चूने से पुती दीवार पर हल्दी अथवा घी में सिन्दूर से नौ टिपकियाँ रखी जाती हैं। इन टिपकियों के ऊपर एक पुतरिया बनाई जाती है, जो बीजासेन देवी होती है। उसी के नीचे गोबर से लीपकर आटे का चौक पूरकर और पटा रखकर सवा गज का लाल कपड़ा बिछाया जाता है, जिस पर नौ चौक पूरे जाते हैं। उन पर चार-चार पूड़ी और उन पर मलींदा (पूड़ी का चूरा कर बनाया गया हलुवा) रखकर के नौ खूँट (कोरा) रखे जाते हैं, उस पर नौ प्रकार की नौ-नौ वस्तुएँ रखी जाती हैं - पान के ऊपर नौ हल्दी की गाँठ, नौ साबुत सुपाड़ी, नौ नारियल के टुकड़े, नौ चिरौंजी, नौ दाख, नौ मखाने, नौ लौंग, नौ इलायची, नौ डोंडा। इसमें नौ सुहागिनें जिमाई जाती हैं। पूड़ी और लपसी के लिए सवा सेर आटा लिया जाता है। किन्तु विवाह और जन्म पर दोहरा पाटा भरा जाता है, तब नौ के स्थान पर अठारह खूँट रखे जाते हैं और अठारह सुहागनें जिमाई जाती हैं। सभी सुहागिनें और घर की बहुएँ-बेटियाँ अपनी-अपनी बीजासेन

की पुतरिया गले से उतारकर धोकर पूजने के लिए उसी पटा पर रख देती हैं।

पाटा बीजासेन के मन्दिर में पुजारी द्वारा भरा जाता है। जिनके घर में पूजा होती है, उनके यहाँ घर की जेठी बड़ी महिला मैर के कोठे में सबसे पहले दीवाल पर बनी पुतरिया को महावर लगाती है, फिर छोटी बहुएँ सुहागिनों को महावर लगाती हैं। घर की जेठी बीजासेन की पुतरिया पर जल चढ़ाकर हल्दी, रोरी, अक्षत और फूल चढ़ाती हैं, बैसाँदुर लाकर घी और धूप से होम करती हैं, अगरबत्ती और आरती जलाकर ताबीजों की पूजा करती हैं। नौ कोरों को पूजती हैं। आरती कर निम्न गीत गाती हैं—

‘सुहागिल रानी मोरे महल होकेँ जइयो’
सुहागिल रानी सेंदूर तो घरैइ धरे हैं।
सुहागिल रानी माँग भराये घरै जइयो ॥
सुहागिल रानी बूँदा तो घरैइ धरे हैं।
सुहागिल रानी बूँदा लगाये घरै जइयो ॥
सुहागिल रानी बीरा तौ घरैइ धरे हैं।
सुहागिल रानी बीरा रचाय घरै जयौ ॥
सुहागिल रानी जोरौ तो घरैइ धरौ है।
सुहागिल रानी जोरौ पैर घरै जइयो ॥
सुहागिल रानी चुरियाँ तो घरैइ धरी है।
सुहागिल रानी चुरिया पैर घरै जइयो ॥
सुहागिल रानी माँदी तौ घरैइ धरी है।
सुहागिल रानी माँदी रचाय घरै जइयो ॥
सुहागिल रानी माहुर तो घरैइ धरौ है।
सुहागिल रानी माहुर रचाय घरै जइयो ॥
सुहागिल रानी बिछिया तौ घरैइ धरे हैं।
सुहागिल रानी बिछिया पैर घरै जइयो ॥

फिर सभी महिलाएँ श्रद्धा से बीजासेन मैया को सिर रखकर पैर छूती हैं। उसके बाद पूजा करने वाली जेठी महिला उनको टीका करके माँग में सिन्दूर भरकर बूँदा, चूड़ी और एक-एक कोरा देती है। सुहागिनें यह कोरा अपनी साड़ी के आँचल में लेती हैं और पूजा करने वाली जेठी के और घर की सभी बड़ी-बूढ़ियों के पैर छूती हैं। तत्पश्चात् आमंत्रित सुहागिनें भोजन कर अपने-अपने कोरे लेकर घर चली जाती हैं, जिसमें प्रसाद-स्वरूप वितरित किया जाने वाला ‘कोरा’ केवल उन्हीं को दिया जाता है, जिनके यहाँ बीजासेन की मान्यता होती है। यह प्रसाद घर के लड़कों को ही दिया जाता है। कुँआरी लड़कियों को नहीं देते हैं और न ही वे

पूजा देखती हैं और न ही उन्हें आरती और दिये की जोत देखने दी जाती है। किन्तु पिछोर, बामोर कलां आदि गाँवों में बीजासेन के प्रसाद की बड़ी ही मान्यता है। यहाँ पर पुजारी के पाटा भर दिये जाने के बाद मन्दिर में ही सभी आमंत्रित नाते-रिश्तेदारों को भोजन कराया जाता है और वहाँ उपस्थित सभी स्त्री-पुरुषों, बालकों को मलीदे का प्रसाद दिया जाता है। इन गाँवों में बीजासेन के प्रसाद का बड़ा ही महत्त्व है। मालूम पड़ जाने पर कि मन्दिर में किसी का पाटा भर रहा है, बिना आमंत्रित किए हुए भी प्रसाद लेने लोग आ जाते हैं।^१ फिर ये तो है ही कि विवाह हो जाने पर जिन लड़कियों की ससुराल में बीजासेन नहीं होती है, वे अपने मायके में आकर पाटा भरती हैं।

बीजासेन के नाम-रूप के बारे में जैसा कि पूर्व में कहा गया है, बुन्देली लोक में अनेक मत-मतान्तर मिलते हैं। लोक संस्कृति के समुत्सुक पाठकों के लिए इनका विवेचन यहाँ अभीष्ट लगता है।

डॉ. श्यामसुन्दर निगम विन्ध्यवासिनी को बीजासेन का रूप मानते हैं। हेमलता मिश्रा का भी यही मत है। उनका कहना है कि विन्ध्यवासिनी से विन्ध्यासिनी और विन्ध्यासन होता हुआ बीजासेन बन गया। दूसरा हेमलता जी का कहना है कि ब्राह्मणों की देवी होने के कारण प्राचीनकाल में इसे केवल पिछड़ी जातियाँ ही पूजती रही होंगी, परन्तु हेमकरण (पंचम) द्वारा पूजन के अनन्तर सवर्णों में भी बीजासेन की पूजा होने लगी। ‘पहली बात के भाषाई परिवर्तनगत पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं, किन्तु दूसरे कथन के सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में मातृदेवी के पूजक अनार्य ही थे। वैदिककाल में आर्यों ने उन्हीं से मातृदेवी की आराधना करना सीखा था। इसलिए यह कहना कि हेमकरण के पूर्व सवर्णों में बीजासेन की पूजा नहीं होती थी, वैचारिक और ऐतिहासिक कसौटी पर खरी नहीं उतरती।

मुरली मनोहर सिंह राय बीजासेन देवी को खंगारों की रणदेवी मानते हैं। उनके अनुसार इनकी आराधना खंगारों ने ही शुरू की थी। खंगार काल में जब भी सैनिक कहीं चढ़ाई पर जाते थे, तो पहले बीजासेन देवी की ही पूजा करके जाते थे। विवाह में पाणिग्रहण के अवसर पर कन्याओं को बीजासेन देवी की पुतरिया का ताबीज अवश्य ही धारण करवाया जाता है। इसका अर्थ यह होता है कि इस कन्या के जो पुत्र होगा, वह सैनिक बनकर देश की रक्षा का भार उठायेगा।^१

उपरोक्त कथन के सन्दर्भ में जब हम खंगारों के इतिहास को देखते हैं तो ज्ञात होता है कि खंगार शक्ति उपासक और आयुधजीवी सैनिक जाति रही है। वे पूरी तरह सैनिक व योद्धा थे।⁸ अतएव खंगार स्त्री-पुरुषों का वीर योद्धा सैनिक पुत्र की कामना करना और युद्ध में जाने के पूर्व देवी की आराधना करना स्वाभाविक ही था। 'पुराणों तथा इतिहास के अनेकशः ग्रन्थों में भी अनेक स्थानों पर ऐसे प्रसंग आये हैं, जिनमें शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए दुर्गा पूजा या काली की उपासना-आराधना की कई आध्यात्मिक कथाएँ हैं। राम द्वारा शक्ति की पूजा सुविदित है।

महाभारत युद्ध के पहले भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से दुर्गा की पूजा करवाई। मराठे और राजपूत भी युद्ध में विजय पाने के लिए युद्धभूमि में जाने के पहले देवी की उपासना कर लेते थे। यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि बीजासेन को ब्राह्मणों की देवी कहा गया है और खंगारों को भी पिछड़े वर्ग का ही माना जाता है। बुन्देलखण्ड में खंगारों की सामाजिक स्थिति कोई विशेष श्रेष्ठत्व लिए हुए नहीं है।⁹ इतिहासकार टाड ने इनका स्थान आदिवासियों में निर्धारित किया है। अतएव यह तो माना जा सकता है कि ब्राह्मणों में पूर्व से चली आ रही बीजासेन देवी की पूजा को खंगारों ने अपने राज्यकाल में प्रोत्साहित किया हो। प्रचारित करने के लिए बीजासेन मईया की गाँव-गाँव में स्थापना कराई हो। इतिहास में अशोक आदि राजाओं के द्वारा अपने धार्मिक मतों का प्रचार करने के कई उदाहरण मिलते हैं। किन्तु खंगारों (1193 ई.) से पूर्व यहाँ बीजासेन देवी की पूजा नहीं होती थी। आचार्य दुर्गाचरण शुक्ल इस कथन से सहमत नहीं हैं, जो ठीक लगता है।¹⁰

मालवा के दशपुर अंचल में लोक देवियों में एक लोकदेवी बीजासनी भी है। आचार्य दुर्गाचरण शुक्ल का मानना है कि बुन्देली बीजासेन इसी का एक रूप है। उनके अनुसार बीजासनी का अर्थ बीजों के आसन पर बैठने वाली होती है। नौ बिन्दु, नौ खूँट और नौ चौक वाली बीजासनी माता वास्तव में नवबिन्दुमयी, नवकूटमयी, नव बीजाधिष्ठाता श्री-श्री विद्या का सरलतम रूप है, जिसके बीज ऋग्वेद में हैं।¹¹

हमारे पुरोहित मिर्चू महाराज का मानना है कि बीजासेन में अंकित नौ पुतरियों नौ दुर्गाओं की प्रतीक हैं। बीजासेनी यंत्र में इन सभी देवियों का बीज मंत्र द्वारा आवाहन कर ताबीज में आसन देकर स्थित कर दिया जाता है। ताबीज में इनका आसन होने के कारण ही इनका नाम बीजासन पड़ा, जो लोकमुख में बीजासेन हो गया है।

महेशचन्द्र गुप्त का अनुमान है कि सेना सहित रक्तबीज का वध करने के कारण ही इनका नाम बीजासेन पड़ा। दुर्गा सप्तशती अष्टम् अध्याय के अनुसार दुर्गा ने सात महाशक्तियों एवं काली सहित मिलकर रक्तबीज का वध किया था। इन्हीं शक्तियों का प्रतीकात्मक पूजन बीजासेनी यंत्र के द्वारा किया जाता है।¹²

देवियों की इसी लोकयात्रा में झाँसी के बीजासेन मन्दिर पर मेरा सम्पर्क देवी उपासक श्री छैलबिहारीजी त्रिपाठी से हुआ। त्रिपाठीजी से जब मैंने अपनी जिज्ञासा प्रकट की, तो उन्होंने बताया कि मध्यप्रदेश सरकार में अपनी नौकरी के दौरान मुझे एक साधु ने बताया था कि महाभारत के युद्ध के समय जब अभिमन्यु मारा गया, तब उसकी पत्नी उत्तरा के गर्भ में पल रहे पाण्डवों के बीज वंश की रक्षा हेतु कृष्ण ने अर्जुन से माँ बीजाशयनी देवी की पूजा करवाई थी। और यही कारण था कि अश्वस्थामा के उत्तरा के गर्भ पर ब्रह्मास्त्र छोड़ने पर भी उत्तरा का गर्भ गिरा नहीं। माँ देवी उस बीज की रक्षा करती हुई उसे सेती रहीं। यही बीजाशयनी बुन्देली लोक में बीजासेन के नाम से पूजित हैं।

इनका सम्बन्ध बौद्ध देवता वज्रासन से भी जोड़ा जाता है। श्री हरिनारायण विद्रोहीजी की सूचना के अनुसार वज्रसेन का लोकमुख में बीजासेन हो गया और ये वज्रसेन ही बुन्देली लोक में बीजासेन देवी में रूपान्तरित होकर पूजित हैं।

बीजासेन का सम्बन्ध देवता वज्रासन से जोड़ना प्रथम दृष्टया अविश्वसनीय तथा मनगढ़न्त लगता है। इसमें पहली आपत्ति तो यही है कि बीजासेन देवी है और वज्रासन हैं देवता। देवता (पुरुष) का देवी (स्त्री) बन जाना, गले से नहीं ही उतरता है। दूसरी आपत्ति यह है कि पूजा पद्धति बौद्धमत के अनुकूल नहीं है। पर विचार करने पर अनुश्रुति से दो तथ्य उभरकर आते हैं- एक तो यह कि मौखिक परम्परा के चलते लोक में सब कुछ सम्भव है। बुन्देलखण्ड में ही देवी-देवताओं के सम्बन्ध में ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं, जो कहीं देवता के रूप में पूजे जाते हैं तो कहीं वे देवी स्वरूप हैं, जैसे- रक्कस। रक्कस को रक्षक देवता और रक्षिका देवी दोनों ही रूपों में पूजा जाता है। कहीं इन्हें देवता माना गया है, तो कहीं देवी मईया। दूसरा यह कि हीनयान मत में बुद्ध के प्रतीकों की पूजा होती रही है, उनमें वज्रासन भी था। साँची के पूर्व तोरण पर प्रदर्शित उरूवेला (बोधगया के समीप) ग्राम का चित्र है। जातक कथा के अनुसार देवगण उरूवेला नामक स्थान पर भगवान बुद्ध का दर्शन करने गये हैं। बीच में वज्रासन है तथा देव हाथ जोड़े खड़े हैं। तंत्रवाद ने ब्राह्मण और बौद्ध धर्म को एक दूसरे

के निकट ला दिया था।¹³ हिन्दू तंत्रोक्त शिव, दुर्गा आदि के नाम वज्रासन, वज्रडाकिनी आदि नामों में रूपान्तरित हैं। बौद्धों की वज्रवाराही देवी प्रायः ब्राह्मणों की वाराही अथवा दण्डिनी के साथ मिलती-जुलती है। उपासना क्रम भी लगभग एक-सा है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि सम्राट अशोक की धम्म यात्राओं के परिणामस्वरूप विदिशा, होशंगाबाद, उज्जैन और उससे लगा बुन्देलखण्ड क्षेत्र बौद्धधर्म के प्रभाव में आ गया था।¹⁴ उज्जैन तो अशोक साम्राज्य की पश्चिमी प्रदेश की राजधानी ही थी। अतः असम्भव नहीं है कि वज्रयान मत में बौद्धों की देवी वज्रवाराही वज्रासन की शक्ति होकर लोकमुख में वज्रसेनी होती हुई बीजासेन बन गई हो अथवा वज्रडाकिनी (दुर्गा नाम का रूपान्तर) वज्रसेनी से बीजासेन हो गई हो।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रायः यह माना जाता है कि बीजासेन देवी की पूजा का प्रचलन पूरे बुन्देलखण्ड में है, जो ठीक नहीं है। बीजासेन देवी की मान्यता बुन्देलखण्ड के झाँसी-दतिया जिलों, विशेषतया ओरछा की अष्टमैया कही जाने वाली जागीरों एवं बुन्देलखण्ड से लगे मालवा के बौद्ध धर्म से प्रभावित क्षेत्रों में ही है। अन्य राजस्थान¹⁵ आदि स्थानों पर इन्हीं क्षेत्रों से गये निवासियों के द्वारा बीजासेन की पूजा मिलती है।

झाँसी के कवि अवधेश का कहना है कि बीजासेन मईया का पूजन वनदेवी के रूप में प्रारम्भ हुआ था। बुन्देलखण्ड में पाये जाने वाले बीजा नाम के वृक्ष से इनका नामकरण बीजासेन पड़ा।

जो कुछ भी हो, लेकिन उपर्युक्त धारणाओं के आधार पर बीजासेन के नाम-रूप के बारे में किसी एक सर्वमान्य निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता। धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक विकास की यात्रा में अपने मूल उत्स से निकलकर किस देवी ने किस धर्म में, किस सम्प्रदाय में, किस अंचल में प्रवेश कर क्या-क्या मोड़ और रूप लिये? उनमें कैसे-कैसे अविश्वसनीय से परिवर्तन हुए, और कब किस स्थान पर किस कामना से नई देवी का प्रादुर्भाव हो गया? कब ब्राह्मणों-शूद्रों की देवी सवर्णों में भी पूजनीय होकर उनकी भी बन गई? आज सुनिश्चित रूप से यह सब बता पाना असम्भव नहीं तो मुश्किल तो है ही।

पर हिन्दू धर्म के अनुसार यह सुनिश्चित है कि सभी देवियाँ तत्त्वतः एक ही हैं, वे सभी उसी एक पराशक्ति श्री विद्या भगवती के विभिन्न रूप हैं। केवल उपासकों की दृष्टि भेद से ही इनके नाम और रूपों में भेद पाया जाता है। शास्त्रों की यह मान्यता बुन्देली लोक की बीजासेन देवी में भी दृष्टव्य है।

अतः विन्ध्यवासिनी देवी भी वही हैं, खंगारों की रणदेवी भी वही हैं, रक्तबीज का वध अर्थात् मानव के आत्मिक विकास हेतु उसकी तामसी वृत्तियों का संहार करने वाली भी वही हैं, जीवन बीज को सेने वाली, उसकी रक्षा करने वाली भी वही है, आवश्यकता पड़ने पर वज्र के समान कठोर और दृढ़निश्चयी बनाने वाली भी वही हैं और फिर वह बीज रूप में सम्पूर्ण सृष्टि के मूल उपादानों को सँजोये हुए सृष्टि का उद्भव, पालन-संहार, अनुग्रह और निग्रह करने वाली तो हैं ही। फिर चाहे कहीं से उसने अपना नाम ग्रहण किया हो। रक्तबीज का वध करने के कारण उसका नाम बीजासेन पड़ा हो या विन्ध्यवासिनी अथवा बीजाशयनी का बीजासेन हो गया हो। चाहे उसे हम बीजासनी कहें या बीजासन।

लेकिन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में हम यह जरूर कहना चाहेंगे कि बीजासेन में अंकित नौ देवियों की नौ शक्तियों को उन प्रतीकों के रूप में लिया जा सकता है, जो स्त्री में उसके सुखी दाम्पत्य जीवन, परिवार के कुशल संचालन, संतान के पालन-पोषण तथा उसकी भौतिक उन्नति के साथ ही आत्मिक-अध्यात्मिक विकास और रक्षा हेतु होना आवश्यक है, जैसे सृष्टि की धुरी आदिशक्ति है, घर की धुरी स्त्री है। माँ, पत्नी, बेटा, गृहिणी की अपनी अनेक भूमिकाओं में देवी माँ से प्रेरणा लेते हुए स्त्री परिवार व समाज के प्रति अपने अनेक दायित्वों का बखूबी निर्वाह कर सकती है। माँ के अष्टभुजी रूप से स्त्री सशक्त बहुआयामी व्यक्तित्व की प्रेरणा ले सकती है। हिन्दू संस्कृति में विवाह कामवासना की तुच्छ प्रक्रिया मात्र नहीं है। अपितु वह कतिपय कर्तव्यों की पूर्ति के लिए एक सांसारिक विधि है। रक्तबीज काम है, इच्छा है। इच्छाएँ अनन्त हैं। विषय-वासनाओं पर विजय पाना कठिन है। देवी द्वारा बीजरक्त के वध की भाँति वे अपनी विषय-वासनाओं को विजित कर संयमित और परिष्कृत रतिसुख के साथ समाज और देश कल्याण के लिए अपने व्यक्तिगत आनन्द और सुख की आहुति देने का संकल्प ले सकती हैं।

देवी माँ का दिव्य रूप आराध्य तो है ही, साथ ही मानव जीवन को उन्नत बनाने के लिए स्त्रियों के लिए आदर्श भी है। इसीलिए विवाह जैसे महायज्ञ के अवसर पर बीजासेनी ताबीज में इन नौ देवियों का आवाहन कर उन्हें ताबीज में 'स्थित कर' दिया जाता है और उनका पूजन कर नववधू के गले में पहिना देते हैं, ताकि ये शक्तियाँ समय-समय पर उसमें संचरित होती रहें, जिससे वह अपने पुरुष की शक्ति बन अपने सभी तरह के कर्तव्यों का निर्वाह करती हुई धर्म के साथ परिवार का कुशल संचालन कर

सके। सम्भवतः इसीलिए स्त्रियों को बीजासेन की पुतरिया सदैव ही गले में धारण करना आवश्यक होता है।

महिलाएँ बीजासेन देवी के इन नाम-रूपों, कारणों, धार्मिक-सामाजिक सन्दर्भों की गहराईयों, तात्त्विक विवेचनों के पचड़ों में न पड़कर परम्पराओं को निभाती हुई अपने और अपने परिवार की सुख-समृद्धि के लिए बड़े ही भक्तिभाव से माई की पूजा-अर्चना करती हैं और उलझ जाती हैं, फिर अपने रोजमर्रा के कामों में। इसीलिए प्रभावहीन हो जाता है उनका भक्तिभाव।

बीजासेन के अतिरिक्त अन्य अनेक लोक देवियाँ हैं जिनकी शान्ति, सौभाग्य, रोगों, आपत्तियों आदि से रक्षा हेतु विभिन्न अवसरों पर पूजा होती है। इन पर अलग से शोध किये जाने की आवश्यकता है। बुन्देलखण्ड में जो देवियाँ पूजी जाती हैं, उनका सम्बन्ध विभिन्न कालों, जातियों, वर्गों, संस्कृतियों से है। पर ये देवियाँ किसी भी जाति वर्ग धर्म की हों, बुन्देली लोक मानस में इन सभी के लिए समान आदर व श्रद्धा की भावना पाई जाती है। जहाँ समाज का उच्चवर्ग, निम्नवर्ग को हीन दृष्टि से देखता रहा है, वहीं निम्नवर्ग के देवी-देवता उच्चवर्ग के द्वारा समादृत होते रहे हैं। कुछ देवी-देवता तो जनजीवन में ऐसे घुल-मिल गये हैं कि यह मालूम करना ही मुश्किल है कि ये किस जाति वर्ग विशेष के हैं। परिवार में महिलाओं द्वारा की जाने वाली सभी पूजाएँ एक साथ सामूहिक रूप से की जाती हैं। इन देवी-देवताओं की पूजन विधि में भी ऐसी वस्तुओं को लिया जाता है, जो समाज के सभी वर्गों के लिए सहज सुलभ हो। कहना न होगा कि इन देवी-देवताओं की आराधना में जाति-पाँति, वर्ग भेद से परे पूरा बुन्देली लोक एक धरातल पर आ जाता है, जो भारतीय संस्कृति को उदात्त बनाता है। जनमानस को एकता के सूत्र में बाँधता है। यहाँ इनमें से कुछ देवियों का संक्षिप्त सामान्य विवरण शहर और गाँवों की विभिन्न समुदायों में होने वाली पूजाओं के सर्वेक्षण के आधार पर दिया जा रहा है, ताकि लोकदेवियों की आराधना में बुन्देली मनोभूमि को समझा जा सके।¹⁶

माय पूजा : माय पूजा साल में तीन बार होती है। चैत्र और कार्तिक माह की नवरात्रि पर नौमी के दिन एवं दीपावली पर, इसे माय भरना कहते हैं। स्त्रियाँ किसी भीत पर या कोरे कपड़े पर पुतरियों के मुँह बनाकर इनकी पूजा करती हैं। शास्त्रों में गौर्यादि षोडशमात्रिका और सप्तधृत मातृका का उल्लेख आता है। माय पूजा मातृका पूजन ही है। इनमें कुलदेवी का आवाहन किया जाता है। मांगलिक अवसर पर कल्याण प्राप्ति और कार्य की निर्विघ्न सम्पन्नता

के लिए कहीं गोबर तो कहीं मिट्टी अथवा शक्कर की पुतलियाँ बनाकर उसकी प्रतिष्ठा की जाती है। विवाह के अवसर पर यह पूजा अनिवार्य होती है। विवाह कार्य सम्पन्न हो जाने पर गौरइयाँ होती हैं, जिसमें सुहागिनों की पूजा के साथ गौरी या मातृकाओं का विसर्जन किया जाता है। इसका प्रसाद स्वरूप कोरा सगे-सम्बन्धियों व कुटुम्बियों को ही दिया जाता है। कुटुम्ब के सदस्य वे कहीं भी रहते हों, आकर इस पूजा को एक साथ करते हैं। इस प्रकार इस पूजा के बहाने परिवार में सामंजस्य व जुड़ाव बना रहता है। वर्तमान समय में जब संयुक्त परिवारों का विघटन हो रहा है, इन पूजाओं का महत्त्व और बढ़ जाता है।

षष्ठी देवी : लोक में यह पूजा छठी नाम से जानी जाती है। शिशु जन्म के छठवें दिन यह पूजा महिलाएँ ही करती हैं। इसमें दीवाल पर गेरू से एक पुतरिया बनाकर पंचोपचार पूजा कर गुड़ आदि का भोग लगाया जाता है। पौराणिक मान्यता के अनुसार यह बाल रक्षक मातृका एवं सिद्ध योगिनी है, जो सदा बालकों की रक्षा करती हैं। तंत्र शास्त्रानुसार मृत वन्ध्या आदि दोषों की शान्ति एवं बालकों के विविध कष्टों की निवृत्ति के लिए इनकी उपासना फलप्रद है।

वैमाता : संस्कार एवं भाग्य शक्ति मातृका हैं। बुन्देलखण्ड में प्रसव पीड़ा के समय घर की बुजुर्ग महिलाएँ कुलदेव, इष्टदेवी को मनाने के साथ ही वैमाता मैया की मनौती मानती हैं। इस पूजा में चलनी में जौ भर दिया जाता है और आड़ा-काड़ा एक प्रकार का यंत्र किया जाता है, फिर बालक के जन्म लेने के उपरान्त छठी की रात को छठी के सामने अनार की कलम रख दी जाती है, जिससे वैमाता मैया बच्चे का भाग्य लिख सकें और रात्रि जागरण करते हुए वैमाता के गीत गाये जाते हैं। एक गीत निम्नवत है-

मेरो नगर इन्दर पुर गाँव वैमाता है मेरो नाव।

जूरी को बाँधो संयोग करनी करै सो पावै

मो लेखनी ने असुर संहारे पाँचो पंडहि जारे वारे

मो लेखनी तें खाहर कौन चार लाख चौरासी जौन

शोर में जब नवजात शिशु हँसता-मुस्कराता है, तो बड़े बुजुर्ग ऐसा कहते हैं कि- देखो वैमाता कैसी खिलखिला रही हैं, उनका यह मानना है कि वैमाता ही उसे हँसाने वाली हैं। वही उसे रूलाने वाली है, क्योंकि वे ही तो उसके सुख-दुःख का निर्धारण करने वाली उसका भाग्य लिखने वाली होती हैं।

दशारानी : यह पूजा बुन्देलखण्ड में अपने मौलिक रूप से

होती है। इसमें तिथि और मास का कोई विचार नहीं है। दशारानी की पूजा से धनधान्य की वृद्धि होती है, ऐसी लोक मानस में आस्था है। दशारानी की उपासना का प्रारम्भ 'सूत के गड़े' द्वारा होता है। गड़ा लेने की भी एक विधि है- जब किसी गाय, घोड़ी अथवा स्त्री के पहला बच्चा होता है अथवा तुलसी के पौधे में जब प्रथम मंजरी निकले, तब गड़ा लिया जाता है। स्त्री के गड़ा लेने में एक और प्रतिबन्ध है। उस स्त्री का गर्भ किसी तंत्र-मंत्र या अन्य साधन द्वारा न रहा हो। गड़ा दस सूत्र का बनाया जाता है। नौ सूत्र धागे के और एक सूत्र जो गड़ा लेने वाली स्त्री होती है, उसके आँचल (साड़ी का दाहिना छोर) के धागे का होता है। जितनी स्त्रियाँ गड़ा लेती हैं, वे सब उस दिन से एकत्रित होकर दशारानी की कहानियाँ कहती हैं। दसवें दिन अपने-अपने घर पर गड़ा का पूजन करती हैं। पूजन के दिन उपवास करती हैं। घर को गाय के गोबर से लीप-पोत कर स्वच्छ करती हैं, भोग के लिए दस फरा बनाती हैं (पानी में उबली हुई पूड़ी)। चौक पूरकर एक पटे पर चन्दन की दस पुतरियाँ बनाती हैं अथवा मिट्टी की दस डेलियाँ रखकर उनकी हरदी अक्षत से पूजा करती हैं। गड़ा को दूध में धोकर पटा पर रखकर हल्दी अक्षत से पूजती हैं। पूजन समाप्त होने पर परिवार की वृद्धा महिला दशारानी की कथा-कहानी कहती है। दस दिन अलग-अलग तरह की दस कहानियाँ कही जाती हैं। एक कथा निम्नवत है-

*वर पै चढ़ीं दसारानी। वर सें उतरी पीपर पै चढ़ीं मोरी दसारानी।
धन धान्य देय मोरी दसारानी। जै होवै दसारानी।*

इसकी पूजा की सामग्री कुँए में सिराई जाती है। जैसा कि स्पष्ट है इस पूजा का सम्बन्ध शिशु जन्म से है। शिशु के जन्म के बाद पहले दस दिन पहली बार गर्भधारण करने वाली स्त्री एवं नवजात शिशु दोनों ही स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत नाजुक होते हैं। चूँकि स्त्री पहली बार गर्भधारण करती है, इसलिए और भी चिन्ता रहती है। जच्चा-बच्चा के ये दस दिन ठीक से निकल जायें, इसके लिए दस सूत्रों का गण्डा लेकर दशारानी से मनौती मानी जाती है। गण्डे के दस सूत्र दस दिन के प्रतीक हैं। दसवें दिन दशारानी की पूजा कर पूजन सामग्री कुँए में विसर्जित कर यह प्रार्थना करती हैं कि कुँए की भाँति ही जच्चा के स्तनों से अपने बच्चे के लिए दूध की झिर कभी खत्म न हो और दोनों ही धनधान्य से आपूरित रहें। जनजीवन में गाय, घोड़ी, तुलसी की उपयोगिता विदित ही है, अतः ऐसी कामना इनके लिए भी की जाती है। पर लोक में इस पूजा का मूल उद्देश्य विस्मृत हो गया है और स्त्रियाँ अपनी किसी

भी वांछित कामना की पूर्ति हेतु दशारानी का गण्डा लेती हैं। उनकी पूजा करती हैं।

गनगौर : गनगौर पार्वती की पूजा है। यह चैत्र शुक्ल तृतीया को होती है। यह व्रत सुहागवती स्त्रियाँ अपने अखण्ड सुहाग की कामना से करती हैं। ऐसा माना जाता है कि इस दिन भगवान शिव ने पार्वती को तथा पार्वतीजी ने समस्त स्त्री समाज को सुहागवती रहने का वरदान दिया था। पूजा के लिए कुम्हार से मिट्टी की गनगौर लाती हैं। चन्दन, हल्दी, रोरी से पूजा कर गौरी को सुहाग की वस्तुएँ क्रमशः काँच की चूड़ियाँ, सिन्दूर, महावर मेहंदी, टीका, बिन्दी, काजल आदि चढ़ाई जाती है। फूलों में टेसू का फूल चढ़ाना अनिवार्य होता है। फिर भोग लगाने के बाद गौरी की कथा कही जाती है। कथा के बाद गौरी पर चढ़ाये सिन्दूर को स्त्रियाँ अपनी माँग में भरती हैं। गनगौर के प्रसाद में फरा (पानी में उबाली आटे की कुचइया) बनाये जाते हैं। पूजा कर भोजन में फरा ही खाते हैं। पनवारे में भी फरे दिये जाते हैं। गनगौर की पूजा नौ देवी की तीज को होती है। नवदुर्गा में बुन्देलखण्ड में चूल्हे पर कड़ाही नहीं चढ़ाई जाती है, इसीलिए पपरिया आदि पकवान नहीं बनाये जाते हैं। गनगौर को फरा मिलने की विवशता निम्न पंक्तियों में दृष्ट्य है-

अकती की बनी चकती गनगौर के फरा।

गनगौर बिचारी का करै पानी के फरा।

इसका प्रसाद पुरुषों को देना वर्जित है। इस सम्बन्ध में बुन्देलखण्ड में निम्न उक्ति प्रचलित है-

गनगौर के गनगौरा मान्स खों न देओ एकउ कौरा।

महालक्ष्मी देवी : पितृपक्ष में आश्विन कृष्णपक्ष माह की अष्टमी को महालक्ष्मी देवी का पूजन होता है। इस पूजा व्रत को सुहागवती स्त्रियाँ अखण्ड सुहाग, धन धान्य, सुख-समृद्धि की कामना से करती हैं। इसकी पूजा में गड़ा लिया जाता है, जिसमें सोलह गाँठें होती हैं। भाद्र शुक्ल अष्टमी से इस अनुष्ठान का आरम्भ होता है। इस दिन स्त्रियाँ पास के नदी या तालाब पर नहाने जाती हैं। अपने सिर पर चालीस लोटे पानी डालती हैं और दूब सहित सोलह अंजलि से सूर्य को अर्घ्य देती हैं - इसे सोरा ढारना कहते हैं। घर आकर पंडित से गड़ा लेती हैं। इस गड़े की नित्य पूजा होती है। आश्विन कृष्ण अष्टमी को महापूजा होती है। इस दिन भी सिर से स्नान कर सोरा ढारे जाते हैं। इस व्रत के सम्बन्ध में सोलह की संख्या का बड़ा महत्त्व है। इसमें पपरिया, गुजियाँ,

सुरा के कोरे पसारे जाते हैं। इस पूजा में सुरा (आटे में गुड़ मिलाकर गड़ा कर गोल मठरी की तरह बनाते हैं) बनाना अनिवार्य होता है। महालक्ष्मी के लिए बेसन-मैदे के नख से शिख तक के सोलह प्रकार के आभूषण बनाये जाते हैं। आटे के सोलह दीपक जलाये जाते हैं, पुरोहित पूजा करवाकर सोलह सोरा पूजा करने वाली स्त्रियों के आँचल में देता है। चालीस सुरा पंडित को दिये जाते हैं। इस व्रत पर सोलह बोल की कहानी सोलह बार कही जाती है, जो इस प्रकार है- 'आमौती दामौती रानी पोला परपाटन गाँव, मगर सेन राजा, बम्मन बरुआ कहें कहानी, सुनो हो महालक्ष्मी रानी, हमसे काते तुमसों सुनते सोरा बोल की एक कानिया।'

कुमारी पूजन : शाक्त मत के अनुसार माँ जगदम्बिका ही सम्पूर्ण विश्व में सर्व रूपों में विद्यमान हैं। सभी स्त्रियाँ उसी माँ जगदम्बा का ही स्वरूप हैं। विशेषतः तीन वर्ष से लेकर दस वर्ष की कन्याओं को दुर्गा का स्वरूप मानकर पूजन करने की प्राचीन परम्परा है। नवरात्रि पर्व पर एवं विशिष्ट पर्वों पर कन्याओं के भोजन, पूजन की परम्परा है। कन्याओं के पूजन भोजन में जाति विशेष का ध्यान नहीं रखा जाता है। किसी भी जाति की कन्या हो, सभी पूजनीय होती है।

माई का मारग : बुन्देलखण्ड में शाक्त उपासक नवरात्रि पर माई का मार्ग नामक उत्सव मनाते हैं। इसमें गुरु-शिष्य परम्परा के अनुसार ही माई दुर्गाजी की पूजा में शाक्त लोग प्रवेश कर पाते हैं। अदक्ष दीक्षा रहित व्यक्ति को 'माई के मार्ग' में नहीं आने देते हैं। इस माई के मारग में मद्य-मांस का खुलकर बिना भेदभाव के प्रयोग किया जाता है। इस उत्सव में रात को जो गीत गाये जाते हैं, उन्हें माई के मायले कहा जाता है। वह मायले बड़ी ही कठिनता से लोग बताते हैं। शक्ति की उपासना का यह ग्रामीण शक्ति यज्ञ कहा जाता है।

कालिका देवी : यह पूजा वर्ष में एक बार अधिकांशतः आषाढ मास में शनिवार को की जाती है। इसमें सवा पाव या सवा सेर का प्रसाद बनता है। पूजा में नौ प्रकार की वस्तुओं को नौ जगह रखा जाता है। निम्न जातियों में कालिका की बहुत मान्यता है, पर अब उच्च वर्ग में भी इनकी पूजा का प्रचलन हो गया है। पूजन में बहुधा लाल रंग की वस्तुओं का प्रयोग होता है। कुछ समुदायों में बलि या प्रतीक बलि भी दी जाती है। पौराणिक मान्यता के अनुसार यह काली का रूप है।

शीतला माई : वैशाख की अष्टमी या नौमी को शीतला

माता के पूजन का विधान है। प्रातः मन्दिर में जाकर देवी को हलुवा, अठवाई, कौरी, फरा का भोग लगाते हैं। इसे बासेरा चढ़ाना कहते हैं। इस दिन बासी भोजन करने की परम्परा है। घर में अग्नि नहीं जलती। भोजन एवं देवी को चढ़ाने वाला प्रसाद एक दिन पूर्व रात्रि से बना लिया जाता है। प्राचीनकाल में चेचक आदि रोगों की शान्ति के लिए शीतला माता की उपासना-अर्चना की जाती थी - यह परम्परा ग्रामीण समाज में आज भी प्रचलित है। चेचक की देवी के रूप में शीतला देवी की मान्यता देश के अन्य भागों में भी है।

रक्षिका माई : जब बच्चा चलने लगता है, तब महिलाएँ अपने बालक को रक्षिका माई के चरणों में डाल देती हैं और उन पर हाथ लगवाकर आपत्तियों से रक्षा हेतु उसकी कमर में काला धागा बाँध देती हैं, जिसे रक्कस देना कहते हैं। यह प्रथा ग्रामीण अंचलों में आज भी है।

खैरे की भुवानी : इनके चबूतरे प्रायः गाँव की सीमा पर हुआ करते हैं। सीमा को गेंउड़ौ भी कहते हैं, इसलिए इस देवी को गेंउड़े की देवी भी कहा जाता है। चबूतरे पर छोटी सी मड़िया में लाल-काले रंग की मूर्ति होती है। गाँव में महामारी या अन्य विपत्ति पर इनकी विशेष पूजा का आयोजन किया जाता है। एक बकरी का बच्चा अथवा मुर्गी, लाल रंग का कपड़ा, गोटी, चूड़ी, कचारा, महावर, दीपक और दारू से यह पूजा होती है। यह पूजा रात में होती है। पण्डा के पूजा कराते समय गाँव का गुनिया भी होता है। एक गुनिया वह होता है, जिसे खैरे माता का भाव आता है। भाव आने पर वह अपना सिर विचित्र रूप से हिलाता है, उछलकूद करता है। भाव आने पर पण्डा भूमि पर दारू और कहीं-कहीं रक्त डाल देता है, जिसे घुल्ला चाट जाता है।

मढ़ई देवी या हुलकी देवी : यह हैजा महामारी की देवी मानी जाती हैं। इनका वास जनविहीन मैदान में माना जाता है। इनके बारे में लोक में एक उक्ति है-

*घरर-घरर नदिया बहै, मरई अन्हावन जाय।
पटिया पारै रंग भरी सिंदूर भर लई माँग।*

हैजा या महामारी को गाँव वाले हुलकी पड़ना भी कहते हैं। इसलिए इनका एक नाम हुलकी भी है। हुलकी देवी का सम्बन्ध हरदौल की भौजी, जो ओरछे के राजा जुझारसिंह की पत्नी थी, उनसे जोड़ा जाता है। जुझारसिंह का अपनी पत्नी से हरदौल को विष दिलवाये जाने का प्रसंग बुन्देलखण्ड में सर्वविदित है।

किंवदन्ती है कि अपनी भानजी के विवाह में बारातियों को हरदौल ने अदृश्य होकर भोजन परोसा था, तब दूल्हे के हठ करने पर हरदौल ने प्रकट होकर सबको दर्शन दिये थे। उस समय वहाँ उनकी भाभी नहीं थी। हरदौल के दर्शन देने की खबर मिलने पर वे भी हरदौल के दर्शन के लिए तड़पने लगीं, तब एक रात हरदौल ने उन्हें दर्शन दिये। झरोखे में खड़ी भाभी ने जब हरदौल को देखा तो वे उनसे मिलने के लिए बेचैन हो हरदौल लला कहकर झरोखे से कूद पड़ीं और उनकी तत्काल ही मृत्यु हो गई। पर उनके रोने की हिलकियाँ गाँव-गाँव में सुनाई पड़ने लगीं, जिससे भयभीत होकर गाँव के गाँव उजड़ने लगे, तब इनको शान्त करने के लिए इनकी पूजा-अर्चना की गई। हिलकी से ही इनका नाम हुल्की पड़ा और चूँकि हैजा, प्लेग आदि महामारी में गाँव के गाँव नष्ट हो जाते हैं, इसलिए इनको महामारी फैलाने वाली देवी माना जाता है और शायद इसीलिए हैजा या महामारी को गाँव वाले हुल्की पड़ना भी कहते हैं। इस पूजा में समुदाय विशेष के लोग गाँव में दारू छिड़कते हैं और सुअर के बच्चे की बलि देकर एक मुर्गी के बच्चे को गाँव के बाहर छोड़ आते हैं। उनका विश्वास है कि बीमारी को मुर्गी अपने साथ ले जाती है।

इसी प्रकार सावन-भादो के महीने में गाज 'विजली' से रक्षा के लिए 'गाज परमेश्वरी' की पूजा की जाती है। अच्छी वर्षा की कामना से 'मेघासिन मईया' की पूजा की जाती है। सर्पों जैसे विषैले जन्तुओं से रक्षा हेतु 'नाग माता', 'अहोई माता' की पूजा होती है। विभिन्न कामनाओं के उद्देश्य से बुन्देलखण्ड में अलग-अलग तिथियों में 'चौथ मैया, छठ मैया, परमेश्वरी, आसमाई की पूजा' होती है। मनौती के पूरे होने पर कुछ जातियों में 'आसमानी देवी' की पूजा होती है, जिसमें देवी को बकरे की बलि दी जाती है।

विवाह पर और मन्नत पूरी होने पर 'सुहागिले' करने की प्रथा है। इसमें सुहागवती स्त्रियों को आमंत्रित किया जाता है और भोजन कराकर माहुर लगा सामर्थ्यानुसार सुहाग के चिह्न चूड़ी, बिछिया आदि देते हैं। यहाँ बीजासेन, कालिका, औसान बीबी या हुरैयाँ, संकटा देवी, आसोमाई, तुरत देवी, कसालो देवी आदि अनेक देवियों के साथ गणेश की सुहागिले, रसगुल्ला की सुहागिलें आदि भी प्रचलित हैं। जिस देवी की पूजा में जो भोज्य सामग्री लगती है, वही प्रसाद स्वरूप सुहागिलों को दी जाती है। जैसे कालिका की सुहागिनों में पूड़ी-हलुवा लगता है, कसालो देवी की पूजा में कसार (आटे के लड्डू) लगते हैं।

बुन्देली लोक में 'सती माता' की पूजा भी प्रचलित है। यहाँ के गाँव-गाँव में सती के चौरें हैं। त्याग बलिदान के कारण महान नारियों ने भी देवीवर्ग में स्थान पा लिया है। इनमें बुन्देलखण्ड में रत्नगढ़ के राजा की पुत्री रतनकुँवर अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, इन्हें रत्नगढ़ की माता के रूप में पूजा जाता है। रत्नगढ़ में इनका मन्दिर बना है। वर्ष में दो बार होली और दिवाली पर आने वाली भैयादूज पर यहाँ विशाल मेला लगता है। मन्दिर के पिछले भाग में रत्नकुँवर के सात भाईयों की समाधि है, जो कुँवर साहब के चबूतरे के नाम से प्रसिद्ध है। आसपास दूर-दूर तक के गाँवों में इन कुँवर साहब के नाम पर सर्पदंश का बंध लगाया जाता है, जो इसी भैयादोज के मेले में खोला जाता है। उसकी कमर में काला धागा बाँध दिया जाता है।

भुवानी, चुड़ैल, डायनों की पूजा भी देवी की तरह होती है। ऐसा माना जाता है कि जो कन्या या स्त्री अकाल मृत्यु से जलकर या पानी में डूबकर मर जाती है, इनमें से वही चुड़ैल, डायन, भुवानी बन जाती हैं। जिस स्थान पर इनकी मृत्यु होती है, उनका निवास वहीं बन जाता है। उस स्थान पर दोपहर, रात्रि में किसी को अकेले पाकर ये उसको पकड़ लेती हैं और उसे समय-समय पर विविध प्रकार से प्रताड़ित करती रहती हैं। ये अधिकतर कन्याओं और महिलाओं को ही लगती हैं। जिनको चुड़ैल भुवानी लगती हैं, उनको अपने बारे में कोई ज्ञान नहीं रहता - वे कौन हैं, क्या कर रही हैं। इनके इलाज में दवा काम नहीं करती। सेवकिया भगत, जिसे ओझा कहते हैं, उसके द्वारा झाड़-फूँक करने पर उसके प्रयासों से ही मुक्ति मिल पाती है।

देवी की बैठकें होती हैं - पूजा के समय किसी व्यक्ति के सिर देवी आती हैं, इसी को देवी की बैठक बैठना कहते हैं। बैठक बुलाई भी जाती है। ये बैठकें होली, दिवाली और नवरात्रि पर तो अवश्य ही होती हैं, क्योंकि इन्हीं दिनों यांत्रिक अपने यंत्रों को सिद्ध करते और जगाते हैं। जब किसी को देवी भरती हैं, तो वह अपने को बिल्कुल भूल जाता है। इस समय देवी ही उसके शरीर में प्रवेश कर लेती हैं और लोगों के प्रश्नों का उत्तर देती हैं - ऐसा लोक विश्वास है।

इस क्षेत्र में मनसिल बाई, बेड़िनी बेटी, नटनी, भुवानी, कालिका मइया, बीजासेन मइया, घटौरिया, भैंसासुर, ठाकुर बाबा, कारस देव, नाहरसिंह, नाथ बाबा, सिद्ध बाबा, दूधिया बाबा, सवैया बाबा, मसान, पीर, भियाराने, गौड़ बाबा, बरमदेव आदि

कितने ही देवी-देवता हैं, जो लोगों के सिर आते हैं। ये सभी जाति विशेष के देवता हैं, किन्तु अन्यजाति के लोग भी उनको मानते और पूजते हैं।

बुन्देलखण्ड के ग्रामीण इलाकों में और भी न जाने कितनी देवियाँ होंगी, जिनकी गणना करना मुश्किल है। यद्यपि आज आधुनिक कहे जाने वाले शिक्षित वर्ग में देवी-देवताओं के पूजन में श्रद्धा और आस्था का क्षरण तो हुआ है, लेकिन आज भी बुन्देलखण्ड के गाँवों में ही नहीं, शहरी क्षेत्रों के परिवारों में भी विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर देवी-देवताओं का पूजन परम्परागत तरीके से होता है। उनके मन के कोने में वही आदिम भय कुलबुलाने लगता है कि अमुक देवी-देवता की पूजा न करने से कहीं कोई अनिष्ट न हो जाये। इस आदिम भय से सदियों बाद भी वह निजात नहीं पा पाया है और इसी आदिम मानसिकता के चलते इस वैज्ञानिक युग में भी देवी-देवताओं का वर्चस्व बना हुआ है, जो लोक संस्कृति की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित करने में अपना योगदान दे रहे हैं। कहना न होगा, ये देवी-देवता अपने गर्भ में न जाने कितनी संस्कृतियों को, पूर्वजों की गौरव गाथाओं को

सँजोये, प्राकृतिक उपादानों का महत्त्व दर्शाते हुए यहाँ के पहाड़ों, पठारों, घाटों, वृक्षों, मढ़ों-मन्दिरों में विराजमान काल के न जाने कितने थपेड़ों – झंझावतों को झेलते हुए मानव की विकास यात्रा में अनवरत उनके साथ चल रहे हैं। उनको अभावों, कष्टों, विपरीत परिस्थितियों में जूझने की आत्मिक शक्ति दे रहे हैं। सामाजिक समरसता और सौहार्द्र पनपा रहे हैं।

सच तो यह है कि विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा-उपासना बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति की आत्मा है। पीढ़ी दर पीढ़ी से चले आ रहे ये देवी-देवता बुन्देलखण्ड की माटी से इतने एकाकार हो गये हैं कि यदि बुन्देली धरा से इन्हें निष्कासित कर दिया जाये, तो यहाँ की लोक संस्कृति ही श्रीहीन नहीं हो जायेगी, अपितु बुन्देली लोकमन उसके स्वभाव उसके मनोविज्ञान से भी हम अपरिचित हो जायेंगे एवं यहाँ के भौगोलिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक इतिहास के उन बहुत से तन्तुओं को भी खो देंगे, जिन्होंने इस धरा की महिमामयी बुनावट में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

सन्दर्भ

1. दक्ष प्रजापति ने अपने 'बृहस्पति-सव' यज्ञ में सब देवताओं को बुलाया, किन्तु शंकरजी को निर्मात्रित नहीं किया। पिता के यहाँ यज्ञ का समाचार पाकर सती भगवान शंकर के विरोध करने पर भी पितृगृह चली गयीं। दक्ष के यज्ञ में शंकर जी का भाग न देखकर और पिता दक्ष को शिव की निन्दा करते सुनकर क्रोध के मारे उन्होंने अपना शरीर त्याग दिया। भगवान शंकर सती का प्राणहीन देह कन्धे पर लेकर उन्मत्त भाव से नृत्य करते त्रिलोक में घूमने लगे। यह देखकर भगवान विष्णु ने अपने चक्र से सती के शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके गिरा दिया। सती के शरीर के खण्ड और आभूषण जिन स्थानों पर गिरे, वे सब स्थान देवीपीठ के नाम से विख्यात हुए।
2. देवी पुराण, शक्ति पीठांक, कल्याण अंक, 2005, ई.पू. 452-453, भारत की मौलिक एकता, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ.-100-103, अद्भुत भारत, ए. एल. वाशम, अनुवाद-वेंकटेशचन्द्र पाण्डे, पृ.-267-68.
3. दुर्गा सप्तशती, 11वाँ अध्याय, श्लोक-42, मत्स्य पुराण, मार्कण्डेय, शिवपुराण, महाभारत में विन्ध्याचल पर दुर्गा का निवास स्थान बताया जाता है।
4. अशोक के धर्मलेख, सम्पादक-जनार्दन भट्ट, बुन्देलखण्ड की प्राचीनता, वागीश शास्त्री, पृ.-4-5, मुगलों के अन्तर्गत बुन्देलखण्ड का सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक इतिहास, डॉ. भगवानदास गुप्त, पृ.-2.
5. श्रीमती पुष्पा सेठ
6. बेतवा वाणी, वर्ष-1, अंक-1 में हेमलता मिश्रा का लेख, 'बुन्देलखण्ड के देवी-देवता', पृ.-193.
7. पत्रिका ज्योत्सना में मुरली मनोहर सिंह राय का 'बुन्देलखण्ड की लोक परम्पराओं में नारी उत्थान एवं शक्ति पूजा' शीर्षक लेख, पृ.-34-35.
8. डॉ. श्यामसुन्दर निगम, खंगार जाति का इतिहास, पृ.-54-55.
9. वही, पृ.-39.
10. आचार्य दुर्गाशरण शुक्ल का 'लोकदेवी बीजासेन की पूजा का रहस्य' शीर्षक लेख। बुन्देलखण्ड : प्रकृति और पुरुष-प्रेमनारायण रूसिया अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ.-473.
11. वही, पृ.-474.
12. जिला बूँदी (राजस्थान) के इन्द्रनगर में माता बीजासेन नाम से ही मन्दिर है, कल्याण अंक फरवरी, 2005, पृ.-544.
13. ज्योत्सना, बुन्देली लोक कथा एवं गीत विशेषांक में महेशचन्द्र गुप्त का 'बुन्देलखण्ड में देवी उपासना' शीर्षक लेख, पृ.-38.
14. सम्मेलन पत्रिका लोक संस्कृति अंक (सम्पादक श्री रामनाथ सुमन) में श्री वासुदेव उपाध्याय का 'भारतीय कला में लोक संस्कृति का प्रदर्शन' शीर्षक लेख पृ.- 334.। सुदूर पूर्व में भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, डॉ. बैजनाथ पुरी, पृ.-419.
15. विदिशा में साँची के स्तूप, झाँसी के पास गुजरा (दतिया) में मिला अशोक का शिलालेख, छोटी बड़ौनी (दतिया) की गोपेश्वर की पहाड़ी, दमोह क्षेत्र में मिली बौद्ध प्रतिमा आदि इस बात के प्रमाण हैं। डॉ. सुरेश दुबे, सहायक पुरातत्व अधिकारी, क्षेत्रीय पुरातत्व इकाई, झाँसी के द्वारा सन् 2005-06 के दौरान सम्पादित कराये गये झाँसी जिले के ग्राम स्तरीय पुरातात्विक सर्वेक्षण में 2000 साल पुरानी बौद्धदेवी की मिली मूर्ति हारित आदि इस बात के प्रमाण हैं। आठवीं शताब्दी का भवभूति पद्मावती (पवाया) में बौद्ध मठों का उल्लेख करता है।
- उज्जैन में बीजासेन टेकरी पर बीजासेन देवी के रूप में जिस पत्थर की पूजा की जाती है, उसे भी उज्जैन में प्राप्त बौद्ध अवशेषों की शृंखला का एक बौद्ध स्तूप माना जाता है।
16. लोक देवियों के विवरण का मुख्य आधार विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित सामग्री एवं झाँसी जनपद और उससे लगे मध्यप्रदेश के क्षेत्र दतिया आदि से प्राप्त मौखिक जानकारी-जनश्रुतियाँ और अपने तथा अपने आसपास के विभिन्न शहरों एवं ग्रामीण इलाकों की विभिन्न जातियों में होने वाली पूजाएँ हैं, जो थोड़े-बहुत अन्तर से बुन्देलखण्ड में प्रचलित हैं।

बघेली की वाचिक परम्परा

डॉ. परमानन्द तिवारी

हमारे देश में सांस्कृतिक विविधताओं के बावजूद एकता का ताना-बाना अत्यन्त सुदृढ़ है। अनेक जातियों, धर्म-सम्प्रदाय, बोली-भाषाएँ ही नहीं – रंग-रूप, कद-काठी, रहन-सहन का स्वरूप भी अलग-अलग है। उत्तर से दक्षिण, पूरब से पश्चिम तक सभी भौगोलिक परिस्थितियों और परिवेश में रहने वाला व्यक्ति कमोबेश अपने को भारतीय कहे जाने से गौरवान्वित होता है। जहाँ जो जिस मुकाम में है, वहाँ उसका वजूद है। हर व्यक्ति अपने विचार की अभिव्यक्ति अपनी भाषा के माध्यम से करता है। भाषा विचार-विनिमय का माध्यम है। भाषा का क्रमिक विकास होता है, जो बोलियों के व्यापक फलक से निर्मित होती है। कोई भाषा सत्ता के प्रभाव से कई बार बोली और कई बोलियाँ भाषा का स्वरूप धारण कर लेती हैं। इन सबके बावजूद बोली की अपनी अलग पहचान और मैदानी पहुँच होती है, जो वहाँ के जन-जन के बीच संवाद का काम करती है। बोली का फलक बहुत विशाल न होने के बाद भी जनसंवाद या लोक स्वीकृति के धरातल पर अधिक सशक्त और समृद्ध कहा जा सकता है।

बोलियों में हिन्दी भाषा के साथ ही बघेली, बुन्देली, छत्तीसगढ़ी, ब्रज, अवधी, मैथिली आदि को लोक स्वीकृति प्राप्त है। मध्यकाल के कवियों ने उत्तर भारत की अधिकांश रचनाएँ अवधी और ब्रजभाषा में कीं और इन्हें सम्पूर्ण देश में स्वीकार किया गया। जहाँ तक बघेली बोली का सवाल है, इसका बहुत व्यापक भौगोलिक क्षेत्र नहीं है। परन्तु इसके काव्यात्मक सृजन को लोक स्वीकृति प्राप्त है, जिसका सुदृढ़ जनाधार है। बघेली के प्रथम कवि का सम्मान हरिदास जी को प्राप्त है। कोई कविता बोली की कविता तभी बन पाती है, जब उसमें वाचिक परम्परा के गुण मौजूद हों, क्योंकि बोली की कविता से अपनी बात को साफ-साफ दो टूक शब्दों में कहा जा सकता है। बोली में अभिव्यक्ति का खुलापन और मौलिक सपाट बयानी होती है। बघेली बोली के प्रथम कवि हरिदास वाचिक परम्परा के कवि थे। वे जीवन की भोगी व्यथा को अपने बहुत ही बिन्दास ढंग से खुलकर करते हैं, जहाँ कोई दुराव या छिपाव नहीं है—

काहू के गिरि गा अपरा-खपरा, काहू केर चियार।
हरीदास के मुडहर गिरिगा, रोमै धरे कपार ॥

यह जीवन में विपन्नता की पराकाष्ठा है, जो बेलौस प्रस्तुत की गई है। पर्व और त्योहारों के अवसर पर भी गरीबी मुखर ढंग से व्यक्त होती है-

*आजु आय रखिहाई पुनू काल्हि होई खजुलइयाँ ।
हरीदास के खरिच चुका है सुलगी नहीं रसोइयाँ ॥*

वाचिक परम्परा लोक जीवन का वह भाग है, जो हमारे हर पलछिन में समाहित काव्य है, जिसे हम गा लेते हैं, जिस पर हँसते हैं, खेलते हैं, जीते हैं। आशय यह कि हमारी जीवन शैली में रची-बसी लोकोक्तियाँ, मुहावरे, किस्से-कहानियाँ, जो गाँव की चौपाल से खेत-खलिहान और हमारे हाट-बाजारों तक अनुगूँजित है-इन कहावतों, कथाओं, गाथाओं, शैला, टप्पा, सुआगीत, करमा और कोलहाई गीत आदि जमाने से लोककण्ठ में बसते हैं। जो मौका मिलते ही मुखर होकर जीवन में रस संचार करते हैं। जिनमें उमंग, उत्साह और ताजगी की अनूभूति होती है। इन रचनाओं-पदों के सर्जक कहाँ चले गये, अथवा कौन हैं? यह सही ढंग से नहीं कहा जा सकता, लेकिन यह हमारे समाज में विद्यमान लोक काव्य, लोक की धरोहर बन गया है। हमारे इस क्षेत्र के लोग इस बात को साधिकार कह सकते हैं कि- 'हमारी बघेली का रचना संसार, साहित्यिक सृजन भले ही अन्य बोलियों की तुलना में कम हो, लेकिन मौखिक साहित्य में हमारा लोक काव्य किसी से कम नहीं है।' हमारे यहाँ कहावतें वाचिक परम्परा में विशिष्ट स्थान रखती हैं, जिनके रचनाकारों के बारे में सटीक बता पाना सम्भव नहीं है। लेकिन इनकी हमारे बीच अनायास सहज उपस्थिति इस काव्य की जीवन्तता का प्रतीक है। 'पहार मा पथरा लाग, त घरे सिलौटी फौरै'-यह किस बात की ओर संकेत है, यह पाठक स्वयं निर्णय ले सकते हैं? कथा पर आधारित कहावत 'सांझा देइ सकारे पावैं, पूत भतार के आगे आवैं'। एक स्त्री जिसके पति-पुत्र परदेश कमाने गये हैं, वह उसी दिन लौट रहे हैं जिस शाम को उसने गाँव के मन्दिर के संत को विष बुझी रोटियाँ दे दीं। वह संत तो उस दिन उन्हें ग्रहण नहीं कर पाया, परन्तु देर रात्रि पिता-पुत्र मन्दिर में भूखे होने से संत द्वारा दी गई वही रोटी खा लेते हैं और मर जाते हैं। सबेरे यह कठोर दृश्य उपस्थित होता है, सच्चाई सामने आती है। इसी प्रकार-

*जेखे कारन तैं घर छोड़े औ मैं छांड़न पीपर
उहै नारि अब इहाँ पुहचिगै लिहे खैरहा मूसर'*

इस कथा में एक कर्कशा स्त्री है, जिसके कारण उसका

पति घर छोड़ गया तथा उस पीपल पेड़ में रहने वाला प्रेत भी वहाँ से भाग गया और जो आम के पेड़ में रहने लगा और वहीं आदमी भी रहने लगा। पत्नी खबर पाकर पति को घर लौटाने हेतु मोटा-सा डण्डा लेकर आ रही है, इस बात को जानकर प्रेत ने यह बताया कि अब चलो यहाँ से और कहीं भागा जाये। बघेली भाषा के प्रथम कवि का श्रेय यदि गुढ़ (रीवा) निवासी हरिदास को जाता है, तो यह ऐतिहासिक तथ्य है कि हिन्दी का प्रथम नाटक आनन्द रघुनन्दन रीवा नरेश विश्वनाथ सिंह जी ने ही लिखा है। इसका आशय यह है कि साहित्य की जड़ें बहुत गहरी हैं, यहाँ की माटी का कण-कण संवेदना और सौन्दर्य से परिपूर्ण है।

वाचिक परम्परा में कहावतों के साथ पहेलियाँ, जातीय लोकगीत, विरहा जो गड़रिया, धोबी, अहीर तो गाते ही हैं। अहीर दीपावली के दौरान अमावस से पूर्ण तक एक पर्व के रूप में छाहुर गाते हैं। बघेलखण्ड के सातों जिलों में अलग-अलग विधाओं को लोकप्रियता प्राप्त है। कोलहाई दादर तथा गीत में संवाद शैली के माध्यम से प्रेमी-प्रेमिका का संवाद चलता है, जिसमें अपने वादे अपनी व्यथा शिकवा-शिकायतें, खेत-खलिहान, ट्रक-ट्रैक्टरों में लदे-फदे मजदूर गाते हैं, जिसमें मनोरंजन भी है और समय के साथ समरसता का भी संचार होता है। बघेली क्षेत्र में कई लोकगाथाएँ प्रचलित हैं, जिनमें कंधइया चतुरंग की लोकगाथा के कुछ अंश देखे जा सकते हैं-

चतुरंग एक बालिका है, जिसका ब्याह कंधइया अहीर से होता है, लेकिन वह बहुत छोटी थी। चतुरंग अब सयानी हो गई है, वह सेमल के पेड़ से पूछती है कि तुम्हारा ब्याह हो गया या कुँवारे हो? सेमल ने कहा कि हम वृक्षों में ब्याह की परम्परा नहीं है, पर तुमने अपना भेद नहीं बताया? वह शरमाकर घर चली जाती है और अपनी भाभी से यही प्रश्न पूछती है कि मैं कुँवारी हूँ या ब्याही? बताओ। भाभी कहती है-

*सूपन परी भमरिया गिरे न दुधिया दाँत ।
जैसे वनमा जा मैं चकौड़ा बढी ससुर घर गाय ।
स्वामी तोर अक सेरूआ कबों न आगे जायें ।
वन-वन भटकें गऊ चरामैं रात लउट घर जाँय ॥*

चतुरंग हुलिया पूछती है-

*कउन बरन है अरदी बरदी कौन बरन है गाय ।
कउन बरन चरबइया कइसन हवै सुभाव ॥*

भाभी जवाब देती है-

लील बरन है अरदी बरदी धउरी बरन है गाय।
सँवरे वरन चरबइया हँसना हबै सुभाव ॥

भाभीजी से पूछकर, वह हुलिया रूप आकर तोते को संदेश देती है, इस पर वह जवाब देता है-

मैं तो आहयों डार के पंछी सकौं न बोलि बताय।
पटै दे कौनों मनुख देही करै मुखागार बात ॥

चतुरंग उदास होकर तोते से उलाहना देती है, जिस पर वह तैयार हो जाता है। संदेश पाकर कंधइया ससुराल जाने की तैयारी करता है। हमारी ग्रामीण कृषि आधारित व्यवस्था का ताना-बाना अत्यन्त आत्मीय एवं सहज ढंग से बना है, जिनका स्थान आज बड़े उद्योगों ले लिया। उसके जातीय व्यवसायिक स्वरूप थे। इस लोककथा के रचनाकार के बारे में किसी को पता नहीं। कथानुसार, परन्तु कंधइया जूता बनवाने चर्मकार के यहाँ, कम्बल के लिए

गड़रिया, कुम्हार के पास सुराही, दर्जी के पास कलगी और लोहार के पास लोहांगी के लिए जाता है, यह लोक आह्वान गाँव की रूढ़ियों के बीच आत्मीय संवाद का अद्भुत प्रबन्ध काव्य कहा जा सकता है, जिसमें सारे आत्मीय संवाद गेय-पदों में ही हैं।

इस प्रकार बघेली बोली अपने आत्मीय संवादों, सहज-सरल जीवन शैली के साथ परिवर्तन के हजारों झंझावातों में आज भी विद्यमान है। यह अलग बात है कि इसने अपने शासकों से कुछ भी नहीं लिया। यह जनभाषा समूचे बघेलखण्ड में रही, जो पूरब में मिर्जापुर-सोनभद्र जिला, उत्तर में इलाहाबाद बाँदा जिला तथा तत्कालीन बुन्देलखण्ड एवं महाकौशल प्रान्तों की सीमाओं से सम्बद्ध रही। इन सबके बावजूद आज भी इसका वजूद सुरक्षित है तथा उत्तरोत्तर इस बोली में रचनाएँ प्रकाशित हो रही हैं, जो इसकी जीवन्तता का सबूत है। इसके लिखित साहित्य की तुलना में वाचिक परम्परा किसी भी अर्थ में कम समृद्ध नहीं कही जा सकती, जिसमें अपार सम्भावनाएँ एवं इसका भविष्य उज्ज्वल है।

बघेली प्रेमगीत

डॉ. प्रवेश तिवारी

बघेलखण्ड की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि यहाँ राजनैतिक उत्थान-पतन के कई दौर आए हैं, पर यह अंचल राज सत्ताओं का केन्द्र किसी न किसी रूप में अवश्य रहा है। स्वाभाविक है कि यहाँ के समाज में सामन्तों के द्वारा बनाये गये नियम, प्रथाएँ और परम्पराएँ प्रचलन में हो। सामन्ती समाज में परिवार पितृ सत्तात्मक थे। दास प्रथा और वर्ण व्यवस्था के नियमों का कठोरता से पालन होता था, स्त्रियाँ घर के कामकाज ही सँभालती थीं। परिवार की पहचान पुरुषों से होती थी, स्त्रियों की पहचान उनके पति, पिता, भाई, ससुर आदि से जुड़ी होती थीं। स्त्रियों के लिए यह नियति थी कि पति या पुरुष का बड़े से बड़ा अत्याचार भी उसे चुपचाप सहन कर लेना है। क्योंकि यदि वह यहाँ पुरुष से मुकाबला कर भी ले तो परलोक में उसे जाकर पछताना पड़ेगा, क्योंकि उसकी स्वतंत्रता भगवान और धर्म की आज्ञा के विरुद्ध है।

ऐसे एक तरफा सत्ता केन्द्रित समाज में प्रेम की गुंजाइश कम ही बनती है, क्योंकि प्रेम तो स्वभावतः बराबरी का दर्जा चाहता है, स्वतंत्रता चाहता है। किसी दबाव में या किसी मजबूरी में प्रेम अपने प्रकृत रूप में नहीं रह जाता। उच्चवर्गीय परिवारों में प्रेम की अभिव्यक्ति इसीलिए बहुत कम मिलती है, जहाँ मिलती भी है वहाँ प्रतीकात्मक या संकेतात्मक ढंग से। इस वर्ग में पति-पत्नी का प्रेम ही मुख्य था और इसी की सम्भावना भी यहाँ बन सकती थी।

निम्नवर्गीय परिवारों में स्थिति अपेक्षाकृत थोड़ा बेहतर थी। यहाँ की स्त्रियाँ श्रमिक और कामकाजी होती थीं और कहीं न कहीं आत्मनिर्भरता या यह विश्वास उन्हें अपनी सत्ता की चेतना के लिए संबल देता था और वे बराबरी का दर्जा प्राप्त करने में सफल होती थीं। यही कारण है कि जो प्रेमगीत श्रमिक तथा कृषक जनता से जुड़े हैं- उनमें प्रेम की स्वतंत्रता, खुलापन और बराबरी का भाव तथा अपने आत्मसम्मान एवं गरिमा की रक्षा दिखाई देती है।

एक ऐसा समाज जहाँ पुरुष को तो कई विवाह करने की मान्यता थी- पर स्त्रियों को नहीं थी, उन्हें अपने पति के साथ सती हो जाना पड़ता था या आजीवन विधवा रहना पड़ता था, जहाँ पति अपनी पत्नी से या पिता अपने बेटे से सबके सामने खुलकर बात नहीं कर सकता था। अपने बच्चे को गोदी में नहीं उठा सकता था। यौन सम्बन्धों को लेकर एक कठोर नैतिकता समाज में थी, सम्भवतः इसीलिए बाल विवाह कर दिया जाता था। ऐसे समाज में विवाह के पूर्व प्रेम की कोई गुंजाइश नहीं बनती। पति-पत्नी का या पत्नी-पति

का अपनी इच्छा से वरण नहीं कर सकते थे। माँ-बाप की इच्छा ही सर्वोपरि होती थी। ऐसे समाज में स्वतंत्र प्रेम की सम्भावनाओं और स्थितियों पर प्रश्नचिह्न लगना स्वाभाविक है।

इन सब बातों के बावजूद बघेली प्रेमगीतों में प्रेम के विविध स्वरूप अभिव्यक्त हुए हैं। इस विशिष्ट सामन्ती समाज के दबाव में जहाँ उच्चवर्गीय लोगों के यहाँ प्रेम संकेत या प्रतीक रूप में आता है, वहीं वह निम्नवर्गीय परिवारों में जिनके यहाँ सामन्ती समाज का शिकंजा उतना मजबूत नहीं है, वे अपने जीवन में सारी बातों के लिए छूट लेते हैं और अपने हर्ष, शोक, उत्साह, आकांक्षा आदि को अपेक्षाकृत खुलेपन के साथ व्यक्त करते हैं। बघेली प्रेमगीतों में बेकारी और अभाव के खिलाफ आवाज इन्हीं प्रेमगीतों में दिखाई देती है।

बघेली प्रेमगीतों में सामन्ती स्थितियों का विरोध कई जगह सीधे और सपाट ढंग से तथा अधिकांशतः प्रतीकात्मक ढंग से दिखाई देता है। एक लम्बे और कथात्मक गीत में राजाओं के राज्य में जमींदारों व ठाकुरों के द्वारा कन्याओं एवं बहुओं के प्रति अत्याचार की मार्मिक कथा और उनका विरोध दिखाई देता है। गीत में राजकुमार एक केवट कन्या का अपहरण करता है। कन्या सारे राजपाट के सुख और विलास को ताक पर रख देती है, उसे अपने परिवार और वर्ग से इतना प्यार है कि वह उसके बदले में दुनिया की कोई चीज, कोई सुविधा नहीं चाहती। वह बहाना बनाती है कि डोली यहाँ रख दो, यहाँ मेरी माता का तालाब है, सो मैं देख लूँ और उतर कर तालाब में कूद जाती है-

गुठुआ के बूड़त कंधवा बूड़ि गइनी
कि बूड़ि गइनी सुन्दर धनिया हो राम
मुंह मा अंगौछी धइके रोमै रजपुतवा
पै का गति होइगै सुन्दर धनियउ हो राम

सारा राजसी भोग विलास और ऐश्वर्य एक तरफ रखकर वह आत्महत्या कर लेती है। यह सामन्ती व्यवस्था का मुखर विरोध है।

एक दादर गीत में एक स्त्री अपनी समस्या प्रकृति से बताते हुए कहती है कि- ऐ हवा! गलियों में इतनी धूल उड़ा दो कि मेरे पैर की ऐड़ियाँ धूल से ढँक जायें, क्योंकि मेरे पैरों में महावर लगी है, जिसे राजा के सिपाही बार-बार घूर रहे हैं-

गलियन गरद उड़ावा सिपहिया मोर एड़िया निहारइ

एक गीत में उस सामाजिक कुरीति को धिक्कारा गया है, जिसमें पूर्वजों के किये का फल नई पीढ़ी को भुगतना पड़ता है। एक स्त्री का पति बहुत छोटा है, जो शायद बालविवाह का दुष्परिणाम है। वह जब उसके साथ बाजार में निकलती है तो लोग तरह-तरह से सवाल करते हैं। गीत के बोल हैं-

दिनबा-दिनबा मैं गिनौ, बलमुआ छोटा लड़िका हो राम

अंगुरी पकड़ि के चलौ बजरिया पूंछे बजरिया के लोग
कि तोर आंही भइया भतिजबा कि तोर लहुरा देवरबा
न मोरा आंही भइया भतिजवा न मोरा लहुरा देवरबा
पुरबज केर ऐसन कमइया पायउ
बलम छोट लड़िका हो राम।

एक स्त्री का पति कई महीनों से परदेश में है और उसकी कोई खबर नहीं है। वह परेशान है कि किसी विधि उसके पति का समाचार मिल जाये, वह स्वयं तो चिट्ठी नहीं लिख सकती, लेकिन वह एक जमादार के पास जाती है और कहती है कि मेरे पिया को चिट्ठी लिख दो। जमादार अनाड़ी था, उसने गंदी चेष्टा की तो वह यह कहते हुए भाग खड़ी होती है-

बेलपाती न लिखामउं अनाड़ी जमादार के दुआरे

सामंतवादी समाज में व्याप्त कुरीतियों और रूढ़ियों पर प्रहार करने वाले कुछ और गीत हैं। एक गीत में एक स्त्री बाजार जाने का उत्साहवर्णन करती है और घर लौटकर आने पर बूढ़े पति को देखकर फिर उदास हो जाती है-

गयउं बजार लिहेउं तै टोपरा
घर आयउं ता पायउं मनुष डोकरा रे

एक गीत में और यही भाव दिखते हैं, जिसमें एक युवती बाजार जाती है और वहाँ से लौटकर घर आने पर अंधा और काना मनुष (पति) पाने पर पश्चाताप करती है। निस्सन्देह इस तरह की शादी या अनमेल विवाह सामन्ती समाज की देन है, जहाँ शादी-ब्याह के सारे अधिकार घर के बुजुर्गों और समाज वालों को रहते हैं।

गयउं बजार लिहेउं तै चकरा घर
आयउं ता पायउं मनुष अंधरा रे
गयउं बजार लिहेउं ते पनमा,
घर आयउं त पायउं मनुष कनमा रे

ऐसे विशिष्ट समाज में जहाँ स्वतंत्रत प्रेम के सम्बन्ध में घर के बुजुर्गों से बात करना एक अक्षम्य अपराध हो, वहाँ अपनी माँ से प्रेम की चर्चा और उन छैलों के बारे में बातचीत जिन्होंने उससे छेड़खानी की, करना सामन्तवादी व्यवस्था का विरोध ही है-

कहाँ कहौ माया सरम के बतियां
कहत लजन मरि जांव
अवध से आये दुइ ठे बेटउना
हमसे खेलत पिचकार
बांहन के मोरी चूरी ओइ फोरिन
टोरिन गरे कै हार

वर्ग विशेष के लोगों पर कुत्सित चेष्टाओं की प्रतिक्रिया में कुछ गीत ऐसे हैं, जो सामन्ती समय के उच्चवर्गीय लोगों के अत्याचारों को नहीं सहन करते और उनका मुखर विरोध करते हैं-

गोहूँ कै रोटी भइंस कतरा
तोही छाये है मोटाई बम्हन छोकरा
अथवा-
नवा तराना नवा देउता
नाता गोता न मानइ बम्हन देउता

एक गीत में सामन्ती समाज के रीति-रिवाज को गमइही रीति कहकर उसको धिक्कारा गया है, जो प्रेम के लिए सर्वथा प्रतिकूल है। ऐसे समाज में जहाँ प्रेम के लिए आँखें तरसती हों, किस काम का है-

जब सरसई टिकोरी बनिके
आमा आंखी खोलै
आधी रात कोइलिया बइरिन
का जानी का बोलै
झांकिया पर से आंखी तरसै
जरौ गमइही रीति
हमरौ तोहरौ प्रीति

बघेली के इस विशिष्ट समाज में जहाँ पुरुष ही स्त्री या पत्नी की पहचान होता था, अभी भी है। स्त्री वहाँ पुरुष का अत्याचार, छल, कपट सब सहने के लिए शापग्रस्त थी। ऐसे में यह गीत इस स्थिति का विरोध करता है, जिसमें पुरुष का छल कपट सहने की बजाय उससे विद्रोह के स्वर दिखते हैं-

तोरे बस्ती मा राजा नही राहेला मोला
अब लइले राज तुम्हार रे
अन्त कपट मुख चाकरी
बातन से लवली न गाहो हो हाय
खीरा ऐसे मिलना भीतर फांकी तीन हो
अब लइले राज ला तुम्हार

इसके अलावा इन गीतों में सामन्ती समाज की अन्य वृत्तियों का प्रखर विरोध दिखाई देता है। जैसे नारी की स्थिति को लेकर इन गीतों में संघर्ष दिखता है, पुरुष वर्ग की तानाशाही का विरोध, स्वतंत्रता के लिए संघर्ष, अपनी पहचान और आत्मसम्मान के लिए लड़ाई इत्यादि भावों के गीत सामन्तवादी प्रवृत्तियों के विरोध के ही गीत हैं।

बघेली प्रेमगीत अधिकांशतया स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले हैं और इन गीतों में स्त्री चेतना को, इनकी अस्मिता के सवाल को अधिकांश जगह मिली है। इन गीतों को देखने पर पता चलता है कि स्त्रियाँ अपने आत्मसम्मान और स्वाभिमान के लिए कैसे-कैसे संघर्ष करती हैं। इन गीतों में नारी अपने सौन्दर्य को लेकर उपहास का, दूसरी शादी की धमकी का, दासी बनकर रहने का विरोध करती है। एक गीत में एक स्त्री अपने पति से खिलौना मँगाने का अनुरोध करती है। पति उसे झिड़क देता है और कहता है तू बिना लड़के की माँ, खिलौना क्या करेगी? वह रूठ जाती है। पति उसे मनाने के लिए खिलौना ले आता है और उसका मान-मनौवल करता है। इस पर वह उसे झिड़कती है और कहती है कि मैं काली-कलूटी हूँ, मेरे पास मत आना, नहीं तो तुम भी कहीं काले न हो जाओ-

हम अइसी कारी कोइलिया
दुसरी छछूंदर, दुसरी छछूंदर हो
अब हमारे पलंग मत बइठा सामर होइ जइहा हो।

एक गीत में नायक को उलाहना देते हुए एक स्त्री उसके कपटी स्वभाव की भर्त्सना करती है। वह कहती है कि तू ऊपर से तो प्रेम प्रदर्शित करता है, पर तेरे हृदय में कपट है। मैंने तुझे पहचान लिया-

आंसो की अमली करेला चपटी
तोरे मुख मा दया भीतर कपटी

एक गीत में बहुत साल बाद आये पति को स्त्री नहीं पहचानती और उसके प्रणय निवेदन को किसी आशिक मिजाज या छैले का निवेदन समझकर उसकी गंदे शब्दों में आलोचना करती है, जो उसकी एकनिष्ठता और चेतना का परिचायक गीत है-

जस मोरे हरी के पनहियां
तइसे तोर ओंठवा तइसे तो ओंठवा हो
अब तोही जइसा मनइ जो पाइत ता पनही ढोबाइत हो।

एक स्त्री अपने ननद के साथ घाट पर पानी भर रही थी। उसे देखकर दो सिपाही उस पर मोहित हो जाते हैं, और उससे अपने साथ ले चलने का प्रस्ताव करते हैं। वे उसे कुछ रुपयों का प्रलोभन भी देते हैं, लेकिन वह साफ इंकार करती है और कहती है-

ए जू पांच रुपइया न लेबै तोसे छैला
चलना नही तोरे साथ जू
ए जू लहुरी ननद मोरी पिया से प्यारी
हम कुअबा मा न ढोसब जू

स्त्रियों की अपनी इच्छा का भी महत्त्व होता है और उनकी यह इच्छा पूरी की जानी चाहिए, ऐसे आग्रह से भरी बातें अनेक गीतों में दिखती हैं। एक गीत में स्त्री अपने पति से कहती है-

पिया सारी मँगाव
पटना शहर की सारी मँगाव दे
मिरजापुर कै किनारी
पिया सारी मँगाव
जौने के लाल किनारी

प्रेमगीतों में स्त्रियाँ अपने प्रति किसी भी अनाचार को सहन करने का विरोध करती हैं। प्रेम में वे स्वतंत्रता को स्वतंत्रता की तरह पाने की लालसा रखती हैं। किसी भी अमानवीय कृत्य का विरोध जगह-जगह दिखाई देता है-

मारे त मारे मुरेरे काहे हो
मारि आलरि बंहिया मुरेरे काहे हो

एक गीत में स्त्री अपने वियोग का वर्णन करते हुए अपने पति को कोसती है। उसका पति उसकी पीड़ा के मर्म को नहीं

समझता, इसलिए वह निर्दयी है। उसकी निर्दयता को धिक्कारते हुए वह उसे बैरी और चण्डाल तक कह देती है-

लग गइ जेठ मास लग गई असाढ़े
चींटी चुनगुन आपन घर खोजै
बैरी चण्डाल अबहू खबर नहि लेइ रे
साजन नहि आवा हइ रे।

आधुनिक बघेली साहित्य में भी स्त्री की चेतना के ये स्वर कई जगह दिखाई देते हैं। एक गीत जिसमें उस स्त्री के सौन्दर्य का वर्णन है, जो काली कलूटी है- लेकिन उसके सौन्दर्य में बिना सोने के भी एक जड़ाव है, एक कसाव है और उसकी आभा ऐसी है कि किसी ऐरे-गैरे की हिम्मत नहीं कि उसके सामने जाये-

चीकन काली कसौटी सी काया
न सोने के रेख खिंची अलबत्ता
जो बिदुरायं¹⁸ गिरे चकरी
सउंहाय भल है केखरि सत्ता

एक गीत में उस सामाजिक कुरीति का विरोध दिखाई देता है जिसमें लड़कियों को बचपन में ही ससुराल भेज दिया जाता है और वे असमय गृहस्थी के भार से दब जाती हैं। गीत का भाव है कि ये भैया इस वर्ष मेरा गवना मत करना।

आसों गमन झैं देबे भइया
मैं पतरी बारी डेरा थों
मोरे ससुर घर बड़े-बड़े गघरा
X X X X
बड़े-बड़े गघरा गा बड़े-बड़े घघरा
उमहे ला छतिया मोर डोलऽऽथे रे
मोरे ससुर घर बड़े-बड़े लुभरा
बारी उमर मोरी झरक थी रे

इसी तरह एक गीत में दूसरी प्रकार से यह चेतना दिखाई देती है, जिसमें स्त्री अपने पति के सामने उसकी प्रेमिका का विविध तरह से मजाक उड़ाती है। वह कहती है कि तुम्हारी प्रेमिका महल के पिछवाड़े खड़ी है, तुम एक लम्बी रस्सी डाल दो तो वह आ जाये। इस पूरे गीत में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एक पत्नी जिसकी स्थिति एक दासी या गुलाम की सी होती थी, वह अपने पति से बराबरी के दर्जे की बात ही नहीं करती, बल्कि

अपने आत्मसम्मान के प्रसंग में उसका उपहास तक उड़ाती है।
गीत के बोल हैं-

डोरी डारि डे महल चढ़ि आवै रसिया
डोरी डार दे
जब के रसिया गोइइवा मा आई
बाढ़ि उठी बैरन नदिया, डोरी डार दे
जब के रसिया दुअरबा मा आई
भूँकि उठी बैरन कुतिया - डोरी डारि दे।

X X X X
जब कै रसिया सेजरिया माँ आई
टूटि परी बैरिन खटिया - डोरी डारि दे
डोरी डार दे महल चढ़िआवै रसिया
डोरी डारि दे।

इस तरह इन प्रेमगीतों में स्त्री चेतना के स्वर उनकी मुक्ति के समर्थन में जगह-जगह बिखरे हैं। स्त्रियाँ जहाँ इन गीतों में अधिकार के लिए लड़ती दिखाई देती हैं, वहीं इन गीतों में इनका रूठना, पुरुषों का मनाना, बहुत से प्रसंगों में स्वयं सामने आकर साहस से प्रेम का प्रस्ताव करना, बराबरी की आकांक्षा को व्यक्त करता है।

बघेली प्रेमगीतों में आधुनिक चेतना स्पष्ट और साफ तौर पर तो नहीं दिखती, पर यदि गीतों की प्रतीक योजना और संकेतात्मकता पर दृष्टिपात करें, तो यह चेतना इन गीतों में दिखाई पड़ती है। एक गीत देखने लायक है जिसमें, आधुनिकता के बोध के साथ जीविका के साधनों में व्यावसायिक प्रवृत्ति और दूर जाकर नौकरी करने आदि के विचार प्रवेश के साथ इन गीतों में आर्थिक जीवन की घुटन प्रत्यक्ष हो चली है-

कंडा मा आगी चुकरिया मा तेल
चला भागि चली खदानइ मा हो
इसी तरह-
न बरसी पानी ना पाकी धान
चला भागि चली चिरइया कोइला खदान

बघेलखण्ड में ही नहीं बल्कि सारे हिन्दुस्तान में अमूमन यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि प्रेम का पहला प्रस्ताव पुरुष ही करता है- स्त्रियाँ नहीं। प्रेमगीतों में यह बात देखने को मिल जाती है, जिनमें स्त्री अपनी तरफ से प्रणय निवेदन करती है। एक गीत देखें-

माया के मारे रे आय गयों तोरे टोला मा
या ढकची मां भात रांधों
या हाड़ी मा पेज
तै जोड़ी बनायले में तो सेंट मेंत
या चाउर के भात रांधों या उरदा के दार
अहड़ बहड़ तो झंय होवे मही लगाऊं पार

यह प्रेम का प्रस्ताव आधुनिक चेतना से संपृक्त है। यह आधुनिकता की देन है, जहाँ स्त्री और पुरुष दो में से कोई भी प्रेम का प्रस्ताव कर सकता है। बघेली प्रेमगीतों में ये चेतना अनायास ही न आई होगी, वरन इसके पीछे किसी ढकोसले का या रूढ़ि का तोड़ना रहा होगा, जो मनुष्य की स्वतंत्रता में बाधक थी। एक और गीत में यही भाव है-

महाराजा हो खोला केमारि
भींजइ कुसुम रंग चूनर
अरे ठाढ़ी रहउं ता भींजइ चुनरिया
लौउं ता टूटै सनेह

आधुनिक समय में कैसे तेजी से स्थितियाँ बदल रही हैं - रोज एक नया आविष्कार, रोज एक नये भ्रष्टाचार का रहस्योद्घाटन, रोज एक दुर्घटना और इन सारी चीजों का मनुष्य की मनःस्थितियों पर पड़ने वाला प्रभाव कहीं-कहीं इन गीतों में व्यक्त होता है, जिसमें बार-बार एक घुटन अपने परिवेश से खीझ, ऊब और मन का स्थिर न रहना आदि स्थितियाँ होती हैं-

कबहूँ मन टूट-टूट कबौ-कबौ जुरिगा
कबौ-कबौ पथरा भा कबौ-कबौ घुरिगा
कबौ-कबौ बाग-बाग मन
कबौ-कबौ उजरिके बगार भा

ये तमाम मनःस्थितियाँ मन की विभिन्न दशाओं को अभिव्यक्त करती हैं, जो आधुनिक युग के प्रभाव स्वरूप मनुष्य में लक्षित की जा सकती है।

लोकगीतों में कहीं भी सप्रयास अलंकार योजना, रस योजना और छन्द योजना नहीं मिलती। अलंकारों की योजना भावोद्रेक के लिए भी नहीं होती। हाँ, इनका सृजन अनायास ही हो जाता है। लोक काव्य स्वच्छन्द होने के कारण छन्द और तुक की बेड़ियों में नहीं बाँधा जाता। परन्तु इन गीतों में लय अवश्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है। इनमें रस की प्राप्ति ही नहीं होती, प्रत्युत वह रस

से ओतप्रोत रहता है। लोकगीतों का महत्त्व उनके सहज रसोद्रेक एवं स्वाभाविकता में ही है। उनकी सम्पूर्ण शक्ति, उनके सरल सौन्दर्य में निहित है।

बघेली प्रेमगीतों में स्त्री और पुरुष सौन्दर्य के अलग-अलग गीत भी पाये जाते हैं। हालाँकि ज्यादातर गीत स्त्री सौन्दर्य के ही हैं। खेतों में काम करते समय गाया जाने वाला यह गीत स्त्री श्रृंगार वर्णन का सुन्दर उदाहरण है-

सोनेन केरी मुंदरी नगीना जड़े
चित्तगाड़े रंगीला हजारों खड़े
दांत बत्तीसी नयन कजरा
दूनौ नैना मिलाय कहै छलिया
अरे मड़िया वाली है रे।

शंकर की प्रेम पात्री गौरादेवी के चेहरे में झुलनी कितनी शोभायमान लगती है। उनके गाल गोरे हैं और दाँतों तथा ओंठों में बत्तीसी एवं पान की लालिमा छाई हुई है-

झुलनिया तो गौरा के सोहै हो
अरे गौरा के सोहै महराज हो
झुलनिया तो।
झुलनिया तो गौरा के सोहै हो
जेखे दांते बत्तीसी गोरे लाल हो
झुलनिया तो गौरा के सोहै हो।

एक गीत में एक स्त्री नारियल का तेल लगाती है और सँवारकर अपने बालों की कंघी करती है, वह अपने लिए मलमल की साड़ी मँगाती है। सवाल उठता है कि यह गोरी है कहाँ की-

तेल लगावै नरिआर का
अरे हां-हां तेल लगावै नरियार का
औ पाटी पारइ बनाय
धोती मगावै अरे मलमल के
या कहां के छैलिनि आय

स्त्री सौन्दर्य में उसका पतला या छरहरा होना सौन्दर्य की अभिवृद्धि करता है। एक गीत में ऐसा ही भाव है, जिसमें एक पतले मुँह की स्त्री बार-बार रसिक के दिलोदिमाग पर छा जाती है-

नजर मा झूलइ रे पातर मुंह की छोकरी

एक गीत में पुरुष स्त्री से कहता है कि आज तो तुझे बिना करमा गाये जाने नहीं दूँगा। वह उसके सौन्दर्य से इतना प्रभावित है कि वह उसे रात में भी देखता है-

तरी है बंडी ऊपर कुरता
दिन मां हँसे बताये राते के सुरता

एक स्त्री का सौन्दर्य ऐसा है कि उसका अंग-प्रत्यंग और उसकी चाल रसिकों के हृदय को चोट पहुँचाती रहती है-

मालिन तोरी चाल सालैइ करेजा मोरे
एक तो नयन रतनारे नितै कजरारे
कजरिउ मारै कटार

स्त्री सौन्दर्य का एक गीत है, जिसमें पनिहारिन स्त्री का ऐसा अद्भुत सौन्दर्य वर्णन किया गया है, जो निराला के सौन्दर्य दृष्टि की याद दिलाता है-

मूड़े धरे मटकी मटके जस पानी परे पुरइन केर पत्ता
ऐसी अनूठी जवानी कबै लैलून के सारी भै लूगरि लत्ता
चीकन कारी कसौटी सी काया न सोने के रेख खिंची अलबत्ता
जो बिदुराय गिरै चकरी संउहाय भला है केखरि सत्ता

इसी तरह का एक और गीत दृष्टव्य है-

एकु हांथे लिहे लजुरी दुसरे धरि कूल्हे लिहे गगरी पनिहारिन
तन से मन से अति कोमरि है जैसन कटिया ककरी पनिहारिन

एक गीत में स्त्री सौन्दर्य को मनःस्थितियों के सन्दर्भ में देखा गया है, जहाँ वह कभी तो बंजर पड़ी जमीन की तरह लगती है और कहीं वह एकदम रंगीन साड़ी की तरह खूबसूरत लगने लगती है। कभी तो वह शहरी स्त्री लगती है और कभी एकदम गाँव की। गीत ऐसे हैं-

कबउ-कबउ उ जनाय उजही अस ऊसर
कबउ छीट लागइ रे पता नहीं को
आगे से उ जनाय पूर पार सहरी
गांव पीठ लागइ रे पता नहीं को।

पुरुष सौन्दर्य के भी गीत इनमें कहीं-कहीं दिखाई पड़ते हैं। एक पुरुष के लिए स्त्री इस तरह से गीत गाती है-

करिया है पानी चिकन पथरा
लट छोरि के नहाय बम्हन छोकरा

इसी तरह एक गीत है, जिसमें पुरुष के सौन्दर्य का वर्णन लइंची से उपमा करके दिखाया गया है-

मैं गुजराती का फूल बलम मोर लइंची का बिरवा

इसी तरह एक स्त्री अपने प्रिय को याद करते हुए कहती है कि- ऐ साजन! तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो। तुम्हें देखने को हर समय यह नेत्र तरसते रहते हैं। वह कहती है कि मेरे साजन तो अँगूठी में चमकने वाले नगीने की तरह थे। गीत यूँ है-

*अरे तुम मोरे अधिक पियार तुम्हे बिन नइना हो तरसैं
अरे लाल मुंदरी का नगिनवा हो जैसे राजा हमार
मोरे दुआरे मां कुंइया हो मैं तो पानी भरन का जांव
झमकि-झमकि जल भरतिउ हो राजा देखइ हमार
अरे लाल मुंदरी का नगिरवा हो जैसे राजा हमार
मोरे दुआरे कै बगिया हो मैं तो फूल बिनै जाउं
झमकि-झमकि फूल बिनतिउं हो राजा देखैं हमार
अरे लाल मुंदरी का नगिरवा हो राजा तैसैं हमार।*

एक गीत में स्त्री कहती है कि सुबह चमाचम मोटे जूते पहनकर गले में रस्सी (नोई) डालकर जिस घर में सुन्दर औरत देखते हो, बड़े सबेरे ही वहाँ गाय दुहने पहुँच जाते हो। हे मेरे चंदा! तुम बजनी जूता पहनना, गले में नोई डालना छोड़ दो और गायों को दुहना बन्द करो, अपनी आदत सुधारो-

*पनही पहिर चमाचम चंदा कन्धा मा डारे नोय।
जेहि घर देखइ सुन्दर धनिया गौवई दुहै भिनसार
छाड़ि दे चंदा वजनी पनहिया छाड़ि कंधा कै नोय
न हम छोड़ब गौवई दुहाउब काहे डाटत विदेशी लोग*

एक गीत में स्त्री-पुरुष दोनों के सौन्दर्य का वर्णन दिखाई देता है। भाव यह है कि पहाड़ी के ऊँचे टीले पर सोहाग का हरा-भरा बगीचा है, जिसके एक किनारे से दूल्हा निकलता है और एक किनारे से दुल्हन। दोनों एक दूसरे के सौन्दर्य के बारे में बात करते हैं। लइंकी दूल्हे से पूछती है कि आपकी यह पगड़ी किस रंग से रंगी है और आपके दाँत किस रंग से रंगे हैं। जवाब मिलता है कि फूलों के रंग से पगड़ी रंगी है और पान खाने से दाँत रंगे हैं। अब तुम बताओ कि तुम्हारी चूनर किस रंग से रंगी है और तुम्हारी माँग में क्या चमक रहा है? लइंकी कहती है कि पीले रंग से मेरी चूनर

रंगी है और माँग में सिन्दूर भरा है-

*भितरे से निकरी हैं धेरिया कउन कुंवरि
पूछैं दुल्हेरुआ से बात
राजा के सोहगवा
काहे रंगी साहब तुम्हरी पगड़िया
काहे रंगे दाँत तुम्हार
राजा के सोहगवा
कुसुम रंग रंगी धना हमारी पगड़िया
पनवा रचे मोरे दाँत
राजा के सोहगवा*

कहा जा सकता है कि प्रेमगीत सौन्दर्य की दृष्टि से काफी समृद्ध हैं। कुछ गीतों में सौन्दर्य की आभा प्रतीकों में और संकेतों में है। कहीं-कहीं स्पष्ट और साफ सुथरा है। स्त्रियों का सौन्दर्य तथा पुरुषों का सौन्दर्य अलग-अलग गीतों में है। कहीं यह संयुक्त रूप से भी मिलता है।

प्रेमगीत निस्सन्देह स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों को अभिव्यक्त करते हैं। कुछ गीतों में स्त्री-पुरुष का यह आकर्षण विशुद्ध शारीरिक अथवा दैहिक है, वहीं कुछ गीतों में दैहिक धरातल से ऊपर उठकर प्रेम का आत्मिक स्वरूप मिलता है, जो प्रेम की उच्च भूमि है। दैहिक आकर्षण के कुछ गीतों में वासनाजन्य भाव हैं, तो कई गीत अश्लील तक हो जाते हैं। एक गीत दृष्टव्य है-

*महुआ बीनइ जांय मूड़े मा धरि के टोकनिया
महुआ बीनइ जांय रस चुइ-चुइ के जाय
महुआ मदन रस टपकइ
यारेन केर फाटे करेजवा महुआ बीनइ जांय
बारह हजारी कै लहंगा साढ़े नौ सइ कै बुलाक
पहिरइ बालइ रसी जान मारइ हमार*

इस गीत में एक स्त्री अपने पति की इस बात के लिए भर्त्सना करती है कि वह बड़ा ही लालची आदमी है और सुन्दर औरत जहाँ कहीं देखता है, वहीं पीछे लग जाता है-

जेहिन के देखे चीकन डउकी तेहिन केला जाय

एक और इसी तरह का गीत है, जिसमें एक स्त्री की जवानी को बहुत ही विलासपूर्ण और वासनाजन्य तरीके से देखा गया है-

पथरा के बड़ठे पथरा डुलि जाय
तोर मस्त जवानी नजर डुलि जाय

एक गीत में एक स्त्री अपने पति को उलाहना देते हुए उसके अविकसित यौवन की तरफ संकेत करती है। वह कहती है जिस प्रकार कच्ची सुपारी खाने में कोई स्वाद नहीं मिलता, उसी तरह तेरी जवानी भी किसी काम की नहीं है। गीत में बोल हैं—

अरे कच्ची सुपारी मा रस नहीं आय छैला तोरी जवानी
छैला तोरी जवानी मा रस नहीं आय छैला तोरी जवानी

प्रेमगीतों में प्रणय निवेदन के भी विभिन्न प्रकार हैं। और वहाँ कई बार उसके शरीर के सौन्दर्य को या उसके युवावस्था को व्यर्थ न जाने देने की बात कहकर प्रेम का प्रस्ताव किया जाता है। एक गीत में स्त्री का पति परदेश में है, तो उसे एक रसिक कहता है कि तेरा परदेशी पति तो न जाने कब आयेगा, पर तू ये अपनी जवानी के दिन क्यों व्यर्थ कर रही है? जिन्दगी तो छोटी-सी ही है—

एक चाली माठा ता सोला डोला पानी
तोर डउका हइ परदेशी काहे खोवै जवानी
नैन जुगानी बालम जिंदगानी हइ थोड़ा।

कहीं-कहीं किशोरावस्था में पाँव रखते ही युवक-युवतियों पर नजर गाड़ना शुरू कर देते हैं और नायिका के अंगों की कान्ति से प्रभावित होकर कह उठते हैं—

तिली का तेल लगाइ ले अंग मा
मोही दुल्हा बनाय के सोवाय ले संग मां

नायक-नायिका से कहता है कि अब तुम्हारी जवानी आ गई है और तुम अपने यौवन का दान करके धर्म की भागी बन सकती हो, क्योंकि तुमने ऐसा न किया तो तुम्हारी जवानी किसी का धर्म नष्ट कर देगी—

कुटकी कोदइया गरम कइ देय
तोरी चढ़ी है जवानी धरम लइ लेय

एक गीत में स्त्री एक पुरुष से कहती है कि मौसम सुहावना है और मेरा जी तरस रहा है। तू अपने मन की बात साहस से कह दे। तेरा चेहरा उदास क्यों है? हाय मेरा पूरा शरीर तरस रहा है—

ओ हो हाय पानी बरसत हाय
आज नहीं तो काल चोला तरसय रे
या तिली के तेल लगावे अंग मां
कौन माया बारे रँगही संग मा
आय चोला तरसत हाय

X X X X
झंगल-झंगल धोती पहिरे
फेंटा बांधे कस के
तोर सुरत ला को बिगारिस
नहीं बतावत हँस के
हाय चोला तरसय हाय

दैहिक आकर्षण में एक आसक्ति भी होती है, मिलन की उत्कण्ठा भी और सौन्दर्य को दूर से देखने का भ्रम भी। वस्तुतः दैहिक आकर्षण एक प्रकार की मृगतृष्णा भी है, जो प्रेम की गहराई से सम्बद्ध नहीं है। उसमें तो एक कौतुक, एक मनोविकार ही प्रधान होता है, फिर भी दैहिक आकर्षण को समूचे विश्व साहित्य, विशेषकर प्राचीन संस्कृत साहित्य में प्रमुख स्थान मिला है, अतः स्वाभाविक है इसका प्रभाव लोकगीतों पर और आधुनिक गीतों पर दिखाई दे। एक गीत यँ है—

लाल-लाल देहें मा है दिन बूड़त केर ललामी
देउता कउन रचिस ऐख जो राखिस न एकौ खामी
अंग-अंग पीका कस गहदा औ गुलाब कस आलर
नेउना अस चीकन पेडुली का पोंछें फिरि-फिरि झालर
खड़ी रहै ता लागै जैसे रस से भरी मलागर
दुअरा पर से निकरि जाति है कउनौ गोरी गादर।

दैहिक आकर्षण के अलावा इन गीतों में आत्मिक आकर्षण भी दिखाई देता है, जहाँ प्रिय से मिलना एक साधना है और उससे एक बार जुड़ा बंधन टूटना सम्भव नहीं। ऐसे में प्रेम कुछ चाहता नहीं— प्रिय की भलाई के सिवा। प्रिय से मिलने की खुशी और न मिल पाने पर उसे अगले जनम में मिलने की कामना, मरते दम तक साथ न छूटना आदि भावों की अभिव्यक्तियाँ इन गीतों में आत्मिक आकर्षण की ही द्योतक हैं। एक गीत में एक स्त्री अपने प्रियतम से न मिल पाने का कारण भाग्य को कहती है—

हंसिया धर ले टंगिया धर ले चढ़ जा पहार गा
तोर मोर लिखा बदी नहीं आय भगवान घर ले

X X X X

न मोला खाय जाय न मोला पिये जाय
धोखे मा रो-रो के कउरा उठावे गा तोर... मोर...
जइसे जलति है जंगल कै लकरी ओ है हाय
वइसे तो जरय मोर शरीर गा तोर मोर लिखा...

इसी तरह का एक और गीत है, जिसमें यह भाव है कि मेरी और तुम्हारी प्रीति तो अब मरने पर ही छूटेगी।

आमा की लकड़ी टोरे मा टुटही
तोर मोर दोसदारी मरे मा छुटही

इसी तरह एक गीत है, जिसमें यह भाव है कि तुम्हारे और मेरे बीच की प्रीति को भला कौन जान सकता है। उसे तो सिर्फ भगवान जान सकता है। वह ऐसी प्रीति है, जैसे गंगा में जमुना की हिलोरें जाकर मिल जाती हैं फिर उछाह लेती हैं, फिर मिल जाती हैं।

तोर मोर प्रीति दइउ जानै हो
जइसै गंगा मा जमुना
जइसे गंगा मा जमुना हिलोर मारै हो

प्रेम तो मनुष्य के जीवन की वह जीवनी शक्ति है, जिसके संचार से उसे दुनिया की तमाम चीजें वरेण्य हो जाती हैं। आत्मिक आकर्षण में प्रेम का यह सौन्दर्य देखा जा सकता है-

कोउ मटका अइसन हमार सब कविता मटक गई
मरी-मरी घेंटी परेम के पुनि के चटक गई
जब से मुस्कियाइ के बोले
जब से डीठ लगी
करु-करु दुनिया ई सलगी
पुनि के मीठ लगी
मन के मोटरी के कइयक ठे गांठी छटक गई।... कोउ...

कुल आशय यह है कि बघेली प्रेमगीतों में दैहिक और आत्मिक आकर्षण दोनों से प्रभावित गीत मिलते हैं। दोनों ही प्रेम की जरूरत हैं और दोनों इसकी अनिवार्यता भी। प्रेम की पूर्णता दोनों में ही सम्भव है। कहना यह है कि बघेली प्रेमगीत इस दृष्टि से पूर्ण हैं।

प्रेम में प्रमुखतया दो ही स्थितियाँ होती हैं - पहली संयोग की या मिलन की और दूसरी वियोग की या अलगाव की। बघेली प्रेमगीतों में दोनों स्थितियों का चित्रण और अभिव्यक्ति मिलती है। एक गीत है, जिसमें पहले यह प्रश्न होता है कि मछली क्या देखकर ललचाती है और भँवरा क्या देखकर लुभा जाता है। उसका उत्तर है कि मछली पानी देखकर ललचाती है और भँवरा फूल को देखकर लुभा जाता है। पुत्र अपनी पत्नी को देखकर ससुराल जाता है और सारी सरहजों को देखकर लुभा गया है-

जल देखि मछरी करै लुरखुरिया
फूलै देखि भँवरा लुभान
धना देखि पुतवा चले ससुररिया
सारी सरहज देखि लुभान

एक गीत में स्त्री अपने पति से लाल जड़ी वाली साड़ी मँगाने को कहती है और फिर कहती है कि वही साड़ी पहनकर मैं मायके जाऊँगी और तुम ससुराल चलना-

पिया सारी मंगाव जौने कै लाल किनारी
सारी पहिन मैं चलौ मइकवा
तुहूँ चला ससुरारी

प्रेमी अपने प्रिय से मिलने के कई उपाय करता है कि यदि उसकी मुलाकात सामान्य ढंग से सम्भव न हो पाई, तो वह विविध वेश बनाकर प्रिय से मिलने की कोशिश करता है। ऐसा ही एक गीत राधा और कृष्ण से सम्बन्धित है, जिसमें कृष्ण वैद्यराज बनकर नगर में आए हैं और राधा की नाड़ी देख रहे हैं-

अंगुरी पकड़त बहुंका पकड़िन
पकड़िन बांह मुरारी
बैदराज बनि आये बनवारी
ई रोगियन मा रोग नहीं है
है रस केर बेमारी

संयोग श्रृंगार का एक और गीत है, जिसमें एक परकीया नायिका अपने प्रियतम से और रुकने का आग्रह करती है। वह कहता है कि मैं इतने दिन रुका था, तो तू बाजार नहीं गई और अब जब मैं घर जा रहा हूँ तो तू बाजार जाने की जिद कर रही है। गीत के बोल हैं-

आज रहा साजन काल्हि रहा साजन परौ नगर का जाब
अतना दिन मोही आबत होइगा न तू गइयु बजार

आजु दिना हम घर का रंगेन तब हइ लइ चलिउ बजार
न नित लागे हटिया न नित लगै बजार
तोहरे मन के पागा मितउ आबा हवै बेचाय
जाय दे सजनी जाय दे सजनी घर बाढ़ी औसेर
घर के नारि निहारत होइहीं जइसै लेबइही गाय

एक गीत में नायक और नायिका दोनों आपस में सवाल
जबाव कर रहे हैं, जिसमें संयोग श्रृंगार की सुन्दर नियोजना हुई है-

आसौ के फगुआ गाडेल होलिका
संगे चलिहा बजार बैया लै देवो पोलिका
गाड़ी रे चढ़ै उड़वै धुंअरा
कौने मया बाले होबे दउवा लै देवे फुंदरा
पूरा रे हावै बो हाये बारू
कौने माया होय के बैया पियाबे दारू
नान-नान डोलिया बोयेला जीरा धान
चले आवे बउआ खबाबो बीरा पान
पान रे खाये मुहेला करे लाल
जादा माया करबे बइया होइ जाती जिउ के काल

संयोग का एक गीत है, जिसमें अपने प्रिय से प्रेमी कहता
है कि- देख, तू मुझे जो चाहे सो कह ले, पर अपना प्रेम मत तोड़।
चने का साग तोड़ने पर उसमें फिर नई कोपलें आ जाती हैं, उसी
प्रकार तेरा प्रेम है, जिसमें सदैव नई कोपलें आती रहती हैं। तू शाम
को घर अवश्य आ जाना-

कात लइने सुतरी लगाइ लइनेव डोर
गारी बोली दै ले माया झन टोरो रे
या चन्ना रे भाजी टोरै तो फुलगी
चले अइबे रे होत परत झुलकी

संयोग के अलावा श्रृंगार का दूसरा पक्ष है वियोग। बघेली
प्रेमगीतों में श्रृंगार की यह भावना बहुतायत में पाई जाती है,
क्योंकि ज्यादातर गीत स्त्रियों द्वारा रचे गये हैं और उन्हीं के द्वारा
गाये जाते हैं। इसलिए गीतों में अधिकांशतः नायिका का विरह ही
दृष्टिगोचर होता है। एक गीत में प्रिय की याद सपने में भी सताती
है। उसका साथ याद आता है और उसके पान से रचे हुए होंठ याद
आते हैं-

खैरा सुपारी लौंग कारी
सपनेउ मा सतावइ

सपनेउ मा सतावइ तुम्हार यारी
इसी तरह का एक और गीत है-

ऊंची अटारी बरे दियना
सब सोबैं में जागौ अकेल
सब सोबैं में जागौं अकेल जियरा

एक वियोगिनी नारी कई महीनों के विरह को चुपचाप
सहती रहती है, लेकिन जब फागुन जैसे महीने में भी पति घर नहीं
आता, तो वह कह उठती है-

फागुन में न जिअउं रसमाती
अहउ कंत घ घरहुं न आये
बालम विदेशवा मा छाये
बसन्त न भावइ कइसे पठामउं पाती
अजहुं घर न आये।

वियोग से पीड़ित नायिका को कोई चीज अच्छी नहीं लगती,
उसे मोर की बोली काटने दौड़ती है और मेंढकों की आवाज कान
फाड़ू शोर लगता है। सारी चीजें उसके विरह को बढ़ाती ही हैं-

सामनर उमडिं घुमडिं जल बरसै
तरसै जियरा सखी री मोर
मोर के बोली कटामन लागै
दादुर करै भल सोर - सामन....

इसी तरह के भाव एक और गीत में हैं, जिसमें एक स्त्री
अपने बारे में बताती हुई कहती है कि उसके ससुर और सास बहुत
अच्छे हैं, उसके ससुराल या मायके में कोई दुःख नहीं है। दुःख है
तो बस इतना, उसके साजन उसके पास नहीं हैं, जिसकी वजह से
उसे नींद नहीं आती है-

न मोरे सास ससुर दुःख
ना नइहर दुख ना नइहर दुख हो
स्वामी तोहरे तो हैं वियोग नींद आबइ हो

इसी तरह -

गोरेन मुख केरी धनिया
विरह अति व्याकुल विरह अति व्याकुल हो
पिया कहिगे तै चार महिनवा उलट नहि आये हो

वह वियोग की पीड़ा सहने में अक्षम है, इसीलिए सोचती है कि किस तरह से अपने प्रिय को पास बुलायें। उसको बहुत सोचने पर ये उपाय सूझता है कि वह अपने आँचल का कागज बनायेगी और आँखों को दवात बनायेगी। अपने छोटे देवर को पत्रवाहक बनाकर वह अपने पिया के पास सन्देश भेजेगी-

*अंचरा क बनवा कगदबा
नयन मसियानी नयन मसियानी हो
अब लहुरे देवरवा कयथवा चिठी लिखी भेजें हो।*

एक नायिका का पति परदेश चला गया है और नायिका घर में अकेली उसके वियोग में पीड़ित है। वह परवश हो गई है, क्योंकि वह दूसरे के हाथ बिकी हुई है। उसका हाड़-मांस रूपी शरीर कहीं भी रहे, पर उसके प्राण तो सदा पति के पास ही रहते हैं। उसे पेड़-पौधे, गाँव इत्यादि कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता, वह सखी-सहेलियों से भी नहीं मिलती, वह क्या करे-

*हाय निदिया नहि आवैं यार पिया गये परदेश
हम पंछी परवस भये बिकेन पराये हांथ
हाड़-मांस मोर कहुं रहैं प्रान है तेरे पास
नहि तो दीखै रुखवा राई नहि दीखै अब गांव
नहि तो मिलै संग सहेली कामो दिल बहलाउं*

एक स्त्री अपने सखी से कहती है कि- अगर मेरे प्रिय का पता तुम्हारे पास हो तो बता दो। वह तो बड़ा निर्दयी है। प्रेम का बन्धन बाँधकर अब दूर चला गया है। सखी उससे उसका रूप रंग पूछती है, जिससे उसको ढूँढने में वह मदद कर सके-

*कोउ सखी रसिया देय हो बताय
नेहा लगाय के चला गा
ये कौने बरन ओखे घोड़े छयल के
हैं कउन बरन असवार रसिया
नेहा लगाय के चला गा*

इसी तरह के भाव अन्य विरह गीतों और ऋतुगीतों में बहुत अधिक पाये जाते हैं। बघेली प्रेमगीतों में संयोग एवं वियोग श्रृंगार के गीत अपने सारे पक्षों को उद्घाटित करते हैं। संयोग श्रृंगार के गीतों में परस्पर प्रीति के वशीभूत नायक-नायिका, दर्शन, मिलन, स्पर्श आदि से संयोग सुख का आनन्द लेते हैं। वियोग में वियोग श्रृंगार के सभी प्रकार - पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण भावों के गीत मिलते हैं।

बघेली प्रेमगीतों की भाषा के बारे में यदि एक वाक्य में कहें तो वह सामान्य बोलचाल की भाषा है। गीतों का विश्लेषण करने पर यह बात साफ होती है कि इन गीतों में बघेली के विशिष्ट देशज शब्दों का प्रयोग नहीं है, बल्कि बहुत ही सहज और सामान्य बोलचाल में प्रयुक्त भाषा ही इनमें दिखती है। सम्भवतः इन गीतों के सरस और सहज बोधगम्य होने का कारण भी यही है। यद्यपि कुछ श्रमिक और कृषक जनता के गीतों और जातीय गीतों में भाषा की कठिनाई भी पाठक महसूस कर सकता है, क्योंकि इनमें इन जातियों में ही प्रचलित कुछ खास शब्दावली का प्रचुर प्रयोग देखा जा सकता है। जहाँ तक संस्कारगीत, ऋतुगीत, पूजागीत और अन्य सामान्य गीतों की बात है, उनमें प्रयुक्त शब्द सामान्य बघेली की जानकारी रखने वाले व्यक्ति को ही सहजता से समझ में आ सकते हैं।

भाषा का यह प्रयोग क्षेत्रों के हिसाब से भी प्रभावित है। सीधी और सतना जिले की बघेली में तथा रीवा और शहडोल या किसी एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र के बीच की भाषा में पर्याप्त अन्तर दिखाई पड़ता है। सीधी के कुछ क्षेत्रों में मिर्जापुरी का प्रभाव, सतना के कुछ क्षेत्रों में बुन्देली का प्रभाव, शहडोल के कुछ अंचलों में विशिष्ट गोंडी या आदिवासियों के यहाँ बोले जाने वाली बघेली को देखा और समझा जा सकता है। इन अन्तरों के प्रभाव से प्रेमगीतों की भाषा में भी यह प्रभाव दिखता है। शहडोल के कुछ अंचलों में छत्तीसगढ़ी और रीवा के कुछ अंचलों में अवधी का प्रभाव भी लक्षित किया जा सकता है। इन गीतों में खड़ी हिन्दी और अंग्रेजी का प्रभाव भी है, जो इनकी वाचिक परम्परा के कारण है।

प्रेमगीतों में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शब्द शक्तियों का प्रांजल रूप दिखाई देता है। लाक्षणिक प्रयोग का एक उदाहरण दृष्टव्य है-

*कोटकी कोदइया गरम कइ देय
तोरी चढ़ी है जवानी धरम लइ लेय*

व्यंजना शब्द शक्ति का एक उदाहरण दृष्टव्य है-

मोरा बोझा उतार दे हरू लागत जाय

इसका अभिधेयार्थ होगा मेरे सिर का बोझ उतार दो, जिससे मेरे सिर का भार हल्का हो जाये। पर इसका वास्तविक अर्थ व्यंजना शक्ति में है, जिसका आशय है- मैं तेरी प्रीति की पीड़ा से

आहत हूँ। तेरी प्रीति मेरे सिर का बोझ बन गयी है, मेरे ऊपर दया करके मुझे अपनी प्रीति समर्पित कर दे। इसी से मुझे राहत मिलेगी।

प्रेमगीतों में प्रतीक योजना का प्रयोग बहुतायत हुआ है। पति या प्रेमी के लिए प्रतीक रूप में चन्दा, राजा, मैना, भँवरा, गेंदे का फूल, लइंची का बिरवा, करेली आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है, वहीं प्रेमिका या पत्नी के लिए चिरैया, रानी, गजबेल, चम्पा, केला पत्ता आदि का प्रयोग दिखता है।

अलंकार योजना, लोक कवि कभी भी योजनाबद्ध तरीके से नहीं करता। कलात्मक कविता की भाँति अलंकरण की सायास प्रवृत्ति यहाँ नहीं पाई जाती, फिर भी बघेली लोकगीतों में शब्द चमत्कार, वस्तु व्यंजना और भाव व्यंजना से सम्बन्धित अलंकार योजना दिख जाती है। शब्द चमत्कार से सम्बन्धित अनुप्रास अलंकार का एक उदाहरण दृष्टव्य है-

पिया प्यारे के अंगना बरसि रहत्योँ

इसी तरह इस वियोग श्रृंगार के गीत में अनुप्रास की छटा है-

*सूनी सेजरिया सालै मोर छतिया
अजहूँ कन्त घर न आये।*

वस्तु व्यंजना से सम्बन्धित उपमा अलंकार की योजना रूप सौन्दर्य के वर्णन में देखी जा सकती है-

*गोर-गोर मुंह जउन जोंधइया ओंठ लाल जस टेंटी।
आंखी लागै जइसन चिटकी हां घुंघुची के घेंटी
टिकुली लागत है लिलार मा उइ आवा है शुकवा
बीच गाल मा लागै कोउ गोदि दिहिस चोरिलुकवा
लट छिटकइ तो लागइ भुंइ मा उतरा कउनौ बादर ॥*

वस्तु व्यंजना से सम्बन्धित अलंकारों का विशद् प्रयोग इन गीतों में मिलता है। इसके अलावा दृष्टान्त, सन्देह, विरोधाभास, उत्प्रेक्षा, निदर्शना, उदाहरण आदि अलंकारों के प्रयोग इन गीतों में मिलते हैं। प्रेमगीतों की वर्णन शैली की ओर यदि ध्यान दें तो प्रायः दो प्रकार की शैलियाँ हो सकती हैं- वर्णनात्मक और भावात्मक शैली। वर्णनात्मक शैली सौन्दर्य वर्णन, झूले के गीतों और वृहद कथा-काव्यों में देखी जा सकती है, जबकि भावात्मक शैली छोटे गीतों- फाग, राई, बिरहा, टप्पा और अन्य श्रमगीतों में पाई जाती है।

प्रेमगीतों का छन्द विधान भी जगण, रगण, भगण और पिंगल शास्त्र की कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता, क्योंकि यहाँ मात्रिक और वार्णिक छन्दों के चक्कर में लोक रचनाकार नहीं पड़ता। आधुनिक साहित्य में भी जो गीत लिखे गये, उनमें भी यह अनिवार्य नहीं कि वे किसी छन्द में ही हों। हाँ, इन गीतों में कहीं-कहीं तुक और लय के साथ स्वाभाविक छन्द विधान देखा जा सकता है। मात्राओं की बढ़त या घटत इनका स्वभाव है। एक वियोग श्रृंगार का गीत देखें-

*सबके महलिया मा धूम मची हइ
मोरे लेखे जग अंधियार
सबके महलिया बिरिया बरति हइ
मोरे लेखे भादों कीच*

इस गीत में प्रथम, तृतीय चरण में 18-18 मात्राएँ और दूसरे में 16 तथा चौथे में 17 मात्राएँ हैं। अतः यह कोई छन्द नहीं हुआ। दरअसल, लोकगीतों में मुख सुख की सुविधा से दीर्घ को लघु और लघु को दीर्घ पढ़ लिया जाता है। ग्रामीण स्त्रियाँ राग, लय और ताल के अनुसार मात्राओं की घटा-बढ़ी कर लेती हैं। ये गीत इन्हीं त्रुटियों के साथ लिख लिये जाते हैं, इसीलिए छन्द भंग स्वाभाविक हैं। इन सबके बावजूद डॉ. (श्रीमती) विनोद तिवारी ने सुखदा, बिहारी, द्वितीय झूलना, हंसाल, बिरहा, आल्हा, सोहर, झूमर इत्यादि मात्रिक छन्दों को बघेली लोकगीतों में विद्यमान बताया है।

अब कहना यह है कि प्रेमगीतों में भाषा और शिल्प के स्तर पर सचेत रहकर प्रयास के साथ कोई विधान न करने पर भी गीतों की भाव व्यंजना एवं ध्वनि सौन्दर्य देखने लायक है। करुण, श्रृंगार रसों की प्रचुर मात्रा इनमें पाई जाती है। छन्द एकदम ठीक न होने पर भी लय और ताल से युक्त होते हैं और अपनी गेयता में अत्यन्त मधुर और कर्णप्रिय होते हैं। अलंकार और रस भी इनके सहज प्रकृति के अंग हैं, न कि योजनाबद्ध प्रयोग। भाषा और शिल्प के स्तर पर प्रेमगीत पर्याप्त समृद्ध हैं।

लोकगीतों के भी शास्त्रीय गीतों की भाँति दो अंग होते हैं - कविता और धुन अथवा शब्द और स्वर। गीत की रचना प्रायः तीन प्रणालियों में होती है। कुछ रचयिता पहले धुन बनाकर उस पर शब्द बैठाते हैं, कुछ पहले शब्द रचते हैं फिर उसे संगीत देते हैं और तीसरे वे हैं जिनके हृदय से शब्द और स्वर एक साथ निकल पड़ते हैं। आशय यह है कि जब वे किसी भाव विशेष में निमग्न

होते हैं, तब अन्तःप्रेरणा से वे अपने मुख से कविता के शब्द गाते हुए ही निकालते हैं।

लोक गायक मुख्यतः कवि न होकर गायक होता है। वह अपनी आत्माभिव्यक्ति, अनुभूति गीतों में प्रकट कर देता है - शास्त्र का विचार नहीं करता। वह चमत्कार के लिए नहीं, बल्कि भावोद्रेक में, मस्ती में गा उठता है- और ऐसे गीत में कविता और धुन दोनों प्राणवान होते हैं।

लोकगीत संक्षिप्त, सरल, स्पष्ट, स्वाभाविक, सुन्दर, अनुभूतिमय और संगीतमय होते हैं। कदाचित् ही ऐसा कोई लोकगीत हो जो संगीत से अनुप्राणित न हो। उनका संगीत भी लोकजीवन का सफल परिचायक होता है। लोकगीत के चित्तेरों ने इन गीतों के स्वरों व शब्दों में मानो अपनी सम्पूर्ण संवेदनाओं और अनुभूतियों को निष्कपट, सरल और स्वाभाविक ढंग से रख दिया है।

लोक संगीत में अकेले गाने से कहीं अधिक सामूहिक ढंग से गाने का महत्त्व होता है और उसमें स्वर की अपेक्षा लय का अधिक प्रभाव देखा जा सकता है। इन गीतों को अधिकतर कहरवा, दादरा, दीपचन्दी तालों में गाया जाता है। शास्त्रीय संगीत के जानकार भी जानते हैं कि इन तालों के विभागों और ताली खाली आदि से भी 'वजन' अथवा 'लय की चाल' निर्मित होती है, वह कितनी सरल, सुग्राह्य और आकर्षक होती है। मनुष्य मात्र के हृदय में जो प्रधान भाव रहते हैं, उनकी अभिव्यक्ति के लिए ये ताल पर्याप्त हैं। हर्ष, उल्लास, स्फूर्ति, उत्साह और वीरता आदि भावों के लिए कहरवा उपयुक्त है और दादरा भी। दादरा या खेमरा का उपयोग तो श्रृंगार में भी होता है और दीपचन्दी ताल, जो श्रृंगार व करुण आदि भावों की अभिव्यक्ति में विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है। इन तालों का यद्यपि प्रतिकूल रसों में भी प्रयोग हो सकता है। अधिक विलम्बित लय का प्रयोग लोकगीतों में नहीं होता। इसी से दीपचन्दी ताल भी मध्य व द्रुत लय में ही प्रयुक्त होता है।

स्वरों के उतार-चढ़ाव का अधिक वैविध्य और तद्विषयक विविधता लोकगीतों में नहीं मिलती, किन्तु जो भी स्वर प्रयोग उनमें मिलते हैं, वे अपनी सरलता और स्वाभाविकता के कारण हृदय को बरबस अपनी ओर खींच लेते हैं। लोकगीतों में प्रत्येक राग के अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाले असंख्य स्वर समुदायों का विस्तार बिल्कुल नहीं होता। केवल एक दो चुने हुए स्वर प्रयोग ही दिल को खींचने के लिए पर्याप्त होते हैं। उदाहरण के लिए यहाँ पर एक

गीत दृष्टव्य है-

कोयलिया बोलै अमुआ डार पर
ऋतु बसंत को देत संदेशवा
नव कलियन पर गुंजर भंवरा
उनके संग करत रंगरलिया
यही बसंत को देत संदेशवा।

इस गीत को राग मालकौंस के स्वरों में बाँधा गया है, जिससे कि राग के स्वरों का पता चलता है-

आरोह - स ग म ध नि सं

अवरोह - सं नि ध म ग स

पकड़ - ध नि स म ग म ग स

वियोग श्रृंगार का एक गीत दृष्टव्य है-

तेरे देखे बिना चैना नहिं आवै रे
तेरी सांवरी सूरत मन भावे रे
प्रेम पिया हम सोहनी बोलत
दरस बिना जिया जावे रे

इस पूरे गीत को राग सारंग में स्वरबद्ध कर दिखाया गया है।

लोकगीतों में कई बार इतने मार्मिक क्षणों का वर्णन किया जाता है कि वह मन को छू जाता है। वियोग श्रृंगार के एक गीत में प्रियतमा अपने नाराज पति को मनाते हुए पूछती है कि- मेरे प्रति आपके कान किसने भरे हैं, जो कि आप मुझसे बात तक नहीं करते। मैं तो आपके चरणों की दासी हूँ। वह उसे मनाती हुई पुकार उठती है-

किन बैरन कान भरी
मोरो पिया मोसो बोलत नाही
हूँ तो तुमरी चरणन दासी
चरणन सीस धरे।

गीत के इन स्वरों को राग दरबारी कान्हड़ा के स्वरों में बहुत ही मार्मिक अन्दाज में बाँधा गया है।

इन गीतों में कोई भी कठोर शास्त्रीय बंधन न होने के कारण इनकी कोई पंक्ति बहुत बड़ी हो जाती है और कोई बहुत ही

छोटी। परन्तु लोक गायक इन गीतों को गाते समय अक्षरों तथा मात्राओं को इस प्रकार से घटा-बढ़ा लेते हैं कि छन्दाभंग का बिल्कुल पता ही नहीं चलता। इनमें लघु तथा गुरु मात्राओं का नियम बड़ा शिथिल होता है, अतः गवैये इनको गाते समय अपनी सुविधा के अनुसार कहीं लघु मात्राओं को दीर्घ कर देते हैं और कहीं दीर्घ को लघु। बड़ी बात यह है कि अक्षरों अथवा मात्राओं की यह त्रुटि गायन शैली की लयात्मकता में गुम हो जाती है।

संगीतशास्त्र की दृष्टि से लोकगीतों में संगीत का सर्वांगपूर्ण शास्त्रीय रूप नहीं पाया जाता, परन्तु लोक संगीत शास्त्रीय संगीत से सर्वथा पृथक या विरहित है, ऐसा नहीं है। इन लोकगीतों में अधिकतर शास्त्रीय परम्परा के तालों- कहरवा, ताल दादरा, झूमरा, झपताल, तीन ताल, दीपचन्दी आदि का प्रयोग पाया जाता है।

कुल जमा यह कि बघेली प्रेमगीतों का संगीत पक्ष एकदम शास्त्रीय भले न हो, पर उसमें शास्त्रीय परम्परा के रागों से निबद्ध गीत हैं। इन गीतों की अपनी लय है एकदम मात्रिक न सही, पर इनका अपना छन्द है। स्वरों के ह्रस्व और दीर्घ उच्चारण की सुविधा ये गीत अपने लिए लेते हैं और इनकी संगीतात्मकता की रक्षा इसी तरह होती है। कहना चाहिए कि प्रेमगीतों का संगीत पक्ष भी अत्यधिक समृद्ध है।

प्रेमगीतों (लोकगीतों) की यह विशाल परम्परा सतत् प्रवहमान है, यह बात अक्सर कह दी जाती है, लेकिन यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि इन गीतों का प्रवाह बिल्कुल निर्बाध गति से चल पा रहा हो, ऐसा नहीं है। इन गीतों पर नये जीवन मूल्यों का, नई जीवन प्रणाली का, बदलते युग बोध का तथा आज की व्यवसायिक प्रवृत्ति का गहरा प्रभाव पड़ा है और इनका प्रवाह इससे बाधित हुआ है।

लोकगीतों की सी निर्मल अनुभूति, पवित्रता और निश्चलता आधुनिक गीतों में नहीं होती। इनका लक्ष्य केवल सस्ती बाजारू भावुकता ही होता है, लेकिन अब जबकि सारी जीवन प्रणाली ही बदलती जा रही है, तो लोग क्यों न बहती गंगा में बहें। लोकगीतों

के सर्वेक्षण कार्य में मैंने देखा है कि जो हमारा शुद्ध लोकगीत है, वह कहीं गायब होता जा रहा है। सारे संस्कार गीत फिल्मी धुनों में और नयी सामान्य शब्दावली में परिवर्तित होते जा रहे हैं। कृषक और श्रमिक जनता, जिनके यहाँ अधिकांशतया प्रेमगीत पाये जाते हैं, उन्होंने इन गीतों की परम्परा को न तो समझने की कोशिश की है और न ही बचाने की। खासकर नई पीढ़ी के लोग तो जैसे इस बात को अपनी कमजोरी या गंवईपन का परिचायक मानते हैं कि वे अपनी परम्परा के लोकगीतों को गाते हैं। सर्वेक्षण में मैंने पाया कि इन लोगों को बहुत से एकदम आज प्रचलित फिल्मी गाने, दूरदर्शन के विज्ञापनों के गीत, सीरियलों के अधिकांश गीत पूरे के पूरे याद हैं, जबकि उनके अपने गीत उन्हें बिल्कुल याद नहीं।

यह एक नयी-तुली बात है कि फिल्मी गीतों, दूरदर्शन के सीरियलों के गीतों, विज्ञापन गीतों आदि ने लोगों की रुचि को जितना अव्यवस्थित और आजाद बनाया है, उतना किसी और लोकप्रिय संगीत शैली ने नहीं। 'दर्शकों की माँग' का तर्क देकर जिस प्रकार यह चौतरफा हमला किया जा रहा है, उससे सँभलने की और उसे जानने की जरूरत है।

प्रेमगीतों (लोकगीतों) में हमारी जीवन प्रणाली, हमारा रहन-सहन, सामाजिक वैशिष्ट्य इत्यादि स्वयं सन्निहित है और इसको बचाने के लिए स्थानीय स्तर से लेकर ऊपर तक मीडिया पर और अन्य संचार माध्यमों पर इस बात के लिए दबाव डालना होगा कि वह अपने प्रसारणों में इस तरह की वाचिक परम्परा के गीतों का एक बड़ा हिस्सा अनिवार्यतः रखे।

लोकगीतों की उपज का आधार मनोरंजन और अपने राग-द्वेष की अनुभूतियों को व्यक्त करना रहा है। आज यही काम मीडिया कर रहा है। स्वाभाविक रूप से इसको बचाने का काम भी वह कर सकता है। लोकगीत आज भी गाँवों में विविध संस्कारों और त्योहारों के अवसर पर गाये जाते हैं। इनके संरक्षण के लिए इनकी स्वरलिपियाँ तैयार करने की जरूरत है और लोगों की, सामान्य जनता की अभिरुचि इन पारम्परिक गीतों की तरफ मोड़ने की जरूरत है।

मालवा में आदिवासी सत्ता

डॉ. पूरन सहगल

अरावली का पठारी क्षेत्र मालवा के उत्तरी पश्चिमी भाग की सीमा निर्धारित करता है। यह पठार चित्तौड़ की मेवाड़ी सीमा से पूर्व में हाड़ोती सीमा को छूता हुआ विन्ध्याचल से मिल जाता है। इसी बात को हम सीधे-सीधे यँ भी कह सकते हैं कि चित्तौड़गढ़ से गागरोनगढ़ के बीच का भाग दशपुर जनपद का सांस्कृतिक पटल माना जाता है। भाषा, संस्कृति और आकाश को किसी भौगोलिक या राजनैतिक सीमा से लकीर खींचकर अंकित कर पाना कठिन है। दशपुर जनपदीय क्षेत्र मालवा का उत्तर में अन्तिम भाग है। अरावली पठार ही यह सीमा रेखा निर्धारित करता है। जिस प्रकार भारत के उत्तर में हिमालय स्थित है, उसी प्रकार मालवा के उत्तर में अरावली स्थित है।

पूर्व काल में भी दशपुर जनपद की सीमा माध्यमिका (नगरी) से गंगधर तक निर्धारित थी। डग-पिड़ावा और गंगधर अर्थात् झालावाड़ जिले की सीमा से लगाकर कनेरा (कर्णपुरा) की सीमा से भी आगे बढ़कर चित्तौड़ की ओर का समूचा क्षेत्र दशपुर जनपद कहलाता था। संवत् 1859 विक्रमी में डग पर होल्करों की सत्ता थी। तब जावद मेवाड़ के पास था। इस प्रकार राजनैतिक सीमा आगे-पीछे होने के बावजूद भी सांस्कृतिक रूप से यह जनपद मालवा का ही भाग रहा।

आज की स्थिति में इस पठार पर आदिवासी भील समुदाय के लगभग 200 गाँव हैं। इसमें वे गाँव शामिल नहीं हैं, जिनमें आदिवासी अल्पसंख्या में बसते हैं। एक समय था - जब पूरे पठार पर आदिवासी सत्ता स्थापित थी।

आड़ा अवला ठेठ तलक, ज्याँ देखूँ त्याँ भील।

(भील ठिकाणा की विरद, पद-12)

इसी विरद गाथा में आगे कहा गया है-

आड़ा अवला ठेठ ताई, भीलों को इ राज।

कीर, भीर, मीना मुरा, सबै निसाना बाज ॥

आड़ा-अवला', अरावली का ही देशज नाम है। पूरे अरावली पर भीलों का राज था।

हिंगलाजगढ़ इस जनपद का गौरवशाली वनदुर्ग है। यह दुर्ग अनेक बार इस क्षेत्र के राजाओं का शरणस्थल बना। भले ही इस दुर्ग ने चित्तौड़गढ़ की तरह ख्याति अर्जित नहीं की हो, किन्तु मजबूती में यह दुर्ग चित्तौड़ से कमतर कभी नहीं माना गया। अपने समय की सामरिक स्थितियों और मानदण्डों को ध्यान में रखते हुए हिंगलाजगढ़ चित्तौड़ के समकक्ष मजबूत किला था। इसकी बसाहट का श्रेय भील नायक कटार्या को जाता है।

भील ठिकाणा के गाथाकार झलक्या भाट के अनुसार-

मगरा ऊपर मगरो, ज्याँ पे बड़ो पठार।
नीचाँ वेवे तारवली, ऊपरे अमझार ॥ (पद-21)

भील भीलाँ का जोड़ला, मगराँ कर्या मुकाम।
मगराँ कर्या मुकाम, बसिगया, भीलाँ का सब गाम ॥ (पद-29)

हींगल रे भई हींगल, भेंसासरी जी मात।
पेलाँ थापी जगराणी, पछे जिमाड़ी जात ॥

जात जिमाड़ी धापमा, ऊँचो राख्यो नाम।
पेल्या पूज्या हींगलमात ने, पछे वसायो गाम ॥

कटारा रे भई कटारा, भीलाँ को सिरदार।
माता की सेवा खमे, नत का देवे धार ॥ (पद-31, 32, 34)

कटार्या भील ने मगरे पर अपनी इष्टदेवी हिंगलाज माता की स्थापना की। गाथाकार के अनुसार हिंगलाज माता और भेंसासरि माता एक ही रूप में पूज्य हैं। माता की स्थापना के बाद तथा माता की पूजा करने के बाद कटार्या भील ने गाँव बसाया।

हिंगलाज का यह क्षेत्र कटारा या कटार्या भील की सत्ता में था। वही उस क्षेत्र के भीलों का सरदार था।

कटारा भील की भोमका, हींगल मात को हात। (पद-35)

कटारा भील भी इतना शक्तिशाली था कि सारा क्षेत्र उसके भय से थर-थर काँपता था।

भिह्ल-भीलाँ में मान, जगत् सब थर-थर धूजे।
तीर चढ़ावे कामटे, पेलाँ हींगल पूजे ॥

भील कटारो नाम थो, तांबा वरणों डील।
चाले धूजे भोमका, थर-थर धूजे भीले ॥ (पद-33-37)

इसी विरद गाथा के अनुसार उस समय भील सत्ता के मुख्य ठिकानों और तीर्थस्थलों का भी वर्णन झलक्या ने किया है-

संकोदरो, केदावरो, अंतारी, आमद, केतेसर, सुखधाम।
साकर्यो, बुज, रांपरो, भानपर, सालरमालो गाम ॥

खास ठीकाणा हे भीलाँ का, ई दस तीरथ धाम।
छोटा गाम हजारणा, मोटा छप्पन नाम ॥

शंखोद्धार, केदारेश्वर, आँतरी, आमद, केतकेश्वर, सुखानन्द, साकर्याखेड़ी, बुज, रामपुरा, भानपुरा और सालरमाला ये भीलों के मुख्य ठिकाने और तीर्थ थे। ऐसे छप्पन खास ठिकाने थे। छोटे-बड़े तो हजारों भीलगाँव अरावली पठार पर थे।

कटार्या भील के विषय में झलक्या ने इसी गाथा में कहा है-

धजा तो हींगल मात की, भेंसासरि की आन।
मान कटारा भील को, रगत्या भील को मान ॥ (पद-38)

ये कटारा और रगत्या नौ गढ़ों के राव थे।

रगत्या अने कटार्या, नो गढ़ाँ का राव।
हुकुम अदूली जो करे, छाती घाले घाव ॥ (पद-50)

मरने के बाद दोनों भैरव बने। रगत्या का मुकाम आमद और कटारा का मुकाम हिंगलाजगढ़ में बना। आज भी इनके थानक हैं। सर्व जाति में ये सम्पूज्य हैं। हिंगलाजगढ़ के पश्चिमी द्वार का नाम ही कटारा द्वार या कटारा पोल है। यहीं यह वीर युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ। यहीं इसका थानक बनाया गया। इसी प्रकार किसी ठिकानेदार को जीतने और फिर उसे देवता का मान देने के और भी अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। ईस्वी सन् 1247 में एकलगढ़ के भील शासक कोट्या को जेतसिंह ने अपने पिता व ससुर की सहायता से पराजित कर एकलगढ़ पर अधिकार कर लिया। कोट्या भील युद्ध में शहीद हो गया। जेतसिंह ने गढ़ के बाहर कोट्या भैरव की स्थापना कर दी। बाद में शहर का नाम कोट्या के नाम पर कोटा रखा गया। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जब भील जनपदों पर राजपूतों ने अधिकार करके भीलों को शान्त करने के लिए उन्हें 'मान' प्रदान किये। यह उन भीलों की शक्ति को

अपने वश में करने का एक राजनैतिक षड्यंत्र था। गागरोन की स्थापना माधो नामक भील ने की थी।

(मालवा में युगान्तर, डॉ. रघुवीर सिंह, सीतामऊ, पृ.-76)

इधर दशपुर जनपद में तो अनेक ऐसे गाँव हैं, जिनकी स्थापना भीलों द्वारा की गई थी और बाद में राजपूतों ने उन पर अपना अधिकार कर लिया। शामगढ़, भानपुरा, रामपुरा, आमद, हिंगलाजगढ़, कर्णपुरा (कनेरा), सरवानिया, बुज आदि। यदि गिनना शुरू करें तो एक लम्बी सूची बन जाये।

मेरे सर्वेक्षण में कनेरा (कर्णपुरा) से लगाकर अरावली और विन्ध्याचल के संगम गागरोन तक जितने भी देवस्थान अथवा लोक देवियों के आस्था स्थल हैं, वे सभी उन भील वीरों और वीरांगनाओं के ही हैं, जिन्होंने सामाजिक न्याय के लिए, धर्म और मानवता की रक्षा के लिए तथा स्त्री जाति के सम्मान और सतीत्व की रक्षा के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग किया। उनकी अन्तर्कथाएँ जान-सुनकर उनके साहस और वीरत्व का बोध सहज ही हो जाता है। यही कारण है कि वीरगति प्राप्त करने के पश्चात् उन्हें देवत्व का सम्मान देकर जन-जन द्वारा पूजा गया। वे आज भी उसी मान-सम्मान और आस्था के साथ लोक आस्था का केन्द्र हैं।

भील समुदाय के ही समान मीणा समुदाय भी इस क्षेत्र में बहुत प्रभावी था। यह समुदाय यद्यपि भीलों के पश्चात् यहाँ आकर बसा। तथापि ये दोनों आदिवासी समुदाय पूरे जनपद में अपने-अपने स्तर पर शासन चलाते रहे। दोनों समुदायों का कभी भी परस्पर द्वन्द्व नहीं हुआ।

जो जठे ठिकानादार, उठे वणकोई चाले राज।

सबै लड़ाका एक साँ, सबै निसाना बाज ॥

(भील ठिकाना की विरद गाथा, पद-49)

झलक्या ने अपनी विरद गाथा में सब को समान का रुतबा दिया है।

आड़ा-औला ठठ ताई, भीलों को ई राज।

कीर, मीर, मीना, मुरा, सबै निसाना बाज ॥

(वही, पद-39)

श्री ओम शर्मा ने अपने लेख 'हाड़ौती क्षेत्र में भील मीणा जनपद' में लिखा है कि सन् 1235 से 1242 के मध्य बूँदा नाले के भू-भाग पर जेता मीणा का शासन था।

(ट्राइब, वॉल्यूम-29, अंक-1-4, 1997)

भील मीणों का ऐसा ही प्रभाव पूरे हाड़ौती और मेवाड़ पर भी रहा। बाद में राजनैतिक कारणों से यह आदिवासी समुदाय दोनों ओर से मालवा के इस जनपद दशपुर में प्रविष्ट हुआ। स्वाभाविक रूप से यह समुदाय लूट-पाट करता हुआ यहाँ अपना निर्वाह करता रहा। मीणा समुदाय इतना शक्तिशाली था कि यहाँ के सत्ताधारी इन्हें अपने वश में नहीं कर पाये। बाद में मराठों ने अपनी-अपनी स्टेट में इन्हें सम्मानपूर्वक बसा कर 'गाँवधनी' बनाकर पटेल का मान दिया। यह पटेली एक प्रकार से छोटे ठिकानेदार की हैसियत का रुतबा था। गाँव पटेल शासन का प्रतिनिधि होता था। वह अपने प्रभाव क्षेत्र से तोजी-लगान तो वसूल करता ही था। उस क्षेत्र में शान्ति व सुरक्षा भी बनाये रखता था। कई पटेलों को तो दण्ड देने के अधिकार भी प्राप्त थे। आज भी गाँव पटेल का मान बराबर बना हुआ है। मीणा पटेलों ने अपनी कुशलता से जिस प्रकार अपने क्षेत्र में शान्ति-सुरक्षा स्थापित की, वैसी व्यवस्था तत्कालीन सत्ताधारी अपने अधिकारियों द्वारा नहीं कर सकते थे।

सत्ता के विकेन्द्रीकरण का इससे श्रेष्ठ उदाहरण अन्यत्र कहीं भी मिल पाना बहुत ही दुर्लभ है। आज जिस पंचायती राज की हम स्थापना करके यह बात कहते नहीं अघाते कि हमने सत्ता का विकेन्द्रीकरण कर दिया है, एक अधूरा सच है। पूरा सच तो यह है कि भारत के स्वराज्य की सुधारणा 'पटेली राज' में पूर्व से ही चली आ रही थी। समय और परिस्थितियों के अनुसार उनमें कुछ स्वाभाविक दोष आ गये थे, किन्तु हम उस स्वचालित शासन व्यवस्था की प्रशंसा किये बिना भी नहीं रह सकते।

मीणा समाज आज भी इस जनपद का एक महत्वपूर्ण समाज है। अरावली की तलहटी से लगाकर पूरे जनपद में मीणा समाज का विस्तार एवं व्यवस्था हमें आज भी प्रभावित करती है। आज भी ऐसे कई गाँव हैं, जहाँ चुने हुए सरपंच के अलावा भी गाँव के लोग पटेल के निर्णय का आदर करते हैं।

दशपुर जनपद का भील आदिवासी समुदाय सत्ता विहीन होने के पश्चात् धीरे-धीरे उपेक्षित होता चला गया। उनकी जमीनों पर तबके सत्ताधारियों, उनके ठिकानेदारों व साहूकारों ने अधिकार कर लिया। भील समुदाय गरीबी, बेरोजगारी और अन्ततः बेगारी जैसी बन्धुआ आर्थिक जकड़न में कस दिया गया। आज सबसे अधिक दयनीय स्थिति में यही समुदाय अपना जीवन यापन कर रहा है।

मीणा समुदाय अपने श्रेष्ठी दम्भ के कारण सम्पन्न होकर भी विपन्नता का जीवन जीने के लिए बाध्य है। इस जनपद का मीणा समुदाय यहाँ स्वयं को रावत और राजपूत वर्ग के तुल्य मानने की घोषणा करता हुआ मूँछों पर बल देता थकता नहीं, किन्तु राजस्थान के मीणा आदिवासी समुदाय से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने में भी पीछे नहीं रहना चाहता। कितनी बड़ी विसंगति है कि दशपुर जनपद या समग्र मध्यप्रदेश की बेटी राजस्थान में जाकर अनुसूचित जनजाति में शामिल हो जाती है और राजस्थान की अनुसूचित जनजाति वर्ग की बेटी मध्यप्रदेश में आकर पिछड़ा वर्ग में शामिल होने के लिए बाध्य हो जाती है।

अशिक्षा और सामाजिक कुरीतियों का शिकार हमारा यह समुदाय अपने ही निकट के पड़ोसी राज्य से हर तरह से पिछड़ता चला जा रहा है। यदि इस वर्ग के कुछ गिने-चुने लोग विकास मार्गी हुए हैं, तो यह उनका व्यक्तिगत प्रयास है।

यहाँ का समूचा आदिवासी समुदाय जिसमें मैं मीणा समुदाय को भी शामिल मानता हूँ, आज सामाजिक अन्याय के अभाव में दिन-ब-दिन पिछड़ता जा रहा है। स्वतंत्रता के 58 वर्षों के पश्चात् भी इस वर्ग की सामाजिक परतंत्रता समाप्त नहीं हो सकी है। इसके लिए कोई ठोस अथवा कारगर प्रयास किया गया हो, इसके भी कोई संकेत नहीं दी दिख पड़ते।

कहावतों में भीली जीवन

व्यंकटराव यादव

भीली बोली का प्रयोग मध्यप्रदेश के झाबुआ, धार, रतलाम तथा गुजरात के दाहोद जिलों में होता है। यद्यपि इस बोली का लिखित साहित्य तो अधिक नहीं मिलता, पर इन जिलों में काम कर रही ईसाई मिशनरीज ने भीलों के परम्परागत लोकगीतों, लोककथाओं और कहावतों को देवनागरी में लिपिबद्ध करने का स्तुत्य प्रयास किया है। यदि भील समाज का विश्वास अर्जित कर भीली कहावतों के उद्गम और व्युत्पत्ति का सूक्ष्म अध्ययन करने का प्रयास किया जाये, तो भील जनजाति की चरित्रगत विशेषताओं और उनकी मान्यताओं आदि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है। अब से कोई चार दशक पहले संगृहीत भीली कहावतों में से कुछ ऐसी कहावतें यहाँ प्रस्तुत हैं।

जब मैदानी एवं उपजाऊ भूमि पर आर्यों-सवर्णों का अधिकार हो गया, तो भीलों को वनों और पहाड़ों में ही शरण मिली। यहाँ की ऊबड़-खाबड़ और ऊँची-नीची जमीन मैदानी इलाकों की अपेक्षा कम उपजाऊ तो है ही, पर दुबले में दो आषाढ़ कि यहाँ सिंचाई के साधन भी अत्यन्त अपर्याप्त हैं। फलस्वरूप भील को जीवन-यापन हेतु वर्षा में उत्पन्न होने वाली एक ही फसल पर निर्भर रहना पड़ता है। वर्षा के बाद वनोपज संग्रह या दैनिक मजदूरी, जहाँ भी, जैसी भी मिले, उसके जीवन का आधार होती है। बावजूद राहत कार्यों के मजदूरी का मिल पाना भी सदैव सुनिश्चित कहाँ होता है? अतः मजदूरी भी न मिल पाये तो उधार का ही सहारा लेना पड़ता है। एक बार का उधार लिया हुआ कोई बड़ा ऋण एक पूरे जीवन-काल में भी पूर्ण रूप से चुका पाना प्रायः असम्भव होता है, क्योंकि एक तो ब्याज की दर ऊँची और दूसरे सेठ के द्वारा हर वर्ष या छःमाही में खाते का नवीनीकरण कराया जाना भील को चक्रवृद्धि ब्याज के कुचक्र में बुरी तरह फँसा देता है। इसीलिए कहावत बनी 'उधार ने इन्धार' अर्थात् एक बार उधार लिया तो मानो गहन अंधकार भरी सुरंग में ही फँस गये।

ब्रिटिश शासनकाल में भारतीय कृषकों की आर्थिक स्थिति की जाँच के लिए बैठाये गये रॉयल कमीशन ने अपनी रपट में कहा था- 'भारतीय किसान कर्ज में जन्मता है, कर्ज में जीता है और कर्ज में ही मरता है।' आज आधी सदी से ऊपर का अरसा बीत जाने पर भी इस रपट का कथन चाहे सारे भारतीय कृषकों पर लागू न होता हो, पर भील समाज पर तो यह आज भी घटित होता है। स्वयं भील समाज भी इसे अच्छी तरह समझता है। इसीलिए जब भील का बालक रोता है तो काम में लगी हुई भील-नारी उसे गोदी में लेकर चुप कराने के बजाय रोते ही रहने देती है, मानो वह पालने में ही उसे कठिन भावी जीवन का प्रशिक्षण देकर तैयार कर रही हो। ऐसी परिस्थिति में यदि कोई सदय होकर उस बच्चे को गोद में उठा लेने की कहता है, तो इस कहावत के माध्यम से वह कितना सुन्दर उत्तर देती है-

ढोली नुं सोरुं गाद्यो नी मरे । भील नुं सोरो रोद्यो नी मरे ।

अर्थात् ढोली का बच्चा चाहे जितना गाये और भील का बच्चा चाहे जितना रोये, वह नहीं मरेगा ।

वन का निवास और अन्न का अभाव भील को बाध्य करता है कि वह जंगल में जानवरों का शिकार कर अपना पेट भरे । यों शौक के लिए भी शिकार किया जाता है । शिकार के अवसर पर भील अपने पालतू शिकारी कुत्ते को अपने साथ रखना नहीं भूलता । शिकार के मांस में से कुत्ते को भी अपना भाग मिलता है, अतः वह भी शिकार के लिए सदैव तत्पर रहता है । इसलिए जब कोई व्यक्ति किसी कार्य को करने में आनाकानी करता है, तो उसकी अनिच्छा और तत्परता के अभाव पर इस भीली कहावत के माध्यम से चोट की जाती है-

उपाङ्घो कूतरो आवङ्गे नी सङ्गे ।

अर्थात् जिस कुत्ते को स्वयं शिकारी को ही उठाकर ले जाना पड़े, वह भला क्या शिकार करेगा? सच है कि अनिच्छुक व्यक्ति से सहायता की अपेक्षा व्यर्थ है ।

इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति काम तो करे, पर उसका परिणाम नगण्य हो तो उसे चाहे सीधे-सीधे कुछ न कहा जाये, पर यह कहावत सुना दी जाती है-

आखी रात दळ्युं ने ढांकणी मां वळ्युं

अर्थात् पीसा तो सारी रात भर, पर आटा इतना हुआ कि मटके पर ढाँकने के ढक्कन में ही समा गया । समझदार के लिए यह प्रच्छन्न फटकार उसे भविष्य के लिए अपने कार्य से उचित परिणाम देने की प्रेरणा देती है ।

तथाकथित सभ्य और नागर जनों के धर्म में भले ही दीक्षित न हो, पर भील स्वभावतः ही धर्म-भीरू होता है । पाप से वह भी घृणा करता है, छिपकर किये गये पाप से और भी अधिक । देखिए, निम्न कहावतें किस प्रकार ऐसी भीली मान्यताओं को उजागर करती हैं-

पाप मोबङ्गे सङ्गी ने बोले

- पाप छत पर चढ़कर चिल्लाता है ।

पाप नो घड़ो फूट्याँ बगर नें रे

- पाप का घड़ा फूटे बगैर नहीं रहता ।

सोर नी हांडी हींके सङ्गी नें अने सङ्गे नें

- चोर की हंडी कभी सींके पर नहीं चढ़ी और न ही चढ़ेगी ।

अर्थात् चोरी करके कोई भी इतना धन बचाकर नहीं रख सकता, जिसे वह संग्रह करके रख सके । वास्तव में भीली जीवन में इसका प्रत्यक्ष उदाहरण देखा भी जाता है, जब अधिकांश चोरियों में मोटे माल के बजाय कुछ अनाज, कुछ मुर्गियाँ और कुछ बकरियाँ ही चोरी जाती हैं, जो एक-दो दिन की दावत उड़ाने के लिए ही पर्याप्त होती हैं ।

सत्य की महिमा गाने वाले तथाकथित सभ्य नागरजन भी नग्न सत्य के बजाय प्रिय सत्य ही बोलना पसन्द करते हैं । संस्कृत सूक्तिकार ने कहा भी है-

सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।

सत्य तो बोले पर प्रिय सत्य बोले, अप्रिय सत्य कभी न बोले । भील भी झूठे को झूठा कहने के अप्रिय सत्य को बोलने से बचना चाहता है, पर दुशाले में लपेटकर मारे गये जूते की तरह उस पर इस कहावत के माध्यम से वार कर ही देता है-

पाणी के ज्यां कादव नी मळे

- यह व्यक्ति जहाँ पानी बताता है! वहाँ तो कीचड़ भी नहीं मिलता ।

शोषण चाहे साहूकारों द्वारा हो या सेवा के लिए नियुक्त 'सेवकों' द्वारा-भील इस शोषण को अपनी नियति मानकर सन्तोष करता है । भीली कहावत है-

भोळं नो भगवान से !

- भोले का सहायक भगवान ही होता है ।

भगवान पर यह विश्वास ही भील का सम्बल है, उसके जीवन पथ का पाथेय है । निर्बल के बल राम ।

शोषण को अपनी नियति मानकर भील इसे सहन भले ही कर ले, पर शोषक के पतन पर हार्दिक प्रसन्नता को वह इस कहावत के माध्यम से अभिव्यक्ति दे ही देता है-

एक कागलो मरे ने हो डाहद्याँ ना हेंग ठाले

- एक कौआ मरता है और सौ गायों के सींग प्रसन्नता से हिल उठते हैं।

शोषक की मृत्यु या पतन की वह उत्सुकता से प्रतीक्षा करता है। देखिए, यह कहावत-

खोटो खोवाय नें ने भूंडु मरे नें

- अर्थात् खोटा सिक्का गुमता नहीं। बुरा व्यक्ति मरता नहीं।

‘परोपदेशे पांडित्यं’ की कहावत को आत्म-निरीक्षण के लिए प्रयोग करने वाली इस भीली कहावत का भी तेवर देखिए-

वेगळुं बळे, हगळ्यां भाळे, पोग मां बळे ते कोण भाळे?

- अन्यत्र जो जलता है उसे तो सब देखते हैं, पर अपने ही पाँवों के नीचे जो जल रहा है, उसे कौन देखे?

भील की खेती की कमाई चाहे पर्याप्त न हो, पर फसल आने की प्रसन्नता के क्षणों में उसमें से भी थोड़ा-बहुत दान करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती ही है, क्योंकि तब ही तो उसके पास देने को ‘कुछ’ होता है। इस समय खलिहान में से कोई याचक विमुख नहीं जाता। प्रेमचन्द जी के ‘सुजान भगत’ को यदि उसका कमाऊ पूत दान देने से रोकने की चेष्टा करता है, तो वह इस कहावत में उत्तर देता है-

आल्यां मेल्यां आड़ा आवे मरती वळ्यां !

- अर्थात् दिया हुआ दान ही मरते समय काम आता है। कौन कहेगा कि धर्मभीरुता का टेका तथाकथित ‘चोखियार’ लोगों ने ही ले रखा है? भीलेतर उच्च जातियों के लोगों को ही भीली-भाषा में चोखियार कहा जाता है।

भोला भील यदि अपने सामान्य परिप्रेक्ष्य में अच्छा सेवक और अच्छा मित्र है, तो वहीं अपने मर्यादित अहं को, स्वाभिमान को चोट या ठेस पहुँचाने वाले का वह उतना ही कट्टर शत्रु भी है। वह स्वयं के लिए कहता है-

भीळ नुं वेर उदेऊ नें खाय

भील के बैर को दीमक भी नहीं खा सकती। इस मायने में वह उस राजपूती आन का अनुसरण करता है, जिसमें माना जाता है कि उस बेटे को धिक्कार है, जिसके बाप का शत्रु जीवित है। इसी भाव को एक और कहावत में यों अभिव्यक्ति दी गई है-

खारड़ा में काटो ने भील नो आंटो हदाँ रे

जैसे चमड़े के तले वाले जूते में घुसा हुआ काँटा चाहे टूट जाये पर निकल नहीं सकता, वैसे ही भील के मन में गड़ा हुआ बैर भी कभी समाप्त नहीं होता।

अब तक उद्धृत कहावतों से यह न समझ लिया जाये कि केवल उद्धृत दर्प या कोरा स्वाभिमान ही चरित्रगत विशेषता है। विनम्रता भी उसमें कूट-कूटकर भरी है। अपनी कमियों को, खामियों को वह अच्छी तरह जानता है। कहावत है-

भील ने ज्ञान नें ने दाँतड़ी ने म्यान नें

अर्थात् भील को ज्ञान नहीं और दाँती (हँसिये) को म्यान नहीं। जो स्वभाविक रूप से ही वक्र है, वह सीधे म्यान में समा ही कैसे सकता है? अपनी त्रुटियों को वह केवल जानता ही नहीं, पर उन्हें छिपाने के स्थान पर आत्मस्वीकृति द्वारा उन्हें प्रकट कर देने की भील की प्रवृत्ति पर गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी इस चौपाई में प्रकाश डाला है-

यह हमार अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चुराई ॥

चित्रकूट में गुरु वशिष्ठजी से वह कहता है कि हमारे पास यद्यपि देने को कुछ नहीं है, पर आप तो हमारी इसी सेवा को बड़ी सेवा मानिये कि हम आपके कपड़े-लत्ते, बर्तन-असबाब आदि नहीं चुरा रहे हैं।

भील की निरक्षरता मिटाकर उसे ‘अज्ञान’ से ‘सज्ञान’ बनाने वालों को उसका एक ही उत्तर इस कहावत के माध्यम से दिया जाता है-

सवदा ई विद्या सवड़ा मां

अर्थात् चौदह विद्याएँ चवड़े में हैं। ‘चवड़ा’ हल का वह अगला भाग है, जो धरती में धँसकर जमीन खोदता चलता है। अर्थात् खेती करना ही हमारा मुख्य धन्धा है, अन्य विद्याएँ सीखकर क्या करेंगे?

गरीबी मिटाने और रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाने के प्रयासों की ओर से यद्यपि भील उदासीन नहीं हैं, फिर भी वह अपनी सीमाएँ जानता है। ऊँचे-ऊँचे सब्जबाग दिखाने वालों को उसका उत्तर इस कहावत में निहित है-

खाँखरा नी खली हूँ जाणे हग नो हवाद?

अर्थात् पलाश के वृक्ष पर निवास करने वाली गिलहरी डालपक आम (साग) के स्वाद को क्या जाने? हिन्दी कहावत 'बन्दर क्या जाने अदरक का स्वाद' में यदि व्यंग्य का लक्ष्य कोई और है तो यहाँ व्यंग्य का लक्ष्य स्वयं कथनकर्ता ही है।

रूखा-सूखा खाना और लंगोटी पहनकर जीवन यापन करना ही जिसने अपनी नियति मान रखी हो, वह सुविधाओं की लूट-खसोट के इस युग में स्वयं को 'भागते भूत की लंगोटी' भी न मिल पाने का दुःख नहीं पालता। सुविधाओं के असमान वितरण पर अपना व्यंग्य किन्तु साथ ही परिस्थिति पर अपना सन्तोष भी वह इस कहावत के माध्यम से व्यक्त कर देता है-

पागड़्याँ वाळा रे ने सींग्दर्याँ वाळा ए कूण पूसे?

पागड़ियों वाले तक तो वंचित रह जाते हैं। तब फिर चीथड़े धारण करने वाले हम लोगों को भला कौन पूछेगा? भीली क्षेत्र में यदा-कदा होने वाले मंत्रीगणों के दौरों में दिये गये आश्वासन भले ही आशा की किरणें जगा दें, पर उक्त कहावत में पूछे गये शाश्वत यक्ष प्रश्न का उत्तर दे पाना पूरे भारतीय समाज के लिए एक चुनौती है।

कोरे सैद्धान्तिक विवेचनों और ध्वनि विस्तारकों पर ऊँचे मंचों से दिये जाने वाले लम्बे भाषणों को प्रत्यक्ष में तो वह बड़े ध्यान से सुनता दिखाई देता है, पर भीड़ छूट जाने के पश्चात् उसके द्वारा की गई प्रतिक्रिया भीलों की आपसी बातचीत में इस कहावत द्वारा प्रकट होती है-

बामणवारो बवरोटो हे

अर्थात् सब ब्राह्मण द्वारा कही जाने वाली कथा जैसी बकवास है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी तो कहा था-

पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे ॥ !

उपर्युक्त भीली कहावत और भी सूत्र रूप में हमारी असमान वितरण वाली सामाजिक व्यवस्था और भीली क्षेत्र के विकास के लिए किये जा रहे प्रयासों पर अर्थ-व्यय के आनुपातिक प्रमाण में परिणामों की अपर्याप्तता पर मीठा व्यंग्य ही कही जा सकती है।

परिस्थितियों से जूझ-जूझकर उसने इस सत्य को हृदयंगम कर लिया है कि जब अभावों के बीच जीना ही उसकी नियति है, तब फिर शिकवे-शिकायत करने की आदत पाली ही क्यों जाए? क्यों न 'जाही विधि राखे राम ताही विधि रहिये' - क्यों व्यर्थ की चिन्ताओं में पड़कर रात की नींद हराम की जाये? इसी निश्चिन्तता को अभिव्यक्ति देती हैं ये कहावतें-

भुखला तो भुखला पण सुखला तो हां

अर्थात् हम भूखे हैं तो भूखे सही पर सुख से तो हैं। और-
भील भाई नें डागळे दीवो

('डागला' वह ऊँचा मचान है जो खेती का नुकसान करने वाले पशु-पक्षियों को भगाने और खेती की रखवाली के लिए बनाया जाता है।) भील भाई के डागले पर दिया हमेशा जलता रहता है।

लोक जीवन का राग

डॉ. महेशचन्द्र शांडिल्य

लोकगीतों का इतिहास उतना ही प्राचीन है, जितना कि मानव का इस धरा पर अवतरण। शिशु जन्म के साथ ही शिशु का 'केआं-केआं' की आवाज, उसकी किलकारी, खिलखिलाना और रिरियाने के भाव से ही सम्भवतः सर्वप्रथम लोक साहित्य की उत्पत्ति हुई होगी। निस्सन्देह लोकगीत अपने मूल रूप में आदि मानव का उल्लासमय संगीत है। समस्त जन समाज में चेतन-अचेतन रूप में, जो भावनाएँ पद्यबद्ध होकर व्यक्त हुईं, उन्हीं को लोकगीत का नाम दिया गया। आश्चर्यजनक किन्तु सुखद है कि मानव हृदय में उठने वाली मूल भावनाएँ समान ही होती हैं, और वही भाव जब गीत के माध्यम से मुखरित होता है, तो वह लोक जीवन का अभिन्न अंग बन जाता है।

लोकगीतों में अद्भुत जादुई जीवन्तता है। जीवन की समस्त रागात्मक प्रवृत्तियों का सांगोपांग चित्रण लोकगीतों में हुआ है। यह भी कम आश्चर्य नहीं कि बार-बार गाये जाने पर भी इन गीतों की ताजगी में कोई फर्क नहीं पड़ता। लोकगीत शब्द और स्वर के दोहराव से संचरित होते हैं। दोहराव लोकगीतों का गुण है, उसकी शक्ति है, जिसके कारण, नई पीढ़ी सरलता से स्मृति कोश में गीत ग्रहण करने में सक्षम होती है। पीढ़ी दर पीढ़ी गाये जाने वाले ये लोकगीत मानस में निरन्तर हर्षोल्लास का मंत्र फूँकते रहते हैं।

लोकगीत किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं होते। लोकगीत समूहगत रचनाशीलता का परिणाम है। लोकगीतों में रचयिता और रचनाकाल की कोई गणना नहीं होती। कितने ही अनाम रचयिताओं ने अपने नाम और काल को विगलित कर दिया, इसलिए लोकगीत कालजयी हो गए। लोकगीतों में सबसे महत्त्वपूर्ण जीवन की मूल सत्यानुभूति की अभिव्यक्ति का सहज साक्षात्कार होता है। जीवन को अखण्डित रूप से देखने की दृष्टि लोकगीतों में जबर्दस्त होती है।

लोकगीतों में व्यक्तिगत अभिव्यक्तियों का कोई स्थान नहीं होता। लोकगीतों के मूल में समष्टिगत अभिव्यक्ति होती है। एक लोकगीत को बनने में, अनुभव से गुजरते हुए उसे सौ से भी अधिक वर्ष लग सकते हैं। एक लोकगीत पीढ़ियों के खरे अनुभव से तपकर बनता है, तभी तो उनकी मार्मिकता, काव्यात्मकता, रसोद्रेकता, संगीतात्मकता अधिक सरल, मधुर, स्पष्ट और व्यापक होती है।

सांस्कृतिक और क्षेत्रीय वैशिष्ट्य के कारण मध्यप्रदेश चार अंचलों में विभक्त है। निमाड़, मालवा, बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड।

प्रत्येक अंचल के लोक साहित्य, कला और संस्कृति में वहाँ की माटी की सोंधी सुगन्ध, निजता और मौलिकता दिखाई देती है। जहाँ एक ओर प्रदर्शनकारी और रूपंकर कला विधाओं का अपना महत्व है, तो दूसरी ओर वाचिक परम्परा में लोक साहित्य भी विपुल और समृद्ध है।

लोक साहित्य के अध्येता और विद्वान संकलन कार्य में संलग्न हैं। इस भूमण्डलीकरण की दौड़ में जो कुछ लोक समाज और जनजातीय वाचिक परम्परा में आज भी बचा है, कहीं वह विलुप्त न हो जाये, इसलिए इन विधाओं के संरक्षण, संवर्धन और प्रोत्साहन के लिए विनम्रतापूर्वक प्रयास होना ही चाहिए।

मध्यप्रदेश का बुन्देलखण्ड अंचल जहाँ एक ओर वीरों की शौर्य गाथाओं के लिए प्रसिद्ध रहा है, तो वहीं दूसरी ओर लोक साहित्य, कला और अपनी संस्कृति में अग्रणी है। कोई ऐसा अवसर नहीं जब गीत न गाये जाते हों। चाहे मांगलिक अवसर हो, तीर्थयात्रा हो या कृषि कार्य हो - प्रत्येक अवसर के अलग-अलग गीत हैं। यहाँ का गीत-संगीत भी मनमोहक और हृदयस्पर्शी है। यहाँ के राई नृत्य ने विदेश में भी अपनी धूम मचाई है। राई, बुन्देलखण्ड की पहचान है।

संस्कृति सम्पन्न बुन्देलखण्ड का लोक साहित्य विपुल और समृद्ध है। यहाँ बुन्देलखण्ड के बन्ना-बन्नी गीत द्रष्टव्य हैं-

सो आज मोरे राम जू खां तेल चढ़त है,
तेल चढ़त है, फुलेल चढ़त है।
सोने कटोरा में तेल भरायो,
सो हरदी मिला के कैसो झलकत है।
चार जने मिल तेल चढ़ायो,
सो नारन मंगल गीत मढ़त हैं।

(गायिका : कु. उपासना सिंह, खजुराहो)

आज मेरे राम जैसे बन्ना को तेल, हल्दी और फुलेल लगाया जा रहा है। तेल, हल्दी लगाने पर बन्ना सोने जैसा झलक रहा है। इस अवसर पर नारियाँ मंगल गान बनरा गा रही हैं।

अबेरे दूल्हा काये सजे महाराज।
बना के आजुल को भारी परिवार,
सजत बेरा हो गई महाराज।
बना के काकुल को भारी परिवार,
सजत बेरा हो गई महाराज।

बना के फूफा को भारी परिवार,
सजत बेरा हो गई महाराज।
बना के जीजा को भारी परिवार,
सजत बेरा हो गई महाराज।
बना के मामा को भारी परिवार,
सजत बेरा हो गई महाराज।

(गायिका : कु. राधा रायकवार, खजुराहो)

हे दूल्हे राजा! तुम्हें सजने-सँवरने में इतने देर क्यों हो गयी? प्रत्युत्तर में कहा गया है कि- बन्ना के आज्ञा, पिता, काका, फूफा और मामा का इतना बड़ा परिवार है कि सभी ने दूल्हे को सजाया-सँवारा, इसलिए देर हो गयी।

लेके धनुष भये ठाड़े री,
कोउ छबि तो निहार लेव।
अति सुकुमारी, उमरिया बारी,
कोमल करन बिच धारे री,
कोउ छबि तो निहार लेव।
इक उंगली के सहारे उठाके,
घुमा-फिराकर ताने री,
कोउ छबि तो निहार लेव।
श्री अवधेश के कुअर नृपत ने,
संकट जनक के टारे री,
कोउ छबि तो निहार लेव।
कंचन कुअर धन्य वो जननी,
जिन ऐसे सुत जाये री,
कोई छबि तो निहार लेव।

(गायिका : श्रीमती सूरीबाई, करछा, बाँदा)

हे सखी! देखो, बना राम की छवि अति सुन्दर है। वे अपने कोमल हाथों में धनुष-बाण लेकर तान रहे हैं। बना राम ने जनक और अपनी प्रजा के संकटों को टाला है। उन्होंने सदैव अपने भक्तों के दुःखों को दूर किया है। उनकी माता धन्य है, जिसने ऐसे वीर और दयालु राम को जन्म दिया।

छूटे रे मोरी माई जनकपुर।
मइया से भेंटी है माझ घरन में,
भेंटी है कंठ लगाई री, मोरी माई जनकपुर।
सबरी सखियाँ अँगनवा में भेंटी,
रीत रही समझाई री, मोरी माई जनकपुर।

बाबुल-वीरन गलिन बिच भेंटे,
सब मरयादा बिसराई री, मोरी माई जनकपुर।
राम सिया की वा छबि देखो,
चतुर रये शीश नवाई री, मोरी माई जनकपुर।

(गायिका : श्रीमती सूरीबाई, करछा, बाँदा)

बन्नी सीता कह रही है कि अब मैं परायी हो गई हूँ, मेरा मायका छूट रहा है। मैं अपनी माँ से मझघर में कण्ठ लगाकर मिली। सखियों से आँगन में मिली तो उन्होंने मान-मर्यादा की सीख दी। मैंने सब मर्यादा लाँघकर गली में अपने पिता और भाई से भेंट की। राम सिया की जोड़ी भली लग रही है। इस गीत में मझघर का अभिप्राय - घर के जिस कमरे में जन्म हुआ से है। आँगन यानी जहाँ सखियों के साथ खेलने से और गली का आशय जहाँ बचपन बीता से है। पिता, घर और परिवार की आशीर्वाद रूपी छत है, माँ ममतामयी गोद की फर्श है, भाई भुजाओं के खम्भे हैं। विदा के अवसर पर उनसे मिलन कितना सुखद और मार्मिक है - उसका वर्णन शब्दों से नहीं किया जा सकता।

देखो रानी कुँवरगणेश ललन को पलना झुलावे जू।
सखियाँ होकर प्रेम विभोर, मंगल गीत सुनावे जू।
कोई खड़ी आरती करती, अपने भाग्य सराहे जू।
कोई-कोई लालन को पुचकारे, कोई-कोई कंठ लगावे जू।
लाले लग न जाये नजरिया, राई नोन उतारे जू।
जाको शेष शारदा ध्यावे, शंकर पार न पावे जू।
सोई त्रिभुवन पति दीनानाथ, ओरछा आन बिराजे जू।
इनको प्रेम सहित जो ध्यावे, सुख सम्पत्ति सब पावे जू।
झाँकी वाकी निरख भरोसे, जीवन सफल बनावे जू।

(गायिका : कु. उपासना सिंह, खुजराहो)

मध्यप्रदेश का ओरछा रामराजा के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ की रानी कुँवरगणेश रामभक्त हुई हैं। रानी की भक्ति और तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान राम स्वयं अयोध्या से ओरछा धाम पधारे। इस सम्बन्ध में जनश्रुति है कि भगवान राम दिन में ओरछा रहते हैं और रात्रि में अयोध्या। यहाँ राम भगवान नहीं, राजा के रूप में विराजित हैं, इसलिए राम 'रामराजा' के रूप में पूजित हैं। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में रामभक्त रानी कुँवरगणेश का नाम बड़े आदर व सम्मान के साथ लिया जाता है, इसीलिए इस बन्ना गीत में रानी कुँवरगणेश के नाम का उल्लेख है। रानी ललन को पलना में झुला रही है, सखियाँ मंगल गान कर रही हैं। इस अवसर पर सखियाँ

ललन राम की आरती करके अपने को सौभाग्यशाली मान रही हैं। कोई सखी ललन को दुलार-पुचकार रही है, तो कोई कण्ठ लगा रही है। ललन राम की छवि इतनी सुन्दर है कि कहीं उन्हें नजर न लग जाये, तो सखियाँ राई-नोन से नजर भी उतार रही हैं। ललन राम की लीला अपरम्पार है। उनकी इस लीला को भगवान शंकर भी न जान सके। वो त्रिभुवनपति, दीनानाथ ओरछा में आकर बस गये। ऐसे 'रामराजा' को मेरा बारम्बार प्रणाम है।

बने दूल्हा है आज श्रीराम जू, सोहत बदन श्याम जू।
सोहत सिर पे मोर, माथे तिलक पड़ी है खोर,
को है जग में इनकी समसर ओर,
जे हैं त्रिभुवन के नाथ, सुख धाम जू। सोहत बदन श्याम जू।
राजा दशरथ हैं जाये, ब्याहन सीता जू खां आये,
चारउ भइया संग सुहाये,
जिन्हें लरजत है देख कोटि काम जू। सोहत बदन श्याम जू।
जबसे जनकपुरी पग धारे, लागे नर नारिन को प्यारे,
दरशन करत होत सुख सारे,
बनी मूरत जा ललाम जू। सोहत बदन श्याम जू।
इनकी बार-बार बलि जाउ, निशदिन चरनन शीश नवाउं,
स्वामी भक्ति तुम्हारी गाउं,
करो किरपा करो भगवान जू। सोहत बदन श्याम जू।

(गायिका : श्रीमती बेटीबाई कुशवाहा, दिलनिया, छतरपुर)

आज रामजी दूल्हा बने हैं, उनकी श्यामल छवि अति सुन्दर लग रही है। उनके शीश पर मोर-मुकुट और माथे पर तिलक शोभायमान है, उनके समान और कोई दूसरा नहीं है। राजा दशरथ के पुत्र सीताजी को ब्याहने आये हैं और उनके साथ तीनों भाई भी हैं। चारों भाइयों की सुहानी छवि देखकर कोटि कामदेव भी लजा रहे हैं। जनकपुरी में श्रीराम के दर्शन से वहाँ के नर-नारी आत्मिक सुख और आनन्द विभोर हो गये हैं। भगवान श्रीराम से प्रार्थना कर रहे हैं- हे प्रभु! हम पर सदैव आपकी कृपा बनी रहे। हम आपकी भक्ति और गुणगान करते रहें।

शंकर भोले भाले बनरा बन आये,
विषधर बिच्छू वाले, बनरा बन आये।
जटाजूट का मौर बनाये, विषधर काले गले लिपटाये,
माथे उनके चन्द्र सुहाये, सोहे बिच्छू वाले। बनरा बन आये।
ब्रम्हा विष्णु बने बराती, वर की शोभ वरन न जाती,
विष्णु हिये न हँसी समाती, पिये भंग के प्याले। बनरा बन आये।

गवरा जू माँ को समझाये, काहे मइया तू घबराये,
शिव लीला कोई जान न पाये, इनके भेष निराले। बनरा बन आये।

(गायिका : श्रीमती बेटीबाई कुशवाहा, दिलनिया, छतरपुर)

भगवान शिव दूल्हा बनकर आये हैं। उनका वेश विचित्र है। जटाजूट का मोड़, शीश पर चन्द्रमा, गले में सर्पों की माला और

कान में बिछुअन की बालियाँ सुहानी लग रही हैं। ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता और उनके गण बाराती हैं। विष्णु उनका वेश देखकर मन ही मन मुस्करा रहे हैं। गण, भंग के प्याले पीकर नृत्य कर रहे हैं। शिवजी का विचित्र वेश देखकर माँ नैनावती बेहोश हो गई हैं, होश आने पर गौराजी उन्हें समझा रही हैं कि- माँ! वे आदिदेव महादेव हैं, उनकी लीला न्यारी है, जिसे कोई नहीं जान सका।

छिन्दवाड़ा में गोंड जनजाति

सरोज जावलकर

भारत की संस्कृति और सभ्यता की सम्पूर्णता अपने आप में अनूठी है। इसका प्रमुख कारण यहाँ के निवासियों की विभिन्न सांस्कृतिक अस्मिता है, जो अपने आप में जहाँ अक्षुण्ण है, वही इनकी एकात्मकता भारतीय अस्मिता की परिचायक है। महाद्वीपों के दुर्गम क्षेत्रों में आज भी अनेक मानव समूह हैं, जो हजारों वर्षों से विश्व की सभ्यता से दूर अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना की पहचान बनाये हुए हैं। ये मानव समूह बीहड़वनों, दूरस्थ अंचलों, ऊँचे पर्वतों एवं मरुस्थलों में पृथक-पृथक निवास करते हैं, जिन्हें समाज दृष्टि अनुत्पादक मानती है। इन मानव समूहों का अपना गौरवमय इतिहास है, जिसमें ये अपनी जिंदगी अपने ढंग से गुजारते थे। बाहर की दुनिया के रंग-ढंग इन्हें छू तक नहीं पाते थे। इतिहास गवाह है इन मानव समूहों के परम्परावादी होने का। परन्तु वह स्वयं नहीं जानता कि कब ये मानव समूह छोटे-छोटे कबीलों में बँट गए और भारत के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में बिखर गए। इन्हें ही समाज वैज्ञानिकों द्वारा आदिवासी, वनवासी, वन्यजाति, अरण्यजाति, गिरिजन आदि नामों से सम्बोधित किया गया है।

गोंड जनजाति मध्यप्रदेश ही नहीं, बल्कि भारत का सबसे बड़ा जनजातीय समूह है। प्रदेश की समस्त अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या में से सर्वाधिक जनसंख्या गोंड (34.74 प्रतिशत) जनजाति की है। गोंड जनजाति महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश, बिहार, उड़ीसा, कर्नाटक, पश्चिम बंगाल, गुजरात, उत्तरप्रदेश तथा विन्ध्य पर्वत श्रृंखला, सतपुड़ा क्षेत्र तथा नर्मदा नदी के किनारे के घने जंगलों व पहाड़ों में निवास करती है। प्रस्तुत आलेख मध्यप्रदेश के छिंदवाड़ा जिले में निवास करने वाली 'गोंड' जनजाति के अध्ययन पर आधारित है।

कुछ विद्वानों का मत है कि गोंड शब्द का प्रयोग वस्तुतः गैर जनजाति जनता के द्वारा किया हुआ है। आर.वी.रसेल और हीरालाल (द ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ सेन्ट्रल प्राविन्सेस ऑफ इण्डिया, व्होल्क्यूम-3 पृष्ठ 43) ने लिखा है कि गोंड स्वयं को 'कोई' या 'कोईतोर' कहते हैं। हिस्लॉप की राय में गोंड या गुण्ड शब्द कुण्ड या कौंड का विकृत रूप है। कौंड शब्द तेलगु के कौंडा से निकला है, जिसका अर्थ 'पर्वत' है। इस प्रकार पर्वत में रहने वाले गोंड कहलाए।

गोंड जनजाति की उत्पत्ति एवं विकास के विषय में अनेक मिथकथाएँ एवं किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। एक किंवदंती के अनुसार सर्वप्रथम उनके ईश्वर की उत्पत्ति जलमग्न धारा से हुई। ईश्वर ने पहले एक कौए और केकड़े की उत्पत्ति की और मिट्टी लाने भेज दिया। केकड़ा मिट्टी तो नहीं ला सका, मगर एक केचुए को ले आया। केचुए को दबाने से जो मिट्टी निकली उसे ईश्वर ने जल पर बिखेर दिया

और अलग-अलग द्वीपों में बैठी पृथ्वी का जन्म हुआ। बाद में ईश्वर ने महादेव और पार्वती को अपने शरीर से पैदा किया। महादेव ने 12 गोंड और 13 देवताओं को जन्म दिया। इस प्रकार गोंड महादेव की संतान माने गए। गोंडों ने पशु-पक्षियों को मार-मार कर खाना शुरू किया, जिससे क्षुब्ध होकर महादेव ने इनको गुफा में बंद कर दिया। पार्वती के कठोर तप से महादेवजी द्वारा इन गोंडों को मुक्त कर दिया गया।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

गोंड राजनीतिक और ऐतिहासिक सन्दर्भों में मध्यप्रदेश तथा भारतवर्ष की प्रमुख जनजाति है। गोंडों ने मध्यप्रदेश, दण्डकारण्य, छत्तीसगढ़, विन्ध्याचल और बुन्देलखण्ड के अधिकांश क्षेत्रों पर 15वीं सदी तक शासन किया। गोंडों का प्राचीन इतिहास तथा जनजीवन अत्यन्त गौरवशाली रहा है। गोंड राजवंश की स्थापना यादवराय ने की। इस वंश के सबसे प्रतापी शासक संग्रामशाह और दलपत शाह थे। जिन्होंने इस वृहद क्षेत्र में अनेक दुर्गों का निर्माण तथा जनकल्याणकारी कार्य किये। दलपत शाह की आकस्मिक मृत्यु पर रानी दुर्गावती ने राज्य शासन कुशलतापूर्वक सम्भाला। दुर्गावती राजपूत थी, किन्तु उनका विवाह राजगोंड के दलपत शाह से हुआ था। दुर्गावती ने मुगल सेना से लोहा लिया और युद्ध क्षेत्र में वीरगति प्राप्त की। यद्यपि मुगलों के बाद मराठों तक के राज्य में गोंड शासकों ने प्रशासन सम्बन्धी जिम्मेदारी सम्भाली, किन्तु समूची गोंड जाति सामाजिक टूटन का शिकार हो गई। गढ़ा-मण्डला के इस गोंड राजवंश में यादवराय से लेकर नरहरिशाह तक 64 राजाओं ने इस क्षेत्र पर शासन किया।

उपजातियाँ

मध्यप्रदेश शासन द्वारा अनुसूचित जनजाति सम्बन्धी गणना (1981) में पचास से अधिक गोंडों की उपजातियाँ मानी हैं, जिनमें से बायसन हार्न माड़िया, माड़िया, दण्डामी माड़िया, मुरिया, धुर्वा, राजगोंड, ओझा, कलंगा, खटीला, दुलिया, धोबागोंड, कोइलाभूत, गोंडवारी, भिम्मा, नागरची, परधान, अगरिया आदि प्रमुख हैं।

गोत्र

जनजातीय सामाजिक संरचना में गोत्र का प्रमुख स्थान है। जनजातियाँ अधिकांशतया गोत्र के आधार पर ही संगठित होती हैं। गोंड जनजाति में गोत्र को 'कुर' कहा जाता है। इनके प्रमुख गोत्र

नेताम, टेकाम, मरावी, मरकाम, सरेआम, सिरसाम, उईके, परतेती, धुर्वे, पन्द्राम, वाडिवा, बट्टी, पटके, पोस्ते, कुमरे, नर्रे आदि हैं। ये सभी गोत्र गोंडों की उपजातियों में भी पाये जाते हैं। प्रत्येक गोत्र का एक चिन्ह होता है, जिसे टोटम कहते हैं। जैसे कुमरे का टोटम-बकरा होता है। ये बकरे को नहीं मारते एवं इसके माँस का सेवन भी नहीं करते।

गोंड देवोपासना के आधार पर अलग-अलग कुल समूहों में विभाजित हैं। ये कुल समूह एक संख्या विशेष के देवताओं की पूजा करते हैं। छिंदवाड़ा जिले में मुख्य रूप से दो कुल समूह पाये जाते हैं।

1. येरूंग पेंग (सातदेव वाले)- धुर्वे, मरावी, मर्सकौले, मेशराम, नर्रे
2. सारूंग पेंग (छह देव वाले) - उईके, वाडिवा, कुमरे

एक कुल समूह को मानने वाले आपस में भाई-बहन माने जाते हैं, अतः इनमें विवाह निषेध माना जाता है। एक कुल के गोत्र वाले आपस में भाई एवं दूसरे कुल के गोत्र वाले 'सगा' कहे जाते हैं।

शारीरिक विशिष्टताएँ

गोंडों की शारीरिक रचना सुगठित, हृष्ट-पुष्ट तथा शरीर फुर्तीला होता है। काला रंग, काली आँखें, मध्यम व ठिगना कद, नाक कुछ चपटी, नथुने फूले हुए, आँठ मोटे तथा चौड़ाई लिए हुए होते हैं। गोंड मेहनती पर मिलनसार होते हैं। सहिष्णुता व विश्वसनीयता गोंडों का विशिष्ट गुण माना जाता है। अधिकांश गोंड आर्थिक रूप से कमजोर होते हैं, फिर भी ईमानदारी इनकी प्रमुख विशेषता होती है।

आवास

गोंड प्रायः जंगलों, पहाड़ों, नदियों के किनारे या घाटियों में अपना आवास बनाते हैं। गाँव बसाते समय जल प्राप्ति, कृषि योग्य भूमि की प्राप्ति, जानवरों से सुरक्षा आदि बातों का विशेष ध्यान रखा जाता है। पहाड़ी इलाकों में गाँव पहाड़ों की चोटियों पर बसे होते हैं। जहाँ इनके आवास दूर-दूर एवं बिखरे हुए होते हैं, किन्तु मैदानी भागों में गाँवों का स्वरूप अत्यन्त साधारण होता है। बीच में एक छोटा रास्ता देकर आमने-सामने मकान बना लिए जाते हैं। मिश्रित जाति वाले गाँवों में भी गोंड अन्य जातियों से अलग एक ओर अपने मकान बनाते हैं, जिसे गाँव के लोग 'गोंडबस्ती' के नाम से पुकारते हैं।

गोंडों के मकान प्रायः एक या दो कमरों के होते हैं। एक मुख्य कमरा होता है, जिसमें देव स्थान, अनाज रखने के लिए मिट्टी की बड़ी कोठियाँ आदि होती हैं। मकान के दूसरे भाग में चूल्हा-बर्तन रखने का स्थान, सिलबट्टा एवं गृहस्थी का अन्य सामान रखा जाता है। सामने एक बरामदा होता है, किन्तु इसमें दरवाजा नहीं होता। गोंड प्रायः इसी स्थान पर उठते-बैठते एवं सोते हैं। बरामदे में ही एक ओर धान कूटने के लिए ओखल, मूसल एवं अनाज पीसने के लिए घट्टी बनी होती है। घर के पिछवाड़े एक बाड़ी होती है, जिसमें वे अपनी आवश्यकता की चीजें फल, सब्जियाँ एवं मक्का आदि उगाते हैं। घर के पास ही पशुओं के रहने के लिए 'कोठा' बनाया जाता है, जिससे यह हर समय पशुओं पर नजर रख सकें।

सामान्यतः गोंड परिवार में गृहस्थी में बहुत थोड़ा सामान होता है, जिसमें एक खटिया, भोजन पकाने के लिए बर्तन, पीने का पानी रखने के लिए पीतल व एल्युमीनियम के कुछ बर्तन, खेती में काम आने वाले उपकरण आदि होते हैं।

भोजन एवं पेय

गोंडों के खाद्य पदार्थों में चावल, दाल, कोदो, कुटकी, ज्वार, बाजरा, मक्का, उड़द तथा बल्लर की दाल प्रमुख हैं। ये गेहूँ एवं चावल का उत्पादन करते हैं, किन्तु इसका उपयोग कम मात्रा में किया जाता है। अपने खेतों एवं घर के आसपास उगाई गई साग-सब्जी का भरपूर प्रयोग करते हैं। जंगली कंद-मूल, मशरूम एवं माँस भी इनके भोजन का प्रमुख अंग हैं। माँस के लिए यह घर में पशु पालते हैं एवं बाजार से क्रय कर भी इसका सेवन करते हैं। त्योहारों एवं विशेष अवसरों पर विशेष प्रकार के पकवान पूरी, खीर, भजिया, दाल के पकोड़े आदि बनाये जाते हैं।

पेज गोंडों का प्रिय पेय है। ये प्रायः एक बड़ी हण्डी में कोदो, कुटकी या मक्के का थोड़ा बारीक पीसा हुआ अनाज पकाते हैं। सुबह कृषि कार्य एवं मजदूरी पर जाते समय इसे पीया जाता है। महुए की शराब का सेवन गोंडों में आम बात है। ये स्वयं भी महुए से शराब बनाते हैं और विभिन्न उत्सवों, त्योहारों, शादी-विवाह यहाँ तक कि मृत्यु संस्कारों में भी मदिरापान किया जाता है।

वेशभूषा

गोंड प्रायः सूती वस्त्र पहनते हैं। गोंड आदिवासियों में

पुरुष घुटने तक धोती-बण्डी एवं कंधे पर गमछा रखते हैं, जो प्रायः सिर के बचाव के लिए रखा जाता है। गोंड महिलाएँ लुगड़ा (जिसकी लम्बाई नौ गज की होती है) और ब्लाउज पहनती हैं। गोंड युवा बाहरी लोगों के सम्पर्क के फलस्वरूप अन्य वस्त्र - शर्ट, पेंट, लुंगी, हाफ पेंट तथा युवतियाँ साड़ी, ब्लाउज एवं पेटिकोट एवं लड़कियाँ फ्राक, सलवार कुर्ता भी पहनने लगी हैं।

गोंड पुरुषों एवं महिलाओं में वेशभूषा के साथ आभूषण भी प्रिय होते हैं। गोंड स्त्रियाँ गले में मूंगा, नकली मोतियों की माला, हाथ में चूड़ी, कानों में कर्णफूल, टॉप्स, कुण्डल, अंगुलियों में चाँदी, ताँबे एवं गिलट की अँगूठी, पैरों में पायल, पैरपट्टी, कमर में करधनी आदि पहनती हैं। अधिक उम्र की महिलाएँ चाँदी या गिलट के सिक्के से बनी हँसली, सरिया, हमेल, पैरों में तोड़ा, बाहों में बाकड़ा आदि पहनती हैं।

हाट-बाजार, त्योहारों एवं मड़ई मेले आदि में स्त्रियाँ खूब सजधज कर जाती हैं। आजकल नवयुवतियाँ आँखों में काजल, माथे पर बिंदी, होंठों पर लिपिस्टिक आदि का प्रयोग करती हैं।

गोदना

धार्मिक व आध्यात्मिक अनुभूतियों से अनुप्राणित होकर गोंड आदिवासी स्त्रियाँ अपने शरीर पर गोदना गुदवाती हैं। गोंड स्त्रियाँ प्रायः हाथ, पैर, बाँह, गला, मस्तक, गाल आदि में पर्याप्त मात्रा में गोदना गुदवाना पसंद करती हैं। गुदना अलग-अलग आकृतियों-बिंदी, त्रिकोण, चौखाना, यू आकार, लकीरें, स्वस्तिक, चक्र, सूर्य, चन्द्रमा, बिच्छू, फूल आदि के अतिरिक्त अपना नाम भी गुदवाने का प्रचलन है। गोंड पुरुष भी गोदना गुदवाने के शौकीन होते हैं। अधिकतर युवक अपने हाथों पर अपना व अपने प्रियजनों का नाम गुदवाना पसंद करते हैं।

आर्थिक संरचना

गोंड आदिवासियों की आर्थिक स्थिति प्रायः कृषि पर आधारित है। अधिकांश गोंड कृषि कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त जंगल से लकड़ी काटकर, बीनकर बेचना जहाँ इनका महत्वपूर्ण कार्य होता है, वहीं जंगल से महुआ, गुल्ली, तेंदुपत्ता, अचार, जड़ी-बूटी, आम, आँवला, चिरौंजी आदि वनोपज सामग्री का संग्रहण कर बाजार में मुद्रा या वस्तु विनिमय के लिए करते हैं, जिसके माध्यम से वे अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। अपने आस-पास के क्षेत्रों में कोयले की खदानें होने के कारण

बहुत से गोंड आदिवासी कोयला खदानों में नौकरी करते हैं। विविध प्रकार के निर्माण कार्य जैसे- तालाब, कुँए, बाँध, नहर, सड़क आदि में भी इन्हें मजदूरी मिल जाती है। कई जगहों पर ईंट भट्टे में काम करते दिखाई देते हैं। शासन की विविध योजनाओं का लाभ उठाकर शिक्षक, सचिव, आँगनवाड़ी कार्यकर्ता आदि सरकारी नौकरियाँ भी प्राप्त कर रहे हैं।

सामाजिक संरचना

गोंड समाज पितृसत्तात्मक वंश परम्परा को मानता है। यानी इनके समाज में पिता की प्रधानता होती है और उसे परिवार में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसके साथ ही वह जीवन के सभी साधन उपलब्ध कराने के लिए परिवार के प्रति जिम्मेदार रहता है। गोंडों के परिवार साधारण परिवार होते हैं, जिनमें माता-पिता के अलावा अविवाहित बच्चे रहते हैं। आजकल कहीं-कहीं संयुक्त परिवार भी देखने को मिलते हैं। परिवार का पूर्ण उत्तरदायित्व परिवार के सबसे बुजुर्ग व्यक्ति पर रहता है, भले ही वह कोई काम न करता हो। प्रमुख होने के नाते परिवार में उसे पूरी प्रतिष्ठा मिलती है।

गोंड परिवारों में प्रायः पुरुष और स्त्रियाँ दोनों ही कृषि अथवा श्रमिक का कार्य करते हैं। बच्चे भी उम्र के अनुसार कार्य में हाथ बँटाते हैं। प्रायः बच्चे वनोपज संग्रह का कार्य करते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि गोंडों को उनके कार्यों के आधार पर अलग-अलग उपविभागों में बाँटा गया है, जैसे लोहे का काम करने वाले अगरिया, ग्राम्य देवी-देवताओं के पुजारी परधान, भविष्य बताने वाले ओझा। राजगोंड सबसे अधिक सम्पन्न माने जाते हैं। इन उपजातियों के मध्य रोटी का सम्बन्ध तो होता है किन्तु बेटी का नहीं, अर्थात् ये आपस में साथ बैठकर खान-पान कर सकते हैं, किन्तु आपस में विवाह सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते।

जन्म संस्कार

गोंड परिवार में नवजात शिशु का आगमन अत्यन्त हर्षोल्लास से भरा होता है। गर्भवती महिलाओं के साथ ठीक वैसा ही व्यवहार किया जाता है, जैसा कि अन्य गोंड महिलाओं के साथ किया जाता है। प्रसव सामान्यतः गाँव की बुजुर्ग महिला व स्थानीय दाई के द्वारा सम्पन्न कराया जाता है। प्रसव काल में प्रसूता को अधिक पीड़ा न हो, इसके लिए जंगली जड़ी-बूटियों तथा तंत्र-मंत्र का सहारा भी लिया जाता है। प्रसव के लिये घर के एक कोने का

प्रयोग अपनी-अपनी सुविधानुसार किया जाता है। क्योंकि इस समयवाधि को वे बड़ा अपवित्र मानते हैं। कमरे के दरवाजे पर लोहा तथा आग एवं अन्य वस्तु रखी जाती है, जिससे भूत-प्रेत का भय न हो।

बच्चे के जन्म के छठे दिन छठी का आयोजन किया जाता है। इस दिन बच्चे व माँ दोनों को ही स्नान कराया जाता है, जो कि दाई की देखरेख में सम्पन्न होता है। अभी तक की देखभाल के बदले दाई को आटा, चावल, दाल व कपड़े भेंट स्वरूप प्रदान किए जाते हैं। इस दिन शाम को समाज की अन्य महिलाओं को बुलाया जाता है, जिसमें महिलाएँ भोजन एवं मदिरापान करती हैं। नाच गाने के साथ शिशु के जन्म की खुशियाँ मनाई जाती हैं।

सवा महीने के पश्चात् घर की लिपाई-पुताई कर घर को स्वच्छ किया जाता है, भगत को बुलाकर पूजा-पाठ, धार्मिक कार्य आदि कर बच्चे का नामकरण किया जाता है, इसे ये लोग बड़ा बारसा कहते हैं, जिसमें गाँव तथा समाज के लोगों को भोजन एवं मदिरापान कराया जाता है।

विवाह संस्कार

गोंड जनजाति में गोत्र के बाहर विवाह को मान्यता दी गई है। एक कुल समूह को मानने वाले गोत्रों में भी विवाह वर्जित है, ये आपस में भाई-बहन माने जाते हैं। इस जनजाति में विवाह के अवसर पर वधू मूल्य की प्रथा है। आजकल यह प्रथा केवल नेग स्वरूप ही की जाती है, जिसे ये लोग 'खर्ची नापना' कहते हैं। इनमें मामा एवं बुआ के लड़के-लड़कियों के बीच विवाह को प्राथमिकता दी जाती है। गोंड समुदाय में सामान्यतः लड़कों का विवाह 19-21 वर्ष तथा लड़कियों का विवाह 16-18 वर्ष की आयु में किया जाता है। अपनी क्षमता के अनुसार वधू पक्ष, वर पक्ष को जो दे-दे, उसी से सन्तुष्ट होकर हर्षोल्लास के साथ विवाह करते हैं।

चढ़ विवाह गोंडों में विशेष रूप से प्रचलित है। विवाह के लिए सर्वप्रथम लड़के की सलाह से बड़े बुजुर्ग लड़की देखने जाते हैं। इसके पश्चात् लड़का-लड़की देखने आता है। लड़की पसंद आने के पश्चात् घर के बड़े बुजुर्ग गुड़ और रोटी लेकर मांड़ी (बात पक्की) करने जाते हैं। लड़की पक्ष को रिश्ता स्वीकार होने पर रोटी स्वीकार की जाती है। रोटी स्वीकार करने का तात्पर्य है कि लड़की वालों को भी रिश्ता पसंद है। इसके पश्चात् समाज वालों को गुड़ बाँटा जाता है, मदिरापान कराया जाता है।

फलदान वाले दिन वर सहित अन्य लोग वधू के घर जाते हैं। वहाँ पहले लड़के को एवं बाद में लड़की को एक-एक कर टीका लगाया जाता है। इसी दिन विवाह की तिथि तय की जाती है।

विवाह के पूर्ण मण्डा डालने की रस्म पूरी की जाती है। मण्डा डालने के लिये जामुन की पत्ती तथा सालई की थुनी (लकड़ी) लाई जाती है। महुआ का मुण्डा पारीशेरमी (एक छह देव वाला व्यक्ति एवं एक सात देव वाला व्यक्ति) लाते हैं। मण्डे में दूल्हा एवं दुल्हन के लिए एक चबूतरा बनाया जाता है तथा सालई की लकड़ी की पटिया लगाई जाती है। इसके बाद वर को चिकसा (आटे का लेपन) लगाया जाता है। चिकसे के पश्चात् तेल चढ़ाने की रस्म होती है, तत्पश्चात् 'हल्दी' का कार्यक्रम होता है। हल्दी लगाने के बाद वर को नहलाया नहीं जाता, वरन् हल्दी झड़ा दी जाती है। दूल्हे को तैयार किया जाता है।

बारात प्रस्थान के पूर्व भोज देने की परम्परा है। भोज के पश्चात् बारात प्रस्थान करती है। दुल्हन के यहाँ पहुँचने पर उन्हें जनवासा में ठहराया जाता है। जहाँ वधू पक्ष के कुछ लोग आकर बारात की अगवानी करते हैं तथा दूल्हे को मण्डे में ले जाया जाता है। मण्डे में सर्वप्रथम पगबंधी (ससुर द्वारा दूल्हे को गोद में बैठाकर पगड़ी बाँधना) की रस्म होती है। इसके पश्चात् गोइशाला अर्थात् दुल्हन की सहेली भी दूल्हे के सामने कपड़े, नारियल, बताशे, बीड़ी, श्रृंगार का सामान देती है एवं दूल्हा भी लड़की को कपड़े देता है। इसके अलावा भी कई नेग सम्पन्न कराए जाते हैं, तत्पश्चात् वरमाला होती है। लड़की के घर तीन फेरे तथा लड़के के घर चार फेरे पड़ते हैं। समाज के लोगों द्वारा दूल्हा-दुल्हन को यथा शक्ति पैसे एवं बर्तन भेंट किए जाते हैं। बारात को भोज देने के उपरान्त कन्या की विदाई की जाती है।

ससुराल में आगमन के उपरान्त वधू का स्वागत अत्यन्त उमंग एवं उल्लास के साथ किया जाता है। वधू की मुँह दिखाई, द्वार छिंकाई, हल्दी छुड़ावन आदि संस्कार अत्यन्त समारोहपूर्वक पूर्ण किए जाते हैं।

इसके अतिरिक्त गोंड जनजाति में विवाह के अन्य प्रकार लमझना विवाह, आट-साट (विनिमय विवाह) भगेली विवाह, विधवा विवाह, अपहरण विवाह आदि भी पाए जाते हैं।

मृत्यु संस्कार

गोंड जनजाति में मृत्यु संस्कार में शव को दफनाया जाता है। क्रिया कर्म के लिए बाँस की अर्धी इस प्रकार तैयार की जाती है कि चार व्यक्ति इसे भली प्रकार पकड़ सकें। मृत व्यक्ति के शरीर को इस पर रखकर श्मशानघाट लाया जाता है। लगभग पाँच फीट गहरा गड्ढा खोदा जाता है। इसमें मृत व्यक्ति के शरीर को इस तरह रखा जाता है कि उसका सिर उत्तर दिशा की ओर तथा पैर दक्षिण दिशा की ओर रहे। मृत व्यक्ति के शरीर के साथ अन्य चीजें कपड़े, बीड़ी, दारू आदि उसके सिर के नीचे रख दी जाती है। सबसे पहले मृत व्यक्ति का बड़ा बेटा कब्र में पाँच मुट्टी मिट्टी डालता है। उसके पश्चात् शवयात्रा में सम्मिलित अन्य व्यक्ति मिट्टी डालते हैं। सभी के माटी देने के पश्चात् फावड़े से मिट्टी खींचकर गड्ढे को ढंका जाता है, बीच-बीच में बेर की कांटे युक्त डालियाँ रखी जाती हैं, जिससे कोई जंगली जानवर शव को निकाल न पाए।

तीन दिन तक विशेष अशुद्धि मानी जाती है और मृतक की आत्मा की तृप्ति के लिए अनेक धार्मिक कार्य किये जाते हैं, जिसमें उसे चावल, दाल, दूध, दही तथा अन्य खाद्य सामग्री पत्तल व दोने में पानी रखकर गाँव के बाहर पेड़ के नीचे रखा जाता है, जिससे मृतक की आत्मा तृप्त रहे।

इसके पश्चात् गोंड जनजाति में दस दिनों में दशमानी या दशगोत्र संस्कार किया जाता है, जिसमें गाँव के सभी लोगों को भोजन कराया जाता है, मृतक के परिवार के रिश्तेदार भेंट (सहाय) के रूप में दाल, चावल, कोदो, कुटकी, ज्वार, शराब आदि लाते हैं। इस प्रकार इस प्रथा के कारण गरीब से गरीब व्यक्ति भी धूम-धाम से भोज देता है। इस दिन नाच-गाना तथा पण्डुवानी तथा गोंडवानी नृत्य का भी आयोजन किया जाता है।

धार्मिक आस्था और अनुष्ठान

गोंड आदिवासी अपने इष्टदेव के प्रति अत्यधिक आस्थावान होते हैं। सुदूर बीहड़ वनों, पहाड़ों में रहने वाले गोंड अपने इष्टदेव की उपासना में अपना सब कुछ अर्पित करने में संकोच नहीं करते। इन्हें प्रसन्न करने के लिए ये अनेक अनुष्ठान करते हैं, पूजा-अर्चना के साथ पशु बलि की प्रथा भी पाई जाती है। गाँव के धार्मिक प्रमुख जो धार्मिक कार्यों के समय पूजा पाठ करता है, भगत कहलाता है। गोंड जनजाति में किसी धर्म विशेष की अवधारणा

नहीं है और न ही ईश्वर के अस्तित्व के बारे में कोई स्पष्ट मान्यता है। परन्तु ये प्रबल आस्तिक होते हैं और अपने पारम्परिक देवी-देवताओं पर अटूट आस्था रखते हैं। टोना-टोटका, जादू, तंत्र-मंत्र, झाड़-फूंक के लिए भगत भूमका के पास जाने में विश्वास करते हैं। ये अनेक देवी-देवताओं जैसे बड़ादेव, नारायण देव, शीतलामाता, माता मड़िया, दूल्हादेव, खण्डेराई, बिदरी, भीमसेन, ठाकुरदेव, मुठवा देव, बाघेश्वर देव आदि की पूजा पाठ पारम्परिक रूप से बड़े हर्षोल्लास के साथ करते हैं। गोंड शकुन-अपशकुन के प्रबल समर्थक होते हैं। बीमारी को दैवीय प्रकोप मानते हैं तथा बीमारी होने पर देवी-देवताओं की विशेष पूजा की जाती है।

गोंड प्रकृति प्रेमी होते हैं, जिस प्रकृति की गोद में ये रहते हैं, उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना ये नहीं भूलते। जहाँ अतीत में ये लोग सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, वायु, अग्नि, जंगल, फसलों का पूजन करते थे, वहीं आज भी पूर्ववत् इनकी पूजा-अर्चना बड़ी ही आस्थापूर्वक की जाती है। ये आदिवासी अपने आसपास दैवीय तत्वों का वास मानकर उनकी पूजा-अर्चना बड़े भक्तिभाव से करते हैं। गाँव की सुख-सुविधाओं एवं उन्नति के लिए अनेक देवी-देवताओं की पूजा-पाठ करते हैं। भूत-प्रेत पर भी विश्वास करते हैं। बड़ादेव को अपना सृष्टिकर्ता एवं संहारकर्ता मानते हैं, इस सम्बन्ध में कई मिथक भी प्रचलित है।

तीज-त्योहार

गोंड जनजाति के लोग अपने प्रत्येक पर्व एवं त्योहारों को बड़े हर्षोल्लास, उमंग एवं नाच-गाने, पूजा-पाठ आदि से पारम्परिक रूप से मनाते हैं, जो इनकी संस्कृति को विशेष रूप से उजागर करते हैं। इनके द्वारा मनाये जाने वाले प्रमुख त्योहार निम्न हैं-

बिदरी- बिदरी का ग्रामीण बोली में अर्थ है- बदरी अर्थात् बादल की पूजा-अर्चना। गोंड जनजाति के लोग जेठ महीने की किसी भी तिथि को प्रायः गाँव में मुखिया के घर एकत्रित होकर मनाते हैं। यह पर्व अच्छी फसल होने की कामना में मनाया जाता है। इसके पश्चात् ही सभी अपने-अपने खेतों में बुआई करते हैं।

नवाखानी- यह त्योहार वर्ष में दो बार मनाया जाता है। अनाज और गुल्ली का नया खाना।

(1) नये अनाज - भाद्र मास के शुक्ल पक्ष में यह पर्व मनाया जाता है, नवाखानी अर्थात् नए अनाज को खाने का पर्व। यह नई फसल से जुड़ा हुआ है। नई फसल आने पर, नये अनाज को

पकाकर पहले अपने पितरों को धूप-दीप-नैवेद्य सहित अर्पित किया जाता है।

(2) नई गुल्ली - वैशाख महीने में कभी भी मनाया जा सकता है। इस दिन गुल्ली के तेल में पके पकवानों से बड़ादेव व अन्य देवी-देवताओं की पूजा कर भोग लगाया जाता है।

छेरता - बच्चों द्वारा मनाया जाने वाला यह पर्व पौष माह की पूर्णिमा को मनाया जाता है। बच्चों द्वारा टोली बनाकर प्रत्येक घर के दरवाजे पर जाकर 'छेर छित्ता छेरता' अर्थात् 'धरती हमें अनाज दो' जोर-जोर से पुकारा जाता है। प्राप्त सामग्री से बच्चे सामूहिक रूप से पारम्परिक छेरता उत्सव मनाते हैं।

आखातीज - चैत्र मास की अमावस्या को मनाया जाता है। इसके लिये नया घड़ा लाकर पूजा की जाती है। सर्वप्रथम नये घड़े का पानी देवता को चढ़ाया जाता है।

पोरा बड़गा - पोरा बड़गा को पोला कहा जाता है। यह त्योहार भादो मास की अमावस्या को मनाया जाता है। इस उत्सव में लड़के बाँस की गोड़ी बनाकर उसकी पूजा करते हैं। रात भर नृत्यगान चलता है। दूसरे दिन सुबह गोड़ी को पानी में विसर्जित कर दिया जाता है।

अखाड़ी - वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की तृतीया को महुआ, ठाकुर देव और पनघट आदि की पूजा फसल की खुशहाली के लिए की जाती है।

जिरौती - आषाढ मास के कृष्ण पक्ष में खेड़ापति माई, भैंसासुर, डाकिनी आदि का रात्रि में विधिवत पूजन किया जाता है। खरीफ की फसल के लिए धरती की पूजा की जाती है।

जवारा - क्राँर व चैत्र माह में मनाया जाता है। यह त्योहार नौ दिन तक मनाया जाता है। इसमें मिट्टी में गेहूँ या जौ बोककर देवी की पूजा-अर्चना की जाती है।

हर्योम्मास (हरियाली अमावस) - जेठ माह की अमावस को यह उत्सव मनाया जाता है। वर्षा ऋतु प्रारम्भ होने पर जो नई सब्जी अपने आप धरती की गोद में निकल आती है, उसे सर्वप्रथम अपने सगा देवों को अर्पण किया जाता है। इसके लिए देवी-देवताओं की पूजा की जाती है। जितने सगादेव शाखा के होते हैं, उतने ही प्रकार की हरी सब्जियों की तरकारी बनाकर नैवेद्य चढ़ाते हैं।

इसके साथ ही दीपावली, होली, दशहरा, राखी, नवरात्र आदि त्योहार भी गोंड जनजाति में हर्षोल्लास पूर्वक मनाए जाते हैं।

राजनैतिक संगठन

गोंड जनजाति की अपनी पंचायत होती है। जाति पंचायत में ग्राम का पटेल ग्राम पंचायत का मुखिया तथा अन्य सदस्य पंच होते हैं। सामान्यतः निर्णय सभी पंचों द्वारा मिलकर लिया जाता है, किन्तु अन्तिम निर्णय में मुखिया की सहमति अनिवार्य होती है। इस जाति पंचायत में जाति के सदस्य ही भाग लेते हैं, अन्य नहीं। जाति पंचायत में अनेक कार्य जैसे- ग्राम में आपसी झगड़ा व मारपीट का निपटारा कर दोषी को दण्ड देना, ग्राम के देवी-देवताओं के पूजन व बलि हेतु चंदा इकट्ठा करना, जाति के विरुद्ध

कार्य करने पर दण्ड की व्यवस्था आदि किए जाते हैं। फैसले का तरीका ग्राम पंचायत की भाँति ही होता है। दण्ड नकद रुपये एवं सामूहिक भोज दोनों ही रूपों में दिया जाता है। जाति से बहिष्कृत किए गए व्यक्ति को जाति में मिलाने के लिए प्रायश्चित्त स्वरूप सामूहिक भोज देने सम्बन्धी विधान है। यदि पंचायत किसी भी स्थिति में निर्णय लेने से सफल नहीं होती है, तो मामला पुलिस तक पहुँचा दिया जाता है। गोंडों में एक बार किसी व्यक्ति को हथकड़ी लग जाने के बाद जाति से बाहर कर दिया जाता है। उसके बाद बड़ादेव की पूजा-पाठ एवं सामूहिक भोज देने के पश्चात् ही उसे जाति में मिलाया जाता है। इस तरह जाति पंचायत गोंड जनजाति के सामाजिक नियंत्रण का परम्परागत प्रमुख कारक है।

सन्दर्भ

1. अग्रवाल रामभरोसे -गोंड जाति का सामाजिक अध्ययन
2. उपाध्याय विजय शंकर, शर्मा विजय प्रकाश-भारत की जनजातीय संस्कृति, म.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल
3. शर्मा ब्रह्मदेव -आदिवासी विकास, म.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1980
4. तिवारी शिवकुमार -मध्यप्रदेश के आदिवासी, म.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1984
5. दुबे श्यामचरण - मानव और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1965
6. पाठक शोभानाथ -गोंड जनजाति, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1999
7. शर्मा विजय प्रकाश- हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 2007

राजस्थानी प्रेमाख्यानों में ढोलामारू

डॉ. कमला गर्ग

डॉ. शिवा धमेजा

प्राचीनकाल से भारतीय वाङ्मय में प्रेमाख्यान का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। साहित्य के साथ-साथ चित्रकला में भी आख्यान को प्रमुख स्थान दिया गया है। प्रेम कथानक एवं काव्यों का आधार लोक प्रचलित कथाएँ होती हैं, जिन्हें आधार बनाकर काव्य व चित्र सर्जन की परम्परा चली आ रही है। 'आख्यान' का शाब्दिक अर्थ - कथन, निवेदन, उक्ति, कथा, कहानी, प्रतिवचन, उत्तर आदि अनेक भाव लिये हैं, किन्तु सीमित अर्थों में इससे अभिप्राय ऐतिहासिक कथन अथवा पूर्ववृत्त कथन लिया जाना अधिक प्रासंगिक है। प्रेम कथानकों में मुख्यतः प्रेमी और प्रेमिका के उत्कट प्रेम, मिलन मार्ग की कठिनाइयाँ, मिलन हेतु किये गये प्रयत्न तथा अन्ततः मिलन का अत्यन्त रोचक वर्णन किया जाता है। प्रेमाख्यान परम्परा का प्रारम्भ वैदिक साहित्य से हुआ। इन कथाओं के विभिन्न पड़ावों में यदा-कदा कुछ अभिप्राय एवं कथा तन्तु जुड़ते रहते हैं। इन कथाओं में कल्पना के सहयोग द्वारा यथावसर नवीन मोड़ उत्पन्न किये जाते हैं और आवश्यकतानुसार नवीन उद्भावनाओं से विस्तार दिया जाता है। इन प्रेमाख्यानों में मुख्य रूप से विरह वेदना व सौन्दर्य के अत्युक्तिपूर्ण वर्णन का सामंजस्य प्रस्तुत होता है।¹

राजस्थानी शैली में प्रेमाख्यान काव्य ग्रन्थों के आधार पर प्रचुर संख्या में चित्र प्राप्त हुए हैं, जिनमें उषा-अनिरुद्ध, मधु-मालती, माधवानल-कामलकन्दला, ढोला-मारू अधिक प्रसिद्ध हैं। संयोग श्रृंगार की तुलना में वियोग श्रृंगार के चित्र यहाँ अधिक उत्कृष्ट बने हैं।² इनके अतिरिक्त जसमा-ओडण, नागजी तथा नागवन्ती, जसराज-सोनगरा, काचबा-कला, आसा-डाबी, आभल-खिंवजी भी राजस्थानी गेय प्रेमाख्यान हैं। इन प्रेमाख्यानों में चित्रित प्रेमी युगल के निश्चल उद्गार, उनका निर्विकार भोलापन, उनकी अडिग आस्था व अटूट श्रद्धा तथा उत्साह भरे प्रयत्न दर्शक का ध्यान बरबस ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। इन लोकगाथापरक आख्यानों में पात्र सीमित होते हैं एवं घटना वैविध्य की जटिलता नहीं होती। प्रेमाख्यान परम्परा के प्रायः सभी उल्लेखनीय ग्रन्थों में प्रेम को ही सर्वोपरि तत्त्व के रूप में विवेचित किया गया है। प्रेम को समस्त पोथियों का सार माना गया है। प्रेम के अभाव में ज्ञान पर गर्व करना व्यर्थ है। प्रेम को पा लेने के पश्चात् फिर कुछ भी शेष नहीं रहता। सृष्टि के सृजनहार प्रभु भी इसी प्रेम तत्त्व के अधीन रहते हैं। भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रेमाख्यान परम्परा विकसित होती रही है। इस दृष्टि से राजस्थानी लोक साहित्य अधिक समृद्ध है। विश्व वाङ्मय में सर्वाधिक प्रेमाख्यान राजस्थानी साहित्य में उपलब्ध हैं, यदि ऐसा कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी। आज राजस्थान के विभिन्न सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत संग्रहालयों में इन काव्यों की पाण्डुलिपियाँ भलीभाँति सुरक्षित हैं। प्रसंगानुकूल पशु-पक्षियों, नगर वर्णन, युद्ध, आखेट, स्त्री-

पुरुष सौन्दर्य को आख्यान में स्थान देकर उसके कलात्मक सौन्दर्य में चार चाँद लगा दिये जाते हैं। इन आख्यानों में घोड़ों और ऊँटों का वर्णन भी कथानुसार किया जाता है।^३

राजस्थानी प्रेमाख्यानों में मनोवैज्ञानिकता, भावसुकुमारता एवं चित्रोपमता के दर्शन संयुक्त रूप से हो जाते हैं। प्रीति व अनुराग का सरस व सजीव चित्रण इनमें प्रस्तुत होता है। शृंगार की भावना में परिपक्वता प्रदर्शित होती है, जो दर्शक को आकृष्ट कर लेती है। जहाँ एक ओर आख्यान तीव्रता व उत्कटता का चित्रण करते हैं, वहीं दूसरी ओर मृगणता व माधुर्य को भी स्थान देते हैं।

नायक-नायिकाओं का प्रेमजन्य औत्सुक्य, प्रिय मिलन की व्याकुलता जैसी मनोदशाओं का मर्मस्पर्शी विवेचन किया जाता है। मारवणी के प्रेम संदेश में, जसमा-ओडणी के बादशाह के यहाँ कुछ देर के लिए जाने में, नागजी-नागवन्ती के परस्पर संवादों में मानसिक दशाओं की उथल-पुथल व भावों-विकारों के उतार-चढ़ाव का मार्मिक प्रदर्शन है। इन पात्रों की अनन्त हृदयगत अनुभूतियों यथा- अनुनय-विनय, क्षोभ, पश्चाताप-भय, आशंका इत्यादि का भावुक चित्रण प्रस्तुत करते हैं। इन लोक प्रचलित प्रेमाख्यानों में सम्भव-असम्भव की कोई सीमा रेखा नहीं रखी गई। इनमें मानव-अमानव, देवी-देवता, राक्षस, यक्ष-किन्नर, भूत-प्रेत, जादुई पशु-पक्षी विविध पात्रों की भाँति चित्रित किये गये हैं।^४



राजस्थानी प्रेमाख्यानों में लोकोन्मुखी विश्वप्रसिद्ध आख्यान 'ढोला-मारू' सर्वोपरि स्थान पर है। ढोला-मारू की प्रेम गाथा से कोई भी बुद्धिजीवी अनभिज्ञ नहीं है। साथ ही, आज भी ठेठ गाँवों की घुमकड़ जातियाँ ढोला-मारू के दोहे गाकर लोगों का मनोरंजन करते हुए पाई जाती हैं। अपने मूल रूप में यह प्रबन्धात्मक लोकगीत है। इस काव्य के चार रूपान्तर मिलते हैं-

- (1) केवल दोहाबद्ध रूप, जो अति प्राचीन है।
- (2) दोहों व कुशल-लाभ की चौपाईयों से युक्त रूप, जो प्राचीनता में द्वितीय स्थान रखता है।
- (3) दोहों व गद्य वार्ता युक्त रूप।

- (4) दोहों कुशल-लाभ की चौपाईयों एवं गद्य वार्ता युक्त रूप। इनमें पहले के दो ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।^५

संवत् 1991 (सन् 1934) में नागरी प्रचारिणी सभा-काशी से 'ढोला-मारू रा दूहा' का प्रथम सम्पादन करवाया गया। ढोला-मारू प्रेमाख्यान एक जनप्रिय संस्करण बना, जिसमें डेढ़-दो हजार दोहों में से 674 प्रकाशित करवाये गये। ढोला-मारू प्रेमाख्यान ने केवल साहित्य को ही जीवन्त नहीं किया, वरन् कृतिकार के भावों का स्पन्दन भी कृति में उतारकर रख दिया। राजस्थानी वात् साहित्य में ढोला-मारू की प्रेम कथा को सर्वोच्च माना गया। सैकड़ों वर्षों

तक प्रेमाख्यान वाचिक परम्परा में जीवित रहा। इस प्रेमाख्यान में परम्पराजन्य व्यवहार एवं विश्वास अपना स्थान बनाये रखते हैं। ये विश्वास तर्क का अभाव होने के बाद भी सुदृढ़ होते हैं। उदाहरणतः शगुन विश्वास की भाँति ही जीवन से जुड़े हुए हैं, जबकि तर्क की दृष्टि में यह असंगत होगा।

ढोला-मारू की प्रेम वार्ता का कथानक संक्षिप्ततः इस प्रकार है- पूंगल का राजा अपने देश में अकाल पड़ने के कारण, मालवा प्रान्त में सपरिवार जाता है। मालवा का राजकुमार साल्हकुमार (ढोला) था, जिसके साथ पूंगल नरेश की शिशुवय राजकुमारी (मारवणी) का विवाह कर दिया जाता है। सुकाल होने पर पूंगल नरेश स्वदेश आ जाते हैं।

साल्हकुमार वयस्क होने पर अपनी पत्नी को लेने नहीं जाता और न ही उसे अपने बाल विवाह का बोध होता है। उधर मारवणी (मारू) अंकुरित यौवना होती है और उसे स्वप्न में अपने प्रिय के दर्शन हो जाते हैं। वह विरह में व्याकुल होकर, पर्यावरण में पपीहा, सारस एवं कुंज-पक्षी सभी से वार्तालाप करती है। एक दिन पूंगल नरेश के पास घोड़ों का एक सौदागर आता है, जो मालवा के साल्हकुमार की बातें उनसे करता है। यह सुनकर मारवणी और अधिक व्यथित हो जाती है। साल्हकुमार को पूंगल नरेश की ओर से ढाढियों द्वारा निमंत्रण भेजा जाता है। यश गाने वाले ढाढी गन्तव्य स्थान पर पहुँचकर साल्हकुमार (ढोला) से मारवणी की स्थिति के विषय में बता देते हैं। ढोला पूंगल हेतु

प्रस्थान करना चाहता है, किन्तु मारवणी अनेक बहाने बनाकर उसे रोकने की चेष्टा करती है। मारवणी की ईर्ष्या, चिन्ता, उन्माद, कपट, विरह व असहाय अवस्था का वर्णन विस्तार से किया गया है। अन्ततः ढोला पूंगल नरेश के महल में पहुँच जाता है।^१

ढोला-मारू का मिलन होता है। स्वदेश हेतु लौटते समय उन्हें मार्ग में अनेक आपदाओं का सामना करना पड़ता है। रात्रि में रेगिस्तान का पीवणा (सर्प) मारू को सूँघ जाता है। वह अचेतन हो जाती है। प्रकृति की स्थिति भी विषम हो जाती है। विलाप व क्रन्दन का वातावरण हो जाता है। जब साक्षात् ईश्वर धरती पर उतर आते हैं। शिव और पार्वती प्रकट होकर मारू को जीवित कर देते हैं। ढोला-मारू सकुशल अपने घर लौटते हैं। आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। ढोला मारवणी की नौक-झोंक का भी समाधान करता है तथा मारू के प्रति अपना प्रेम व स्नेह समर्पित करता है।

ढोला-मारू की कथा में वाचिक परम्परा के कारण समय-समय पर अंश जुड़ते रहे। राजस्थान की कथ्य परम्परा अथवा हस्तलिखित प्रतियों में ढोला-मारू की वात् के रूपान्तर, प्रेम कथा के मूल स्वरूप को स्थित रखकर, अन्य कथाओं को जोड़कर वार्ता का विस्तार अवश्य किया जाता है। इस वार्ता के प्रादेशिक रूपों में ढोला-मारू के माता-पिता, भाई, सेवकों आदि को भी पात्र बनाकर इनमें जादू, घात-प्रतिघात, छल-कपट व षडयंत्र का समावेश कर कथा का एक परिवर्तित रूप प्रस्तुत कर देते हैं। इस सम्पूर्ण आख्यान में मर्मस्पर्शी विरह संदेश व वर्णन ही है। ढोला-मारू के काव्य में शिल्प का कारण उसमें निहित लोकतत्त्व, समुदाय के आचार-विचार, विश्वास, मान्यताएँ, व्रत-त्योहार आदि हैं। जनसमूह के जीवन्त कार्यकलापों से सजी यह एक उत्कृष्ट कृति है। लोक धारणा है कि परदेशी पति को वसन्त ऋतु में लौट आना चाहिये। विरहणी पत्नी ऐसी आशा सँजोए रहती है। मारवणी कहती है कि- हे प्रिये! यदि तुम फाल्गुन मास के वसन्त में नहीं आए, तो मैं नृत्य के बहाने जलती होली में झपटकर कूद पड़ूंगी। इस आत्मदाह की धमकी निम्न शब्दों में है-

फागुण मासि बसन्त रुत,
आयऊ जई न सुणेसि
चाचरिकई मिस खेलती,
होली झँपावेसि।

कौआ उड़ाना भी शगुन बताता है। जो कहने पर कौआ उड़ जाए अथवा घर पर आकर बोले तो अतिथि के आगमन का सूचक

होता है। यह लोक धारणा है, जो कि अनेक स्थलों पर व्यक्त हुई है, जिनकी दो पंक्तियाँ उदाहरण स्वरूप यहाँ दी जा रही हैं-

कउआ दिउँ बधाइयाँ,
प्रीतम मेलई मुज्झ
मारू तणइ करंकइई,
वाइस ऊड़ावेसि।

लोक मानस के अन्तर्गत मानवेत्तर प्राणी एवं जड़ पदार्थ भी भाव प्रदर्शित करते हैं। पशु-पक्षी एवं स्थूल पदार्थ कथा के प्रवाह में योगदान करते हैं। ढोला एवं मारवणी भिन्न-भिन्न प्रसंगों में ऊँट (करहा) से सम्भाषण करते हैं। ढोला-मारू प्रेमाख्यान में जड़ पदार्थ भी भावों को समाहित करते प्रतीत होते हैं। बगीचे की झाड़ी यदि हरी-भरी है, तो वह मारवणी के घर में प्रवेश करने का उत्साह प्रदर्शित करती है। मारवणी के प्रवेश से महल का वातावरण आनन्द व प्रसन्नता से भरपूर हो जाता है। महल के खम्भे नाचने लगते हैं। इस प्रेमाख्यान में पशु-पक्षियों को विरह में साथी मानते हुए उनसे सम्बोधन का वर्णन प्रस्तुत किया गया है- पपीहा वर्षा के मेघ को पिउ-पिउ की टेर लगाता है। चकवा और चकवी रात्रि को बिछुड़ जाते हैं। वे नशा वियोगी भी कहे जाते हैं। वर्षा ऋतु में सरोवर किनारे मेंढकों का शब्द करना, बादल देखकर मोरों का टहुकना और कोयल का आम वृक्ष पर बैठकर सुर निकालना सहज और प्रसिद्ध है। कथा में मानव वाणी बोलने वाले पक्षी जैसे शुक, सारिका आदि के द्वारा अनजाने अथवा दूरस्थ स्थान पर समाचार भेजने की रूढ़ि है। ढोला-मारू प्रेमाख्यान में शुक मारवणी का संदेश लेकर प्रवासी साल्हकुमार के पास जाता है और लौटकर उसका उत्तर भी देता है।^१

ढोला-मारू की कृति का कथानक रसात्मक है, जिसका मुख्य रस शृंगार है। शृंगार रस के चारों अवयव-स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव-कृति के दोहों में स्पष्ट होता है, किन्तु सर्वत्र स्थायी भाव रति का प्रभाव ही दृष्टिगोचर होता है। शृंगार रस की दोनों ही स्थितियों (संयोग और विप्रलंभ) का चित्रण कृति में प्राप्त होता है। इस सम्पूर्ण कृति में विप्रलंभ शृंगार की ही छाया पाते हैं। कथानक के तीन मुख्य घटक स्थापित होते हैं-

- (1) मारवणी की पूर्व राग जन्म विरह
- (2) मारवणी की विरह की आशंका व विरह जन्य अवस्था
- (3) प्रेमी युगल का संयोग

इन तीनों घटकों में मारवणी के विरह को सर्वाधिक स्थान

प्राप्त हुआ है। मारवणी अपनी मनःस्थिति को पपीहा, कुंज, दादुर, मोर, काग, वायु आदि को सम्बोधित कर प्रकट करती है। मारवणी के विरह में लौकिक भाव ही प्रबल है। वह अपने प्रियतम से मिलने के लिए सरोवर की कुंजों से वह उनके पंख माँगती है। विरह के दारुण दुःख ने उसे नगण्य बना दिया है। राजकुमारी होते हुए भी मिलन के लिए वह सभी से याचना करती रहती है। उसकी विरहानुभूति निकट की प्रकृति में व्याप्त हो जाती है। यह दशा उसे अधिक संवेदनशील व भावुक बना देती है, फलस्वरूप वह सभी को सम्बोधित करती है— मानो प्रकृति का प्रत्येक अवयव उसकी व्यथा समझ रहा हो। प्रकृति की अवस्था उसके विरह को अधिक उद्दीप्त करते हैं। उत्तर दिशा से आती शीतलहर उसकी विरह ज्वाला को भड़का देती है। प्रत्येक ऋतु उसके विरह ताप को और बढ़ा देती है। जड़ चेतन को भूलकर वह अपनी वेदना उनसे कहकर सहायता माँगती है। उसकी असहाय अवस्था का कारुणिक वर्णन सभी को द्रवित कर देता है।^१

चित्रात्मकता ढोला-मारू के प्रेमाख्यान की भाषागत विशेषता है। इस काव्य में अनेक स्थलों के वर्णन में, मानस पटल पर एक चित्र खिंच जाता है। इस प्रेमाख्यान ने चित्रकारों की तूलिका को भी महती प्रेरणा प्रदान की। ढोला-मारू के आख्यान को लेकर चित्रकारों ने कई सुन्दर व भावपूर्ण चित्र बनाए हैं।

‘ढोला मारू रा दूहा’ में ढोला-मारवणी के मिलने के बड़े सुन्दर चित्र अंकित हैं, जिनमें मारू रागिनी, षड्राग, श्रीराग आदि का प्रमुख स्थान है। रागमाला चित्रावली व रागमाला संज्ञक रचनाओं में ‘मारू राग’ का प्रमुख स्थान दिखाई देता है। ढोला-मारू की कथा का ‘मारू राग’ से अटूट सम्बन्ध रहा है। इस चित्रावली में मारू राग का जो चित्र मिलता है, उसमें ऊँट का सवार प्रेमी युगल है। राजस्थानी कलम का एक चित्र मारू-रागिनी राष्ट्रीय संग्रहालय-दिल्ली में संग्रहित है।

मारू रागिनी शीर्षक के इस चित्र पर यह राग संस्कृत में दिया गया है—

हस्तालिङ्गित पार्श्वस्वाप्रिया चुम्बनमानसः।
उपद्रारोहिविनुत्तास्यो मारू रागो मुद्रावजन् ॥

पास में बैठी अपनी प्रिया को आलिंगन करने की आकांक्षा वाला, ऊँट पर बैठकर (अथवा बैठा हुआ), नृत्य करने वाला, प्रसन्नमुख मारू, राग गाता हुआ शोभा पा रहा है।¹⁰

इस चित्र में मारू के मुख पर प्रसन्नता के भाव हैं, वह मनमोहन दृष्टि से ढोला की ओर देख रही है। लाल और नीले रंग के वस्त्रों में मारू की छवि को चित्रकार ने अत्यन्त सुन्दर बनाया है। ढोला ऊँट पर बैठा, पीछे बैठी मारू की ओर मुख किये हुए है। प्रेम के भाव दोनों के मुख पर दिखाई दे रहे हैं। आकाश में गहरे-काले बादल हैं। मारू को प्रेम प्रदर्शित करने के लिए ढोला हाथ में पुष्पों का गुच्छा लिये है। राजस्थानी शैली में बने इस चित्र में रंग योजना अत्युत्तम है, तीव्र रंगों के प्रयोग व प्रकृति के सुख संयोग से चित्र को अधिक रमणीय बना दिया गया है। मारवणी व ढोला के मिलन का यह अनूठा रूप है, जिसकी रूप सज्जा व नख शिख वर्णन मन मोह देने वाला है। सारी मनोदशा का जड़ पदार्थों पर भी प्रभाव पड़ता है।



समर्पण की भावना की

निश्चल प्रस्तुति प्रेमाख्यानों का विशेष गुण है। विरह वर्णनों में वेदना का निर्मल एवं कोमल स्वरूप, दाम्पत्य जीवन का मर्मस्पर्शी माधुर्य, चतुर्दिक सरित प्रकृति को स्वाभाविक रूप में विवेचित किया है। प्रकृति में हृदय के साथ साहचर्य की भावना व आन्तरिक वेग के प्रस्फुटन को प्रदर्शित करने का सामर्थ्य दिखाई देता है। प्रकृति को प्रेमाख्यानों में पात्रों की अनूठी सहचरी जैसा चित्रित किया गया है। उचित अवसरों व प्रसंगानुकूल परिस्थितियों में कृतिकार मरुभूमि का प्राकृतिक व भौगोलिक वर्णन अवश्य करते हैं। स्थानीय रंगों के ताने-बाने में प्रेमाख्यान अत्यधिक रुचिप्रद व रम्य बन जाते हैं। दर्शक के मानस पटल पर प्रकृति का सौहार्द्रमयी रूप एक अविस्मरणीय पहचान बना देता है। वीर एवं श्रृंगार रस का अद्भुत सामंजस्य भी प्रेमाख्यानों में प्रस्तुत होता है। श्रृंगार रस

का परिपोषक वीर रस को बनाकर प्रेमाख्यान लिखे जाते हैं। नायक की वीरता, निर्भीकता साहस व आत्मबलिदान का प्रभावकारी व सफल चित्रांकन किया जाता है। इन आख्यानों की नायिकाएँ भी अद्वितीय वीरांगनाओं के रूप में चित्रित की गई हैं।¹¹

ढोला-मारू प्रेमाख्यान की फ्रेंच भाषा में आलोचना फ्रांसीसी विदुषी डॉ. शालोत वादविल ने की है तथा इसके 300 दोहों का अनुवाद भी उनके द्वारा किया गया है। एक विदेशी भाषा में इस काव्य का अनुवाद, इस प्रेमाख्यान की अतिशय लोकप्रियता व महत्त्वता का परिचायक है।¹²

ढोला मारू प्रेमाख्यान की लोकप्रियता ने अनेक भाषाओं को प्रभावित किया है। सिन्धी, पंजाबी, गुजराती, हरियाणवी, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी, मैथिली, मालवी, निमाड़ी आदि

प्रान्तीय क्षेत्रों व बोलियों में लिखित-अलिखित, ज्ञात-अज्ञात, प्राचीन-अर्वाचीन, ढोला-मारू को लेकर रचा गया है।¹³ वस्तुतः ढोला-मारू प्रेमाख्यान की भाषा पर विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वान इसकी भाषा को माध्यमिक राजस्थानी कहते हैं। श्री बेचर दास जीवराज जोशी इसी मत की पुष्टि करते हैं। डॉ. मोतीलाल मेनारिया के अनुसार इसे डिंगल भाषा का काव्य ग्रन्थ माना गया है।¹⁴

ढोला मारू का प्रेमाख्यान भाव व्यंजना, स्वाभाविक व्यवहार, सरल स्पष्ट अर्थ सुलभता व शब्द सौष्ठव से परिपूर्ण है। सौन्दर्य व शिल्प रीतिबद्ध रचना ढोला-मारू सहज नैसर्गिक आभा व चटक रंग लिए हुए लोकजीवन की रसात्मकता का दुर्लभ उदाहरण है। इस प्रेमाख्यान का रीतिबद्ध अलंकार सौन्दर्य की साधना करता प्रतीत होता है।

सन्दर्भ

1. चारण, सोहनदान-राजस्थानी गेय प्रेमाख्यान, जोधपुर, 1992, पृ.-3
2. अग्रवाल, गिराज किशोर-कला और कलम, अलीगढ़, 1999, पृ.-128
3. चारण, सोहनदान-राजस्थानी गेय प्रेमाख्यान, जोधपुर, 1992, पृ.-6
4. वही, पृ.-7
5. भानावत, शान्ता-ढोला-मारू रा दूहा का अर्थ, वैज्ञानिक अध्ययन, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, 1972, पृ.-2
6. गहलोत, महावीर सिंह-ढोला मारू रा दूहा, जोधपुर, 1985, पृ.-5
7. वही, पृ.-7
8. वही, पृ.-17
9. मनोहर, शम्भूसिंह-ढोला-मारू रा दूहा, जयपुर, 1965
10. गहलोत, महावीर सिंह-ढोला-मारू रा दूहा, जोधपुर, 1985, पृ.-48
11. चारण, सोहनदान-राजस्थानी गेय प्रेमाख्यान, जोधपुर, 1992, पृ.-12
12. भानावत, शान्ता-ढोला-मारू रा दूहा का अर्थ, वैज्ञानिक अध्ययन, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, 1972, पृ.-29
वॉदविल शालोत-लेस दूहा द ढोला मारू (फ्रांसीसी भाषा में शोध प्रबन्ध व पाठ निर्धारित 360 दोहे सटीक), फ्रांस भारतीय संस्था, पांडिचेरी, ईस्वी सन् 1962
13. शर्मा, भगवती लाल-ढोला मारू रा दूहा में काव्य सौष्ठव संस्कृति व इतिहास, अजमेर, 1970, पृ.-42
14. सिंह, राम पारीक/सूर्यकरण, स्वामी नरोत्तमदास-ढोला मारू रा दूहा, काशी, 1991, पृ.-4

बंगाल का लोक साहित्य और संस्कृति

प्रो. हरिश्चन्द्र मिश्र

बंगाल के लोक साहित्य के सन्दर्भ में विश्लेषण से पूर्व बंगाल की राजनीतिक सीमा का निर्धारण करना समीचीन होगा। वस्तुतः आज के बंगाल से लोक साहित्य का बंगाल वृहत्तर रहा है। बंगला साहित्य के सम्पूर्ण इतिवृत्त में श्री असित कुमार बन्द्योपाध्याय ने बंगाल का जो ऐतिहासिक परिचय दिया है, उससे एक ऐतिहासिक सन्दर्भ भी सामने आता है। उन्हीं की बात को यहाँ निर्दिष्ट कर देना चाहता हूँ।

बंगाल आर्द्रभूमि का देश है। स्थल, जल और वायु प्रवाह इस देश के स्थावर संस्कृति के प्रति कृपण एवं दक्षिणा-दान में कुछ विरूप रहे हैं। बड़ा अविश्वसनीय लगता है कि अल्प समय में ही मठ-मन्दिर काल-कवलित हो गये। एक-एक शताब्दी में ही राजप्रासाद और झोपड़ी में कोई अन्तर नहीं रह जाता। इसलिए बंगाल के इतिहास के अनुसंधान में अनेक चीजें दृष्टि में नहीं आतीं। '...आर्यों के प्राचीन ग्रन्थों में पूर्वजनपदवासी गौण-बंग-सूक्ष्म समतट के (प्राचीन पूर्व भारत के विभिन्न अंचल) सम्पर्क में उल्लेख नहीं है। एक समय ब्रह्मवर्त के महर्षिगण अंग-बंगवासी आर्येतर नरगोष्ठी के प्रति अत्यन्त घृणा की भावना रखते थे (इस 'देशोहनार्य निवासः')। इसलिए इस देश में जो दुस्साहसिक आर्य युवक यातायात करते उन्हें 'त्रात्य' नाम से कलंकित किया जाता। इसके बाद प्रायश्चित रूप में अनेक यज्ञादि द्वारा उन्हें ('त्रात्यस्तोम') कलंक मुक्त किया जाता। इसके बाद उन्हें आर्यमण्डल में स्थान मिलता। जो भी हो, समय के साथ इस देश के प्रति आर्यों का घृणा भाव कम हुआ। पाणिनि-पतंजलि के ग्रन्थ में, मनु आदि धर्मशास्त्र में, रामायण-महाभारत में एवं बौद्ध-जैन ग्रन्थ में गौड़-बंग श्रद्धान्वित हुआ। मूलतः उत्तरापथ के आर्य संस्कार, संस्कृत भाषा एवं स्मृति संहिता का विधान ही आस्ट्रिक गोष्ठी भुक्त (अर्थात् शास्त्र में जिसे निषाद कहा गया है) एवं आर्य महिमा आविष्टित बंगाली को ब्राह्मण सभा में प्रतिष्ठित किया गया।'

हिन्दू-बौद्ध-मुसलमान युग में बंगाल की भौगोलिक सीमा बार-बार परिवर्तित होने पर भी बंगला भाषा एवं साहित्य के सीमा स्वरूप इस विशाल भूखण्ड को इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है- उत्तर में हिमालय एवं हिमालय से नेपाल, सिक्किम एवं भूटान राज्य। उत्तर-पूर्व दिशा में ब्रह्मपुत्रनद की उपत्यका, उत्तर पश्चिम दिशा में द्वारबंग पर्यन्त भागीरथी की उत्तर समान्तरालवर्ती समभूमि, पूर्व दिशा में गारोखासिया-जैन्तिया-त्रिपुरा-चट्टग्राम शैल श्रेणी से लेकर दक्षिणी समुद्र तक, पश्चिम में राजमहल-साँओताल परगना-छोटा नागपुर-मानभूम-धलभूम-केंउझर-मयूरभंज की शैलमय अरण्यमय मालभूमि, दक्षिण में बंगोपसागर है। इसी सीमा में बंगला भाषा

और साहित्य का विकास हुआ। इसी भूखण्ड में ही ऐतिहासिक काल के बंगालियों का कर्म-कृतित्व सामने आया और यही धर्म-कर्म-नर्म भूमि है।

एक समय यह देश गौड़ भूमि के रूप में परिचित हुआ था। बाद में मुसलमान युग में इस प्रदेश के एक अंग-बंग के (पूर्ववंग) नामानुसार पूरा भूखण्ड ही 'बंग', 'बांगाला', 'बंगाल' आदि नाम से परिचित हुआ। पाश्चात्य वणिकों ने भी इसी बांग्लादेश को भूगोल में स्वीकार कर लिया। राढ़-वरेन्द्र-बंग सभी आज बंग-बांगला नाम में समाहित हो गये हैं।

'बंगाल : लोक संस्कृति और साहित्य' पुस्तक में आशुतोष भट्टाचार्य ने इस प्रदेश की सीमा को निम्न रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने जिस सीमा को निर्दिष्ट किया है, वह पश्चिम बंगाल की सीमा है। उनके अनुसार उसके प्राकृतिक स्वरूप की तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं। पहला- पश्चिमी सीमा वाले पहाड़ी और जंगली क्षेत्र, जो सुवर्ण रेखा के उत्तर में मिदनापुर के उपतालुका झारग्राम से लेकर वीरभूम जिले के उत्तर में गंगा तक फैले हुए हैं। दूसरा- उत्तरी बंगाल के कूच बिहार जिले के मैदानों और तराई या हिमालय के पादप्रदेश के बीच स्थित दलदली जंगल, और तीसरा- जहाँ गंगा अपनी मुख्य धारा से दक्षिण की ओर मुड़ते हुए खाड़ी तक पहुँचती है, वहाँ से भागीरथी का डेल्टा प्रदेश। प्राचीनकाल से ही प्रमुख नदियों और उनकी सहायक नदियों का बंगाल के स्वरूप को बदलने में हाथ रहा है। उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार ईसापूर्व काल में मिदनापुर जिले में ताम्रलिप्ति एक समृद्ध बंदरगाह था। पश्चिमी बंगाल के पश्चिमी सीमावर्ती जिलों के पहाड़ी और जंगली क्षेत्रों में - जिनमें अब आदिवासी बसे हुए हैं- सुवर्णरेखा, कांसाई, रूप नारायण, दामोदर और उनकी बहुत-सी सहायक नदियों का पानी भर जाता था। विभिन्न भू-भौतिक कारणों से ये सब प्रदेश लगभग सूख गये हैं, जिससे देश का एक विशाल क्षेत्र ऊसर और जंगली क्षेत्र में परिवर्तित हो गया है। पिछली दो शताब्दियों से भागीरथी के डेल्टा प्रदेश में भी ऐसा ही हो रहा है, क्योंकि गंगा की प्रमुख धारा ने अपना मार्ग बदल लिया है और वह दक्षिणी दिशा का अपना मूल मार्ग छोड़कर पद्मा के साथ-साथ बहने लगी है।

बंगाल की सीमा को निर्दिष्ट करने के साथ बंगाली जाति का निर्धारण भी लोक साहित्य के विश्लेषण में सहायक होगा। इस सन्दर्भ में उपेन्द्रनाथ भट्टाचार्य मानते हैं कि ईसा पूर्व पाँचवी शती से बंगलादेश आर्य संस्कृति के साथ किसी न किसी रूप में युक्त होकर सर्व भारतीय परिचय के पथ पर अग्रसर हुआ। ईस्वी सन्

के बाद चौथी शताब्दी से गुप्त सम्राटों के शासन के अधीन आने पर बंगाल ने एक नये रूप में आत्मप्रकाश किया। इस समय बंगाल ने आर्य-सभ्यता एवं संस्कृति का स्पर्श पाया एवं इस समय से ही बंगाल देश के राजनीतिक शासन तांत्रिक, सामाजिक एवं धर्म सम्बन्धी प्राचीन इतिहास का सूत्रपात हुआ।

उस आर्य प्रभाव के बाद भी बंगाल का धर्म अवैदिक एवं आर्येतर था। उपेन्द्रनाथ मानते हैं कि बंगला धर्म का वैशिष्ट्य यही है कि वह धर्म आर्य एवं वैदिक धर्म द्वारा प्रभावित होने पर भी आर्येतर एवं अवैदिक अंश के प्रवेश के कारण विशिष्ट हुआ। वस्तुतः बंगाली जाति नाना जाति के समन्वय से उद्भूत एक संकर जाति है। निग्रोटों आदि आस्ट्रेलियाई एवं आलपाइन जाति के समन्वय से मुख्यतः गठित है, जिसमें अन्य जाति की रक्तधारा भी मिली हुई है।

इस सन्दर्भ में आशुतोष भट्टाचार्य ने काफी विस्तार से चर्चा की है। विविध बंगाली जाति के संकरत्व की उन्होंने चर्चा की है। उनका मत है कि यहाँ के लोग एक ही मूल वंश के नहीं हैं, बल्कि कई ऐसे जाति वर्गों के मेल से बने हैं, जो प्रागैतिहासिक और परवर्ती कालों में इस देश में आते रहे हैं। छोटा नागपुर डिवीजन और बिहार की राजमहल पहाड़ियों के साथ लगता हुआ पश्चिम बंगाल का जो पश्चिमी सीमावर्ती प्रदेश है, उसके लोग मुख्यतया प्रोटो-आस्ट्रेलायड हैं। यद्यपि ये लोग भारोपीय समूह की भाषाओं के साथ-साथ विभिन्न आस्ट्रियाई और द्रविड़ भाषाएँ भी बोलते हैं, तथापि उनके द्वारा अपनाई गयी नयी भाषा 'बांगला' है। उत्तरी बंगाल में, जिसमें दार्जिलिंग, जलपाईगुड़ि और कूचबिहार के जिले शामिल हैं, मूल रूप से मंगोलायड जाति-समूह के लोग रहते हैं और भागीरथी या हुगली के नाम से प्रसिद्ध गंगा की घाटी के आसपास बसे लोग मुख्यतः उन्नत सामाजिक वर्ग समूह के हैं और इनमें आमतौर पर पश्चिमी ब्रेकिकैफेलिक के आर्मेनायड अल्पाइन समूहों के लोग हैं। पश्चिम बंगाल के लोगों में विशेषकर उन्नत सामाजिक वर्ग-समूहों में, कुछ नार्डिक जाति के लोग भी हैं, पर इनकी संख्या बहुत कम है।

कुछ मानवविज्ञानियों का यह विचार है कि आजकल भारत में जो लोग हैं, उनमें नीग्रिट जाति के लोग सबसे प्राचीन हैं। ये लोग अब भी बंगाल की खाड़ी स्थित अंदमान द्वीपों में रहते हैं। पश्चिम बंगाल की सीमा वाले इलाकों में जो आदिम जातियाँ रहती हैं, उनमें भी इस जाति के भौतिक और सांस्कृतिक चिह्न पाये गये हैं। मानवविज्ञानियों के पास इस बात को मानने के कारण हैं कि

नीग्राइट लोगों ने सामान्यतया भारत में और विशेषकर बंगाल में, पीपल के पेड़ अश्वत्थ की पूजा प्रारम्भ की थी।

इसके बाद प्रोटो-आस्ट्रेलायड समूह की बात आती है। पश्चिम बंगाल के पश्चिमी सीमावर्ती जिलों जैसे मिदनापुर, पुरुलिया, बाँकुड़ा और वीरभूम के आसपास रहने वाले अत्यन्त प्राचीन समूह के लोग शायद आस्ट्रिक-भाषी समूह के हैं, जो मुंडा नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हें 'भूमिज' भी माना जाता है, जिसका अर्थ है - 'भूमि से उत्पन्न'। संख्या में कम होने पर भी आदिम जातियों का यह समूह अब तक ग्रामीण देवताओं के पुरोहित का पद सँभाले हुए हैं। गाँव के ओझा और काले तथा सफेद जादूगर भी इसी समूह के हैं, जो समुदाय या किसी व्यक्ति विशेष की ओर से अपना धंधा करते हैं।

मुंडारी समूह की भाषाएँ बोलने वाले प्रोटो-आस्ट्रेलायड के अन्य समूह भी उन दिनों आक्रमणकारियों द्वारा भगाये जाने पर या अन्य किन्हीं कारणों से पश्चिम अथवा दक्षिण-पश्चिम की ओर से बंगाल में आकर बस गये। यहाँ आकर बसने वाला सबसे बड़ा समूह सँथालों के नाम से प्रसिद्ध है।

बंगाल के दक्षिण-पश्चिम और उत्तर-पश्चिम सीमावर्ती प्रदेशों में क्रमशः 'उरांव' और 'भालेर' या 'माल पहाड़िया' नाम के दो द्रविड़ भाषी आदि समूह रहते हैं। ... राजमहल पहाड़ियों में बसने वाले द्रविड़ भाषी 'माल पहाड़िया' लोगों के वंशज हैं।

हिमालय की दूसरी श्रेणी से लेकर मैदानों तक और दक्षिण की ओर काफी बड़े क्षेत्र में फैले हुए पश्चिम बंगाल के उत्तरी जिलों में मुख्यतया इंडो-मंगोलायड लोग बसे हुए हैं। मध्ययुग में हिमालय की भूतानी जनजातियों ने पश्चिम बंगाल के उत्तरी जिलों पर आक्रमण करके उन पर कब्जा कर लिया और इस इलाके में अपने राजनीतिक तथा सांस्कृतिक प्रभाव का विस्तार किया था। परिणामस्वरूप यहाँ पर हिमालय की जनजातियों का भौतिक और सांस्कृतिक प्रभाव काफी है। 'बोडो' नाम से प्रसिद्ध असम के इंडो-मंगोलियन लोगों ने ब्रह्मपुत्र घाटियों के जरिये इस भाग से अपना सम्पर्क बनाया था। माना जाता है कि नारियल और अनन्नास उगाने का तरीका भी इन्हीं लोगों से लिया गया है।

आजकल बंगाल और उत्तर भारत में ऊँचे वर्ग के जो लोग रहते हैं, उनमें से अधिकांश भूमध्यसागरीय जाति के विभिन्न समूहों में से हैं। शायद यही लोग सिन्धु घाटी सभ्यता के संस्थापक थे। इन्हें बाद में प्रवेश करने वाले नार्डिक आक्रमणकारियों या भारोपीय

जातियों ने गंगा की घाटी के साथ-साथ पूर्व की ओर धकेल दिया था। बाद में इनके छोटे से एक समूह ने विन्ध्याचल को पार किया और दक्षिण भारत में प्रवेश किया। आजकल ये लोग मुख्यतया उत्तरप्रदेश, महाराष्ट्र, बंगाल और मालबार के निवासी हैं।

यह माना जाता है कि भूमध्यसागरीय जाति के लोगों ने ही सबसे पहले भारत में सभ्यता की नींव डाली थी। बंगाल और गुजरात में भक्ति-मार्ग में जो भाव-प्रवणता दिखाई देती है, वह भूमध्यसागरीय एल्पो-डाइनारिक समूह की देन मानी जाती है। बंगाल में कुछ प्रतिशत नार्डिक लोगों की छाप भी मौजूद है। सारे भारत में पितृवंशीय पद्धति इन्हीं लोगों ने शुरू की थी। 'भारोपीय भाषा' इन्हीं लोगों की देन है।

अत्यन्त प्राचीन समय से पश्चिम बंगाल के विभिन्न प्रदेशों में जो आदिम जातियाँ रहती थीं, उनमें 'मुण्डा' जाति का नाम लिया जा सकता है, जो शायद पहले-पहल छोटा-नागपुर और पश्चिम बंगाल के सीमावर्ती प्रदेशों में रहती थी। यही 'मुण्डा' 'भूमिज' भी हैं। इन्हें ही स्थानीय भाषा में 'मुरा' कहा जाता है। कभी-कभी इनके नाम के आगे 'सरदार' भी लगा देते हैं। कुछ विशेषज्ञों के अनुसार वे 'चुआर' के नाम से भी प्रसिद्ध थे। अब ये लोग पुरुलिया जिले के 'बाघमुंडी' थाने के आसपास हैं। प्रसिद्ध 'छरू' नृत्य इनका ही है। मुण्डा लोग जन-जातीय सूर्य देवता / 'सिंग बोंगा' और 'जहीर बुरु' की पूजा करते हैं। इनके पुरोहित को 'लामा' कहा जाता है।

पश्चिम बंगाल के 'डोमों' की अपनी महान परम्परा है। आठवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच बौद्ध पॉल के समय में इन्होंने अपने आध्यात्मिक जीवन का विकास किया। मध्यकाल में ये लोग स्थानीय सामन्ती सरदारों की पैदल सेना और घुड़सवार सेना में भर्ती हुए। ये लोग आदि सूर्यदेवता 'धर्म ठाकुर' के पुरोहित थे। बंगाल का लोक साहित्य अब भी इन लोगों की वीरगाथाओं से भरा पड़ा है। ये लोग बिहार के 'मघइया' या 'तुरी डोम' से अलग हैं। 'सँथाल' नामक एक और प्रोटो-आस्ट्रेलायड जनजाति है, जो मुंडा लोगों की ही बोली बोलती है। वीरभूम, बाँकुड़ा, पुरुलिया, मिदनापुर और बर्द्धमान के कुछ जिले इनके केन्द्र हैं। उड़ीसा और दक्षिण बिहार में इनकी संकेन्द्रित बस्तियाँ हैं, जबकि पश्चिम बंगाल में उनकी बस्तियाँ अन्य दो राज्यों की अपेक्षा अधिक बिखरी हुई हैं। बारह सम्प्रदायों में बँटे हुए ये लोग पितृवंशीय हैं। ये लोग अपने पूर्वजों तथा 'सिंग बोंगा' नामक सूर्यदेवता की पूजा करते हैं।

प्रोटो-आस्ट्रेलायड मूल की एक और अनुसूचित जाति है 'बाउरी', जिसके अधिकांश लोग बाँकुड़ा जिले में रहते हैं। ये नौ सम्प्रदायों में बँटे हैं। इनमें विजातीय विवाह की प्रथा है। ये लोग लोकदेवी 'मनसा' की पूजा करते हैं, जो साँपों का प्रतिनिधित्व करती हैं और 'भाटू' की अर्चना करते हैं, जो वर्षा एवं अन्य कई स्थानीय देवताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये 'बड़ा पहाड़' नामक पर्वतराज की भी पूजा करते हैं। इनमें विधवा और तलाकशुदा के पुनर्विवाह की अनुमति है।

'बाग्दी' लोग हिन्दू अनुसूचित जाति के हैं, जो बर्द्धमान, हुगली, मिदनापुर, बाँकुड़ा, वीरभूम और चौबीस परगना जिलों के बहुत बड़े इलाके में फैले हुए हैं। ये खेतिहर मजदूर और पालकी ढोने वाले कहार हैं। ये सर्पदेवी मनसा और भाटूदेवी के पुजारी हैं। इसके अलावा जनजातीय देवता जैसे 'बड़ा-पहाड़' (मारंग बुरु) और 'गोसाँइ बुरु' की भी पूजा करते हैं। शारीरिक शक्ति के अवतार के रूप में पाण्डव भीम की पूजा करते हैं। विवाह के समय दुल्हन की माँग में सिन्दूर भरने के रिवाज को बहुत महत्त्व देते हैं। इनमें विधवा और तलाकशुदाओं का पुनर्विवाह आम बात है।

माल लोग अनुसूचित जाति के हैं और आजकल पश्चिम बंगाल में वीरभूम जिले की बिखरी हुई बस्तियों में पाये जाते हैं। शायद ये लोग उन द्रविड़ भाषी जनजाति और माल-पहाड़ी और मालेर लोगों के वंशज हैं, जो बिहार के संथाल परगना और राजमहल के पहाड़ी क्षेत्रों के आसपास बसे हुए हैं। माना जाता है कि पश्चिमी बंगाल के मल्लभूम और उत्तरी बंगाल के मालदह क्षेत्रों का नाम इन्हीं माल लोगों के नाम पर पड़ा। वीरभूम और बाँकुड़ा जिलों के माल लोग सपेरों और 'वेदिया' का व्यवसाय अपनाते हैं। ये लोग सर्पदेवी मनसा की पूजा करते हैं। 'हाड़ी' पश्चिम बंगाल की एक और अनुसूचित जाति है।

उत्तरी बंगाल के जिलों की मूल जनता 'कोच' के नाम से प्रसिद्ध है और वह राजवंश या भंग-क्षत्रिय होने का दावा करती है। मूलतया ये लोग इंडो-मंगोलायड थे। ये लोग भारत के प्राचीनतम जाति समूहों में से हैं। इस जाति का वर्तमान केन्द्र कूच-बिहार का क्षेत्र है। उनकी मूल जाति बोडो नाम से प्रसिद्ध है और पूरे आसाम में छाई हुई है।

'नामोशूद्र' लोग न केवल बंगाल की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अनुसूचित जातियों में से हैं, बल्कि पश्चिम बंगाल में आजकल जो

अनुसूचित जातियाँ हैं, उनमें सबसे अधिक संख्या भी इन्हीं लोगों की है। शुरू में इनकी बड़ी संख्या पूर्वी बंगाल में थी, लेकिन आजादी के बाद बड़ी संख्या में पश्चिम बंगाल में आ गये। इनमें तलाक और विधवा के पुनर्विवाह की अनुमति नहीं है। उन्होंने वैष्णव मत ग्रहण किया है।

'मैक' लोग तिब्बती-बर्मी भाषी इंडो मंगोलायड हैं, जो आजकल राजवंशी क्षत्रिय होने का दावा करते हैं और उत्तर बंगाल के उत्तरी प्रदेशों में रहते हैं। ये मुख्यतया 'बोडो' नाम से प्रसिद्ध हैं। बंगाल में सर्पदेवता के प्रतीक सिज (दुदी) वृक्ष की पूजा इन्हीं लोगों ने शुरू की थी। 'टोटो' नामक उप-हिमालयी मंगोलायड लोगों का भी एक छोटा समूह है, जो भूटान और पश्चिम बंगाल की सीमावर्ती पहाड़ी पर रहता है। इनके गाँवों का नाम 'टोटा पाड़ा' पड़ा है।

पश्चिम बंगाल के मुसलमान सामान्यतया ऊपर बताये गये विभिन्न जाति-समूहों से अपना धर्म-परिवर्तन करके बने हैं। इनमें से अधिक आय वाले लोग सामान्यतया पुराने विचारों के हैं, परन्तु कमजोर श्रेणी वाले, जिनमें अधिकतर देहाती किसान हैं, इतने दकियानूस नहीं हैं और उन पीरों या मुस्लिम संतों के अनुयायी हैं, जिनके मजार सारे पश्चिम बंगाल में फैले हुए हैं। ये लोग अपने लोकदेवी-देवताओं, जैसे- बाना बीबी (ग्राम देवी), ओला देवी या हैजे को नियंत्रित करने वाली देवी बड़ा गाजी खान तथा बाघों को नियंत्रित करने वाले सोना पीर को मानते हैं। इनके केन्द्र स्थल मुर्शिदाबाद, मालदह और वीरभूम में हैं और ये लोग सारे पश्चिम बंगाल में फैले हुए हैं।

प्रत्येक जाति ने बंगाल पर अपनी-अपनी भौतिक और सांस्कृतिक छाप छोड़ी जो बाद में समेकित रूप से बांग्ला संस्कृति का आधार बनी।

मानवविज्ञानी चर्चा के आधार पर बंगाल का जातीय निदर्शन किया गया। इन्हीं जातियों के समेकित बंगाल-संस्कृति के साथ उसकी लोकचेतना, लोक साहित्य और लोकगीतों का जगत् का निर्माण हुआ है। विभिन्न जातियों के लोकाचारों एवं अनुष्ठानों तथा पर्वों के साथ लोकगीतों या गानों का सम्बन्ध बराबर रहा है। बंगाल तो उत्सवों का ही प्रदेश है, कारण कि विभिन्न जातियों के विभिन्न अनुष्ठान-पर्व आपस में स्वीकृत हो चुके हैं। बंगाल में कहावत है कि 'यहाँ बारह मास तेरह पर्व' होता है। लोक पर्वों के साथ गीत-गान तो हैं ही, इसके साथ साहित्यिकता को समेटे गानों

की मात्रा भी प्रचुर है। सर्वप्रथम बंगला लोक साहित्य का संग्रह एवं विश्लेषण रवीन्द्रनाथ ने आरम्भ किया। उनका साहित्यिक विश्लेषण बड़ा ही विशिष्ट और मार्मिक रहा है। यद्यपि नृतत्व एवं समाज तत्त्व की दृष्टि से उन्होंने संग्रह नहीं किया, फिर भी उनका लोक साहित्य के प्रति विश्लेषण बड़ा महत्वपूर्ण है। उन्होंने 'छड़ा' (बालगीत, ग्राम्य गीत या बालक्रीड़ा गीत) का संग्रह लोक साहित्य के रूप में किया और उसका विशद साहित्यिक विश्लेषण भी किया। इस दुर्वह कार्य को उन्होंने अपने कर्तव्य रूप में स्वीकार किया।

बंगाल में बच्चों को बहलाने के लिए नारी सुलभ शिशु गीत प्रचलित हैं। ये गीत प्रायः महिलाएँ बच्चों को बहलाने के लिए गाती हैं। इसमें बंगला भाषा और समाज का इतिहास सन्निहित हो सकता है। किन्तु उसमें जो एक सहज स्वाभाविक काव्यरस है, वही मेरे लिए अधिकतर आदरणीय लगता है। किन्तु अक्षमता एवं अनभिज्ञता के कारण वह वजन (शिष्ट साहित्य का) नहीं पाते, समालोचना के स्थल पर उन्हें एकमात्र अपने अनुराग-विराग पर निर्भर करना होता है। अतः इस प्रकार के लोक साहित्य के सम्बन्ध में वेदवाक्य खोजना ही स्पर्धा की बात है। अपनी रुचि से कौन अच्छा या खराब लगता है, उसे स्वीकार करना ही उचित है। किन्तु अधिकांश साहित्य में मात्र प्रकृति और मानव जीवन की समालोचना है। बच्चों के बहलाने वाले शिशु गीत में मैं जो रसास्वादन करता हूँ, बचपन की स्मृति से उसे अलग करके देखना हमारे लिए असम्भव है। आज के लेखकों में यह शक्ति नहीं है कि देखें कि उन शिशु गीतों का माधुर्य कितना अपनी बाल्य स्मृति पर और कितना साहित्य के चिरस्थायी आदर्श पर निर्भर करता है। 'वृष्टि पड़े टापुर-टुपुर नदी एलो बान' (वर्षा होती टापुर-टुपुर नदी में आयी बाढ़) यह गीत मेरे लिए मोहमंत्र जैसा है।... उस मोह को आज भी भूल नहीं पाता... ऐसे न देखने पर 'छड़ा' के माधुर्य और उपयोगिता को हम समझ नहीं सकते। इन सभी 'छड़ों' (शिशु गीतों) में एक चिरत्व है। इसे किसने कब लिखा कोई नहीं जानता और ऐसा प्रश्न किसी के मन में आता नहीं।... उस स्वाभाविक चिरत्व गुण के कारण आज रचित होने पर भी पुरातन एवं सहस्र वर्ष पूर्व रचित होने पर भी नूतन लगते हैं।

अच्छी प्रकार देखने से शिशु से पुरातन और कुछ नहीं है।... वयस्क मानव में कितना नूतन परिवर्तन होता है, किन्तु शत सहस्र पूर्व शिशु जैसा था, आज भी वैसा ही है। वही अपरिवर्तनीय पुरातन बारम्बार मानव के घर शिशु मूर्ति धारण करके जन्म ग्रहण करता है।

सर्वप्रथम यह जैसा नवीन, जैसा सुकुमार, जैसा दृढ़, जैसा मधुर था, आज भी ठीक वैसा ही है।... शिशु प्रकृति का सृजन है, किन्तु वयस्क मानुष अधिकांश मात्रा में खुद की रचना है। जैसे ही 'छड़ा' (शिशु गीत), वह मानव-मन में स्वयं जन्मा है।

हमारे मन में विश्व जगत् का प्रतिबिम्ब एवं प्रतिध्वनि छिन्न-विच्छिन्न रूप में स्वभावतः घूमती रहती है। वह विचित्र रूप धारण करती है और अकस्मात् प्रसंग से प्रसंगान्तर हो जाती है।

ये छड़ा हमारे नियत परिवर्तित अन्तराकाश के छायाभास हैं, तरल स्वच्छ सरोवर पर मेघक्रीडित नभोमण्डल की छाया की तरह। इसीलिए कहा था, ये स्वयं जन्मे हैं। इनकी असंलग्नता को स्पष्ट करते हुए रवीन्द्रनाथ ने निम्न 'छड़ा' को उद्धृत किया है-

यमुनावती सरस्वती काल यमुनार विये (विवाह)।

यमुना यावेन श्वशुर बाड़ी काजितला दिये ॥

काजिफुल कुड़ते पेये गेलुम माला।

हात-झुमझुम पा-झुमझुम सीता रामेर खेला ॥

नाचो तो सीताराम काँकाल बँकिये।

आलोचाल देव टापाल भरिये।

आलोचाल खेते-खेते गला हल काठ।

हेथाय तो जल नेई त्रिपुर्निट घाट ॥

त्रिपुर्निट घाटे दुटो माझ भेसेछे।

एकटि निलेन गुरु ठाकुर एकटि निलेन के ॥

तार वोनके विये करि उड़फुल दिये ॥

उड़फुल कुड़ते हये गेल बेला

तार वोनके विये करि ठिक दुक्षुर बेला ॥

रवीन्द्रनाथ लिखते हैं कि इसमें भाव का परस्पर सम्बन्ध नहीं है। कई असंलग्न छवियाँ एकदम सामान्य प्रसंग के साथ उपस्थित हुई हैं। बस इतना है कि किसी प्रकार का चुनाव विचार नहीं है।

यमुना का विवाह, उसका श्वशुर गृह जाना, काजी तला में माला का पाना, त्रिपुर्गी का घाट और ओड़वन की घटनाएँ, स्वप्न की तरह अद्भुत एवं सत्यवत् हैं। इस स्वप्नवत् को पुष्ट करते हुए रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि 'विश्वासजनकता नामक जो गुण सत्य का सर्वप्रधान गुण होना उचित है, वह जैसा स्वप्न का है वैसा और कुछ में नहीं है।' वे आगे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पाठक यह बात समझेंगे कि प्रत्यक्ष जगत् हमारे सामने जितना सत्य है, छड़ा (शिशु गीत) का स्वप्न जगत् नित्य स्वप्न धर्मी बालकों के

लिए उसकी अपेक्षा ज्यादा सत्य है। इसीलिए अनेक बार हम सत्य को भी असम्भव समझकर त्याग देते हैं एवं वे असम्भव को भी सत्य मानकर ग्रहण करते हैं। दृष्टान्त स्वरूप-

वृष्टि पड़ै टापुर-टुपुर नदी एल वान
शिव ठाकुरेर विये हल तिन कन्ये दान।
एक कन्ये राँधेन वाडेन एक कन्ये खान
एक कन्ये ना खेये वापेर वाड़ि यान ॥

एक अन्य या उसी का एक टुकड़ा आगे मिलता है-

ए पार गंगा, ओ पार गंगा, मध्यिखाने चर (नदी के बीच की भूमि)।
तार मध्ये वसे आछे शिव सदागर ॥
शिव गेल श्वशुर बाड़ि, वसते दिल पिंडे (पीढ़ा)।
जलपान करिते दिल शालिधानेर चिंडे (चूड़ा)।
शालिधानेर चिंडे नयेर, विन्निधानेर खई (लावा)।
मोटा-मोटा सबरि कला, कागमोर दइ ॥

इसमें शिव ठाकुर और शिव सौदागर एक से लगते हैं। इतिहास को एक करके देखने की प्रक्रिया है। बालक के लिए सब वर्तमान होता है और उसके सामने वर्तमान ही गौरवपूर्ण होता है। वह केवल प्रत्यक्ष छवि चाहता है एवं उस छवि को भाव के अश्रु वाष्प में धुँधला नहीं करना चाहता।

निम्न 'छड़ा' में असंलग्न छवि पक्षी के झुण्ड की तरह उड़ती चलती है। इससे प्रत्येक की इसी स्वतंत्र द्रुतगति में बालक का चित्त ऊपर-ऊपर नया-नया आघात पाकर विचलित होता रहता है-

नोटन-नोटन पायरागुलि (कबूतरों की) झोंटेन रेखेछे।
बड़ो साहेरेर विविगुलि नाइते एसेछे ॥
दुपारे दुइ रुइ कात्ला भेसे उठेछे।
दादार हाते कलम छिल छुँडे मेरेछे ॥
ओ परिते दुटि मेये नाइते नेवेछे।
झुनु-झुनु चुलगाछटि झाड़ते नेगेछे ॥
के रेखेछे के रेखेछे, दादा रेखेछे।
आज दादार डेला केला, काल दादार वे ॥
दादा यावे कोन खान दे, वकुलतला दे ॥
वकुल फुल कुड़ते-कुड़ते पेये गेलुम माला।
राम धनुके वादि वाजे सीतेनाथेर खेला ॥
सीतेनाथ वले रे भाई चाल कड़ाइ खाव।

चाल कड़ाइ खेते-खेते गला हल काठ।
हेथा-होथा जल पाव चित्तुरेर माठ ॥
चित्तुरेर माठिते वालि ठिक्-ठिक् करे।
सोना मुयाभु रोद नेगे रक्त फेटे पड़े ॥

इसमें से कोई छवि हमें पकड़ नहीं पाती, हम भी किसी छवि को पकड़ नहीं पाते। इसकी छवियाँ छवि रूप में प्रत्यक्ष सत्य हैं, किन्तु प्रासंगिकता के हिसाब से अपरूप स्वप्न। वे आगे कहते हैं कि पाठकों को ध्यान देना चाहिए कि स्वप्न-रचना करना बड़ा कठिन कार्य है।... 'छड़ा' एक ऐसी चीज है कि जिसके लिए सहज है उसके लिए अत्यन्त सहज है, किन्तु जिसके लिए कठिन है, उसके लिए एकदम असाध्य है। जो सबसे सहज है, वह सबसे कठिन है, सहज का प्रधान लक्षण ही यही है।

वास्तव में ये 'छड़ा' मानसिक मेघराज्य की लीला है, वहाँ सीमा या आकार या अधिकार निर्णय नहीं है। वहाँ नियम-कानून का कोई सम्पर्क नहीं दिखाई देता। निम्न 'छड़ा' द्रष्टव्य है-

ओ पारे जन्तिभाछटि जन्ति बड़ो फले
गो जन्तिर भाथा खेटो प्राण केमन करे ॥
प्राण करे हाइटाइ गला हल काठ।
कतक्षणे याव रे भाई हर गौरीर माठ ॥
हर गौरीर माठे रे भाई पाका-पाका पान।
पान किनलाम, चुन किनलाम, ननदे भाजे खेलाम।
एकटि पान हाराले दादा के वले देलाम ॥
दादा-दादा डाक छाड़ि दादा नाइको वाड़ि।
सुबल-सुबल डाक छाड़ि सुबल आछे वाड़ि।
आज सुबलेर अधिवास काल सुबलेर पिये।
सुबलके निये याव आभि दिग्गगर दिये ॥
दिग्गगरेर मेयेगुलि नाइते वसेछे।
भोटा-भोटा चुलगुलि गो पते वसेछे।
चिकन-चिकन चुलगुलि झाड़ते नेगेछे ॥
हाते तादेर देवशाखा मेघ नेगेछे।
गलाय तादेर तक्तिमाला रक्त छुटेछे।
परने तादेर दुबे शाड़ि छुटे पड़ेछे ॥
दुइ दिके दुइ कातला माछ भेसे उठेछे।
एकटि निलेन गुरुठाकुर एकटि निलेन टिये ॥
टियेर मार किये, नाल गामछा दिये ॥
अशथेर वाता घने, गौरी बेटि कने, नका वेटा वर।
ट्याम कुड़-कुड़ बादि वाजे, चड़कडांगार घर ॥

इस सन्दर्भ में वे कहते हैं कि इनकी बातें सत्य भी नहीं हैं, मिथ्या भी नहीं हैं, दोनों ही हैं।... जिसके सामने छन्द के ताल-ताल पर सुमधुर कण्ठ से इन सब असंलग्न असम्भव घटना को उपस्थित किया गया है, वे विश्वास भी नहीं करते, सन्देह भी नहीं करते, वे मनश्चक्र में स्वप्नवत् प्रत्यक्षवत् छवि देखते जाते हैं।

बच्चा छवि को भी अत्यन्त सहज रूप में स्वल्प आयोजन से देख पाता है। बच्चा इच्छा भाव से जितनी सहजतापूर्वक सृजन कर पाता है, हम लोग उस प्रकार नहीं कर पाते।... किन्तु आँख से जो देख पाता है, उसे उपलक्ष मात्र बनाकर अपने मन के मुताबिक उस चीज को मन में गढ़ लेता है...। कोई अदृश्य उसे दिखायी नहीं देता। वह अपनी इच्छा रचित सृष्टि को ही अपने सामने जाज्वल्यमान करके देखता है।

ये छवियाँ एक रेखा, एक कथा की छवियाँ होती हैं। जैसे दियासलाई की एक तिली दप करके जल उठती है, उसी प्रकार बच्चे के चित्त में एक बात के खिंचाव से एक समग्र चित्र पल भर में जाग उठता है।... अंश योजना द्वारा कुछ गढ़ना उचित नहीं।

*चित्तपुरे माठेते बालि चिक्चिक् करे।
(चित्तपुर के मैदान का बालू चक्-चक् करता है।)*

इस एक मात्र बात से एक वृहत् अनुर्बर मैदान दोपहर के रौद्र आलोक में हमारे सामने उपस्थित होता है।

इस प्रकार अनेक छड़ा अपने चित्रों के साथ उपस्थित हैं।

*परने तार डुरे शाड़ि घुरे पड़ेछे।
पाठान्तर देखें-
परने तार डुबे कापड़ उड़े पड़ेछे।
अन्य-*

*आय घुम आय घुम वाग्दिपाड़ा दिये
वाग्दिदेर छेले घुमोय जाल मुड़ि दिये ॥*

यहाँ वाग्दि सन्तानों की नींद विशेष रूप से दिखायी देती है।

*आय रे आय छेलेर पाल माछ धरते याइ।
माछेर काँटा पाये फुटल दोलाय चेपे याइ।
दोलाय आछे छ पण कड़ि गुनते-गुनते याइ ॥
ए नदीर धारे रे भाई वालि झुरझुर करे ॥
चाँद गुरवेते रोद लेगेछे रक्त फुटे पड़े ॥*

बालू तटवर्ती नदी की ऐसी संक्षिप्त सरल तथा सुस्पष्ट छवि

और क्या हो सकती है।

एक और श्रेणी की छवियाँ हैं, जो वर्णनीय विषय को आधार बनाकर एक समग्र व्यापार हमारे मन में जाग्रत कर देती हैं।

*दादा गो दादा शहरे याओ।
तिन टाका करे माइने पाओ ॥
दादार गलाय तुलसी माला।
वउ वरने चन्द्रकला ॥
हेइ दादा तोमार पाये पड़ि।
बउ एने दाओ खेला करि ॥*

एक अन्य-

*उलु-उलु मादारेर फुल।
वर आसछे कत दूर ॥
वर आसछे वाघापाड़ा।
बड़ो वउ गो रात्रा चड़ा ॥
छोटो वउ लो जलके या।
जले मध्ये न्याकां जोका।
फुल फुरेछे चाका चाका ॥
फुलेर वरण कड़ि।
नटे शाकेर वड़ि ॥*

रवीन्द्रनाथ इसके विश्लेषण क्रम में कहते हैं- जामातू समागम प्रत्याशिनी ग्राम्य रमणियों की उत्सुकता एवं आनन्द उत्सव की छवि स्वतः प्रस्फुटित हुई है एवं उसी उपलक्ष्य में शेउड़ा वृक्ष का बेड़ा दिया हुआ मुहल्ले का पथघाट, वन पुष्करिणी, घटकक्ष वधू एवं शिथिल गुण्ठन युक्त अस्त-व्यस्त गृहिणियाँ इन्द्रजाल की तरह उदित होती हैं।

इस प्रकार प्रायः प्रत्येक 'छड़ा' के प्रत्यक्ष तुच्छ बातों में एक मूर्ति, ग्राम का एक संगीत, घर का एक आस्वाद मिलता है। छवियों के अद्भुत दिखाई देने पर अच्छा ही होता है। बच्चों के सामने अद्भुत कुछ नहीं है, क्योंकि उनके लिए असम्भव कुछ नहीं है। इसलिए छड़ा के देश में सम्भव-असम्भव में कोई सीमागत विवाद नहीं है। कुछ उदाहरणों को देखा जाये-

*जादु, ए तो बड़ो रंग जादु, एतो बड़ो रंग।
चार कालो देखाते पार याव तोमार संग ॥
काक कालो, कोकिल कालो, कालो फिंगेर वेश।
ताहार अधिक कालो, कन्ये, तोमार माथार केश ॥*

जादु, ए तो बड़ो रंग जादु, ए तो बड़ो रंग ।
 चार धलो देखाते पार याव तोमार संग ॥
 वक धलो, वस्त्र धलो, धलो राजहंस ।
 ताहार अधिक धलो, कन्ये तोमार हातेर शंख ॥
 जादु, ए तो बड़ो रंग जादु, ए तो बड़ो रंग ।
 चार रांगा देखाते पार याव तोमार संग ॥
 जवा रांगा, करवी रांगा, रांगा कुसुम फुल ।
 ताहार अधिक रांगा, कन्ये, तोमार माथार सिंदुर ॥
 जादु, ए तो बड़ो रंग जादु, ए तो बड़ो रंग ।
 चार तितो देखाते पार याव तोमार संग ॥
 निम तितो, निसुन्दे तितो, तितो माकाल फल ।
 ताहार अधिक तितो, कन्ये वोन-सतिनेर घर ॥
 जादु, ए बड़ो रंग जादु, ए तो बड़ो रंग ।
 चार हिम देखाते पार याव तोमार संग ॥
 हिम जल, हिम स्थल, हिम शीतल पाटि ।
 ताहार अधिक हिम कन्ये, तोमार बुकेर छाती ॥

इस नारी स्तव में एक सरल सहज चित्र है। अज्ञातवशात् इसमें एक सरल कौतुक है।

मनुष्य का मन काल समुद्र में तैरते-तैरते इस बहुदूरवर्ती वर्तमान के किनारे आकर उक्षिप्त हुआ है, हमारे मन के पास संलग्न होते ही उसकी समस्त विस्मृत वेदना जीवन के उत्पाप में लालित होकर पुनः अश्रुरस में सजीव हो उठा है।

ओ पारेते कालो रंग, वृष्टि पड़े झम्-झम्,
 ए पारेते लंका गाछटि रांगा टुक्-टुक् करे ।
 ए मासटा थाक दिदि, केंदे ककिये ।
 ओ मासेते निये याव पाल्कि साजिये ॥
 हाड़ हल भाजा-भाजा, मास हल दड़ि ।
 आय रे आय नदीर जले झाँप दिये पड़ि ॥

रवीन्द्रनाथ लड़की का विदाई गीत 'छड़ा' की ओर ले जाते हुए कहते हैं कि हमारे बंगाल में एक कठिन अन्तर्वेदना है - लड़की को श्वसुर घर भेजना। नाबालिग अनभिज्ञ कन्या को दूसरे घर जाना पड़ता है। इसलिए एक व्याकुल करुण दृष्टि दिखायी देती है।

आज दुर्गार अधिवास, काल दुर्गार विये ।
 दुर्गा यावेन श्वसुरवाड़ि संसार काँदाये ॥
 मा काँदेन मा कादेन धुलाय लुटाये

सेइ-ये मा पलाकाटि दिये छेन गला साजाये ॥
 वाप काँदेन वाप काँदेन दरवारे वसिये
 सेई-ये वाप टाका दियेछेन सिन्दुक साजाये ॥
 मासि काँदेन मासि काँदेन हेशेल वसिये
 सेइ-ये मासि भात दियेछेन पाथर साजिये ॥
 पिसि काँदेन पिसि काँदेन गोयाले वसिये
 भाइ काँदेन भाइ काँदेन आँचल धरिये
 सेइ-ये भाइ कापड़ दियेछेन आलना साजिये ॥
 वोन काँदेन वोन काँदेन खाटेर खुरो धरे ।

यह एक ऐसा 'छड़ा' है, जिसमें बंग जननी का आदिकाल से वर्तमान तक के शोक का इतिहास व्यक्त हुआ है।

दोल-दोल दुलुनि ।
 रांगा माथाय चिरुनि ॥
 वर आसवे एरवनि ।
 निये यावे तरवनि ॥
 केंदे केन मर ।
 आपनि वुझिया देखो कार घर कर ॥

क्यों रोती हो तुम भी तो माँ-बाप को रुलाकर चली आई। यही कार्य तुम्हारी बेटी कर रही है। पुँटु के श्वसुर घर जाने का उसका चित्र एवं अनेक प्रसंग पाये जाते हैं।

पुँटु यावे श्वसुर वाड़ि संगे यावे के ।
 घरे आछे कुनो वेडाल कोमल वेंधेछे ॥
 आम काँटालेर वगान देव छायाय-छाया येते ।
 चार मिन्से काहार देव पाल्कि वहाते ॥
 सरु धानेर चिंड़े देव पथे जल खेते ।
 चार मागी दासी देव पाये तेल दिते ॥
 एड़कि धानेर मुड़कि देव शांशुड़ि भुलाते ॥

अनमेल विवाह के दुःख को व्यक्त करने वाले 'छड़ा' भी हैं, जो माँ-बाप के अपराध को सँजोये हुए हैं। रवीन्द्रनाथ मानते हैं कि माँ-बाप का अपराध समाज भूल जाता है, किन्तु बूढ़ा वर उसके आँख का काँटा बना है। समाज के अतिशय अत्याचार के ऊपर उसके मन का सारा आक्रोश व्यक्त होता है।

तालगाछ काटम वोसेर वाटग गौरी एल झि ।
 तोर कपाले वुड़ो वर आमि करव की ॥
 टंका भेंगे शंखा दिलाम काने मदनकड़ि ।

वियेर वेला देखे एलुम वुड़ो चापदाड़ि ॥
 चोख खाओ गो वाप-मा, चोख खाओ गो खुड़ो ।
 एमन वर के विये दियेछिले तामाकथेगो वुड़ो ॥
 वुड़ोर हुँको गेल भेसे, वुड़ो भरे केशे ।
 नेड़े चेड़े देखि वुड़ो मरे रयेछे ।
 फेन गालवार समय वुड़ो नेचे उठेछे ॥

वृद्ध वर की ऐसी लांछना और क्या हो सकती है?

बालदेवता की कितनी ही मूर्तियाँ निर्मित होती हैं- कभी पक्षी, कभी चाँद, कभी मानिक, कभी पुष्पवन के नये-नये साँचे में निर्मित होती हैं ।

प्रेम के सन्दर्भ में संकलित छंदों की चर्चा करते हुए रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि सम्पूर्ण सृष्टि में प्रेम के समान चीज कुछ और नहीं है । प्रेम का एक और गुण यह है कि वह एक को और कर देता है । भिन्न पदार्थ की प्रभेद सीमा मानना नहीं चाहता ।

चाँद केथा पाव वाद्या, जादुमणि ।
 मारिर चाँद नय गड़े देव
 गाछेर चाँद नय पेड़े देव-
 तारे मतन चाँद कोथाय पाव ।
 तुइ चाँदेर शिरोमणि ।
 घुमो रे आभार खोकामणि ।

इसी प्रसंग में रवीन्द्र स्त्रियों के बुद्धि एवं भाव का विश्लेषण करते हुए कहते हैं- स्त्रियों के अन्दर जो काफी युक्तिहीनता होती है, उसमें बुद्धिहीनता का परिचय नहीं है । वे जिस जगत् में रहती हैं, उसमें प्रेम का ही आधिपत्य होता है । प्रेम स्वर्ग का मनुष्य है । नींद न आने के समय माँ के प्रेमपूर्ण हाथ पड़ने से वह एक मनुष्य हो जाती है ।

हाटेर घूम, घाटेर घूम, पथे-पथे फेरे ।
 चार कड़ा दिये किनलेम घुम, मणिर चोखे आयरे ॥

वे आगे कहते हैं- प्रेम कभी अनेक को एक करके देखता है, कभी एक को अनेक करके देखता है, कभी वृहत् को तुच्छ करके देखता है एवं कभी तुच्छ को वृहत् कर देखता है ।

शिशुगीतों की इस चर्चा को वे शिशु के वैशिष्ट्य के साथ रखकर देखते हैं । वे मानते हैं कि शिशुदेवता के अति अद्भुत असंगत, अर्थहीन चलचित्र में ही स्वर्ग के देवता कभी अलक्षित

शिशु के साथ मिलकर स्वयं आकर खड़े हो जाते हैं ।

खोका यावे वेडु करते तेलि मागीदेर वाड़ा ।
 तेलिमागीरा मुख करेछे केन् रे माखन चोरा ॥
 भाँड़ भेंगेछे, ननि खेयेछे आर कि देखा पाव ।
 कदम तलाय देखा पेले वाँशि केड़े नेव ॥

तेलीमागी मुहल्ले का खोका बाबू हठात् कब वृन्दावन की बाँसुरी लाकर फेंक देता है । वह बाँसुरी जिसके कान से होकर हृदय में गयी होगी, वही उसे समझ सकता है ।

रवीन्द्रनाथ के छड़ा संग्रहों में दो प्रकार के छंद हैं - एक क्रीड़ा के समय शिशुओं द्वारा गाये और रचे गाने, दूसरे वयस्क महिलाओं-माताओं के द्वारा रचित तथा प्रयुक्त गाने हैं, जिसका उन्होंने संग्रह ही नहीं किया, वरन् अत्यन्त कवि दृष्टि से बड़ा विशद विवेचन किया है ।

‘छेले भुलानो छड़ा-2’ (बच्चों को बहलाने के गीत) की भूमिका में उन्होंने छंदों के रस, अलंकार आदि काव्यशास्त्रीय गुणों की दृष्टि को उठाते हुए कहा है कि हमारे अलंकार शास्त्र में नव रसों का उल्लेख है, किन्तु बच्चों को बहलाने के गीत में जो रस पाया जाता है, वह शास्त्रोक्त किसी रस के अन्तर्गत नहीं आता ।

सद्यःकर्षण की मिट्टी से जो गन्ध निकलती है अथवा शिशु के नवनीत कोमल देह से जो स्नेह उद्वेलक गन्ध निकलती है, उसे पुष्प-चन्दन, गुलाब जल, इत्र या धूप की सुगन्ध के साथ एक श्रेणी में मिलाया नहीं जा सकता । समस्त सुगन्ध की अपेक्षा उसमें जैसी अपूर्व आदिमता है, शिशुओं के बहलाने के गान में उसी प्रकार एक आदिम सौकुमार्य है, उसी माधुर्य को बाल्यरस नाम दिया जा सकता है । वह तीव्र नहीं, गाढ़ा नहीं, वह अत्यन्त स्निग्ध सरस एवं युक्ति संगहीन है । निश्चय ही ये ‘छड़ा’ शिशुगीत शास्त्रभार या शास्त्रीय अलंकार एवं रसमीमांसा की श्रेणी से परे मनुष्य के आदिम स्वाभाविक बोध की सम्पदा है, जो जितने पुराने हैं उतने ही नये हैं ।

उसी क्रम में आगे उन्होंने ऐसे ग्रामीण कवियों के काव्य की लोक साहित्य के रूप में चर्चा की है, जो कीर्तन की ऐतिहासिक प्रक्रिया में कविता के उस दौर से गुजरने लगे, जहाँ कविता प्रतियोगिता की चीज बन जाती है । कुछ प्रश्न और उत्तर के क्रम में प्रतियोगिता ही कविता की रचना की मूल अन्तर्वस्तु बन जाती है । विषय अनेक होने पर भी इस समूह गान को लोक साहित्य के अन्तर्गत

ही माना जा सकता है। उस सन्दर्भ में रवीन्द्रनाथ के विश्लेषण को संक्षेप में रखना समीचीन होगा। इन्हें 'कवियाल गान' नाम से जाना जाता है। उसके सन्दर्भ में रवीन्द्रनाथ की धारणा बहुत अच्छी नहीं रही है।

बंगला के प्राचीन काव्य साहित्य एवं आधुनिक काव्य-साहित्य के बीच में 'कवियाल गान' एक नई सामग्री है एवं अधिकांश नये पदार्थ के न्याय की तरह इसकी परम आयु अत्यन्त स्वल्प होती है।

जैसे गोधुलि बेला में हठात् आकाश पतंगों से घिर जाता है, उससे मध्याह्न का आलोक भी दिखायी नहीं देता और अंधकार घनीभूत होने से पूर्व ही वे अदृश्य हो जाते हैं। उसी प्रकार इन कवियों का गान भी एक समय बंग साहित्य में स्वल्पक्षणस्थायी गोधुलि आकाश में अकस्मात् दिखायी दिया। उसके पूर्व भी उसका कोई परिचय न था, इस समय भी उसका कोई पता नहीं चलता।

गीति कविता के इतिहास के साथ इस 'कवियाल गान' के विकास को रवीन्द्रनाथ के ही शब्दों में देखा जाये। गीति कविता बंगाल देश में बहुत समय से चली आ रही है एवं गीति कविता ही बंग साहित्य का प्रधान गौरव स्थल है। वैष्णव कवियों की पदावली वसन्त काल के प्रचुर पुष्पमंजरी की तरह है, जैसा उनका सौरभ वैसा ही उसका गठन सौन्दर्य है। राजसभा कवि राय गुणाकर का अन्नदा मंगल गान राजकण्ठ के मणिमाला की तरह था। उसकी आभा जैसी उज्ज्वल थी वैसी उसकी कला भी। अभी हमारे समालोच्य इसी कवि के गान हैं, किन्तु इनमें उस भाव की गाढ़ता एवं संरचना की पद्धति नहीं है। न रहने का कुछ कारण भी है। पूर्वकाल के गान देवताओं के सम्मुख नहीं, राजाओं के सम्मुख गाये जाते थे। अतः स्वयं कवि का आदर्श अत्यन्त दुरूह था। इसलिए रचना के किसी भी अंश में अवहेलना का लक्षण नहीं था - भाव, भाषा, छन्द, रागिनी सबमें सौन्दर्य एवं नैपुण्य था। उस समय कवि का रचना करना एवं श्रोता गण का श्रवण करने का अवसर अव्याहत था। तभी गुणियों की सभा में गुणी कवि के गुणों की अभिव्यक्ति सार्थक होती।

किन्तु अंग्रेजों की नयी राजधानी में पुरानी राजसत्ता नहीं रही। पुरातन आदर्श भी नहीं रहा। तब कवियों का आश्रयदाता सर्वसाधारण नामक एक अपरिणत विस्तृत व्यक्ति हुआ एवं हठात् राजा के सभा का उपयुक्त गान कवि समूह का गान हो गया। तब यथार्थ साहित्य-रस की आलोचना का अवसर योग्यता एवं कई

लोगों की इच्छा थी। तब नयी राजधानी के नये समृद्धशाली कर्मश्रान्त वणिक-सम्प्रदाय संध्या समय बैठक में बैठकर दो दण्ड हमारी उत्तेजना चाहते हैं, वे साहित्य-रस नहीं चाहते।

कवियों का दल उनके अभाव को पूर्ण करने के लिए बैठक में अवतीर्ण हुआ। उन लोगों ने पुराने गुणी गानों में अनेक मात्रा में जल और कुछ चटक मिलाकर उनके छन्दोबद्ध सौन्दर्य को तोड़कर सुलभ किया। अत्यन्त लघु एवं उच्च स्तर से पूर्ण चार ढोल एवं चार झाल के साथ सबल सदल चीत्कार करके आकाश विदीर्ण करने लगे। उस समय के सभ्यगण केवल गान सुनने एवं भाव रस भोग करने से सन्तुष्ट नहीं थे। उसमें लड़ाई एवं हार-जीत की उत्तेजना रहना भी आवश्यक था। सरस्वती की वीणा का तार भी झनझन शब्द से झंकार करता होगा। पुनः वीणा के काष्ठ दण्ड को लेकर ठक्-ठक् शब्द से लाठी खेलना होगा। हठात् नये राजा के मनोरंजन के लिए यही एक नया अपूर्व व्यापार निर्मित हुआ। पहले नियम था कि दोनों प्रतिपक्षी दल पहले से ही परस्पर पूछकर उत्तर-प्रत्युत्तर लिखकर लाते, बाद में उससे भी तृप्ति नहीं हुई। बैठक में बैठकर आमने-सामने वाक्युद्ध चलने लगा। इस अवस्था में केवल प्रतिपक्ष ही आहत नहीं किया जाता - भाषा, भाव, छन्द, समस्त ही नष्ट-भ्रष्ट होने लगा। श्रोताओं को भी और कोई प्रत्याशा नहीं थी - कथा का कौशल अनुप्रास की छटा एवं आशु जवाब से सभा जम जाती। वाह-वाह उच्चरित होता। ढोल, झाल के साथ सम्मिलित कण्ठ का प्राणपण से चीत्कार होता। ऐसी सभा में सरस्वती बहुत देर तक रुक नहीं सकती।

सौन्दर्य की सरलता नहीं थी, भाव की गम्भीरता भी नहीं थी, केवल अनुप्रास का सघन प्रयोग ही उसके मन को उत्तेजित कर देता है। इस अनुप्रास की प्रचुरता से जन-सामान्य वाह-वाह करने लगता है। कवियों के गान में अनेक जगह अनुप्रास - भाव, भाषा, यहाँ तक कि व्याकरण को धकेल देता है और श्रोताओं के सामने प्रगल्भता प्रदर्शन करता है। क्षणिक रूप में मत्त होने वाला श्रोता और कुछ नहीं चाहता और विचार भी नहीं करता तथा विचारणीय चीज की अपेक्षा नहीं करता। दृष्टान्त देखें-

गेल-गेल कुल-कुल, याक कुल-

ताहे नइ आकुल।

लयेछि याहार कुल, से आभार प्रतिकुल ॥

यदि कुल कुण्डलिनी अनुकूला हन आभाय

अकुलेर तरी कुल पाव पुनराय ॥

एखन व्याकुल हये कि दुकुल हारार सइ ॥
तहि विपक्ष हासिवे यत रिपुचय ॥

आगे रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि व्याकरण एवं शब्द शास्त्र का सम्पूर्ण लंघन करने पर भी उससे किसी की आपत्ति नहीं होती। एक और दृष्टान्त में-

एके नवीन वयस, ताते सुसभ्य,
काव्य रसे रसिके,
माधुर्य गाम्भीर्य, ताते 'दाम्भिर्य' नाइ,
आर-आर वउ येमन धारा व्यापिके।
अधैर्य हेरे तोरे स्वजनी, धैर्य धरा नहि याय।
यदि सिद्ध हय सेइ कार्य करव साहाय्य,
बलि, ताइ वले या आमाय ॥

हमारे 'कवियाला' के वैष्णव काव्य का सौन्दर्य एवं गम्भीरता अत्यन्त अयोग्य है। इन 'कवियाला' के गान का प्रधान विषय कलंक एवं छलना है। बार-बार राधा एवं राधा की सखी कुब्जा को अथवा अन्य को लक्ष्य करके तीव्र परिहास से श्याम की दुर्दशा की जाती है। उनकी रचना का एक और विषय है - स्त्री पक्ष एवं पुरुष पक्ष का परस्पर अविश्वास द्वारा दोषारोपण करना, उस सख्य के कलह को सुनते-सुनते धिक्कार पैदा होता है।

कविदल के गान में राधिका का जो अभिमान प्रकट हुआ है, वह प्रायः इसी प्रकार का अयोग्य अभिमान है।

साध करे-करे छिलेम दुर्जय मान,
श्यामेर ताय हल अपमान।
श्याम के साधलेन ना, फिरे चाइलेन ना,
कथा कइलम ना रेखे मान।
कृष्ण सेइ रागेर अनुरागे, रागे-रागे गो
पड़े पाछे चन्द्रावलीर नव रागे।
छिल पूर्वेर ये पूर्वरग, आवार ऐ कि अपूर्व राग,
पाछे रागे श्याम राधार आदर भुले याय ॥
यार मानेर माने आमाय माने, से ना माने।
तवे की करवे ऐ माने।
माधवेर कत मान ना हय तार परिमाण,
मानिनी हयेछि यार माने ॥
ये पक्षे यखन वाड़े अभिमान
सेइ पक्षे राखते हय सम्मान।
राखते श्यामेर गान गेल-गेल मान,

आमार किसेर मान-अपमान ॥

केवल नायक-नायिका का अभिमान नहीं है, पिता-माता के प्रति कन्या का अभिमान भी कविदल के गान का प्रधान विषय है। ये गान अब भी पारम्परिक रूप में कभी-कभी होते रहते हैं। ये लोक-स्मृति में अवशिष्ट हैं। कुछ समय के साथ नष्ट हुए और कुछ लोक की स्मृति में हैं। अधिकांश कविदल के खातों में मिलते हैं।

ग्राम्य साहित्य

इन 'छड़ों' एवं 'कवियाला' के गान के अलावा भी कुछ साहित्य है, जो श्रम-साहित्य हो सकता है। नाविकों एवं चरवाहों के गीत हो सकते हैं। ऐसे प्रौढ़ गीतों की रवीन्द्रनाथ ने ग्राम्य-साहित्य के अन्तर्गत चर्चा की है। ये गीत या गान निश्चय लोक की सहजता के साथ जुड़े हैं। श्रम के साथ चलने वाले इन गीतों का साहित्यिक विश्लेषण करते हुए रवीन्द्रनाथ लिखते हैं- बाढ़ के समय डोंगा खेते हुए दस-पन्द्रह लोग झूम-झूमकर गान करते हैं। जल की चंचलता के साथ गान का छन्द भी चलता है-

'युवती, क्यान् वा कर मन भारी।
पावना क्याहे आन्ये देव ट्याहा-दामेर मोटरि ॥'

(युवती क्यों करती हो मन भारी।
पावना से कीने देबों टके दाम की मोटरि।)

वर्षा के घनघोर प्लावन में युवती के चित्त की विमुखता सबसे बड़ा दुर्विपाक है। इसी दुर्ग्रह शान्ति के लिए छन्द रचना एवं प्रिय-प्रसाद-वंचित हत भाग्यगण प्राणपात भी करने के लिए तैयार रहते हैं। उस अवसर पर कवि टके दाम की मोटरि लाने की बात करता है। मन भारी की हुई युवती के लिए ग्राम्यकवि आकाश तारा, नन्दन वन का पारिजात एवं प्राण-समर्पण की बात नहीं करता, सीधे-सीधे टका दाम की मोटरि की बात कहकर शान्त हो जाता है। (शायद मोटरि का अर्थ मटरमाला हो)। इसमें एक छन्द एवं एक स्वर चाहिए। पावना जिले के धान के खेत में भी उसका प्रयोजन होता है। वहाँ तक पहुँचकर इस मोटरि का दाम एक टका से काफी बढ़ जाता है।

जनपद में जैसे खेती और नौका चालन का कार्य चलता है - वहीं लोहार के घर हल का फाल, बढई के घर ढेंकी एवं स्वर्णकार के घर टका दाम की मोटरि का निर्माण होता रहता है- उसी समय साथ-साथ भीतर-भीतर साहित्य-गठन का कार्य भी चलता रहता है, उसमें विश्राम नहीं है। प्रतिदिन जो विक्षिप्त विच्छिन्न एवं खण्ड-

खण्ड रूप में सम्पन्न हो रहा होता है, साहित्य उसे एक सूत्र में ग्रंथित करके हमेशा के लिए प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है। गाँवों में प्रतिदिन विचित्र काम भी चलता है एवं उसके बीच-बीच में चिरदिन की एक रागिनी बजने के लिए प्रयास भी चलता रहता है।

पद्मा नदी के प्रवाह में चकवी-चकवा की ध्वनि और कोयल की ध्वनि सुनायी देती है। नाना प्रकार के जीव सुर या बेसुर से गान करते हैं। इसे पद्मा तीर का गान कहा जा सकता है।

ग्राम्य साहित्य में कल्पना का तान हो या न हो, किन्तु आनन्द का सुर है। ग्रामवासी जिस जीवन का प्रतिदिन भोग करते हैं, ग्राम कवि उसी को भाषा दान करता है।... कल्पना की संकीर्णता से ही वह अपने प्रतिवेशी को घनिष्ठ सूत्र से बाँध पाता है एवं उसी कारण उसके गाने में कल्पनाप्रिय अकेला कवि नहीं है, बल्कि समस्त जनपद का हृदय कलरव से ध्वनित हो उठता है।... राजसभा के काव्य में छन्द का मेल एवं काव्य कला की सुसम्पूर्णता में सन्देह नहीं है, किन्तु ग्राम्य 'छड़ों' के साथ उनका प्रभेद नहीं था।

पहले ग्राम्य छड़ा (ग्राम्यगीत) गाँव के सम्भ्रान्त वंश की लड़कियों की भी साहित्य-रस-तृष्णा मिटाने के लिए भिखारिणी और दादियों के मुख से घर-घर प्रचारित होते। अब अनेक पढ़ना सीखी हैं, बंगाल के छापेखाने का साहित्य उनके हाथ में पड़ा है। अब लगता है कि कवि समाज के ये गान समाज के अनेक नीचे स्तर पर उतर गया है।

मोटे तौर पर इन छड़ों (गानों) को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है- (1) हर-गौरी विषयक एवं (2) कृष्ण-राधा विषयक। प्रथम में बंगालियों के घर की बात एवं दूसरे में बंगालियों के भाव की बात व्यक्त होती है। एक तरफ सामाजिक दाम्पत्य बन्धन एवं एक तरफ समाज बन्धन का अतीत प्रेम है।

दाम्पत्य सम्बन्ध में एक विघ्न विराजमान है-दारिद्र्य। उसी दारिद्र्य शैल को वेष्टित करके हरगौरी की कहानी नाना दिशाओं से तरंगायित हुई है। कभी श्वसुर-सास का स्नेह उस दारिद्र्य पर आघात करता है, तथा कभी स्त्री-पुरुष का प्रेम उस दारिद्र्य तक पहुँचकर प्रतिहत हुआ है।

बंगाल के कवि हृदय ने इसी दारिद्र्य के महत्त्व एवं देवत्व को उच्चायित किया है। वैराग्य एवं आत्मविस्मृति द्वारा दारिद्र्य की हीनता हटाकर उसे ऐश्वर्य की अपेक्षा काफी बड़ा कर दिया है। भोलेनाथ ने दारिद्र्य को अंग का आभूषण बनाया है। दरिद्र समाज

के लिए ऐसा आनन्दमय आदर्श और कुछ नहीं है। 'हमारा सम्बल नहीं' जो कहता है वही गरीब है, 'हमारी आवश्यकता नहीं है' जो कह सकता है उसका अभाव कैसा? शिव तो उनका ही आदर्श हैं।

हरगौरी सम्बन्धी ग्राम्यगीत भाव के यथार्थ हैं। वह रचयिता एवं श्रोता वर्ग की एकदम अपनी बात है। उन काव्यों में जामाता की निन्दा, स्त्री-पुरुष का कलह एवं गृहस्थी का जो वर्णन है, उसमें राजभाव या देवभाव कुछ नहीं है, उसमें बंगाल प्रदेश की ग्राम्यकुटी का प्रतिदिन का दैन्य एवं क्षुद्रता सब कुछ प्रतिबिम्बित है। उसमें कैलाश एवं हिमालय हमारे पोखरघाट के सम्मुख प्रतिष्ठित हुआ है एवं उसमें शिखरराशि हमारे आम बाग के शीर्ष को छोड़कर उठ नहीं पाती।

*शरत्काले रानी वले (कहीं/ विनय वचन-)
आर शुनेछ गिरिराज निशार स्वप्न?*

इसी स्वप्न से कथा आरम्भ होती है। समस्त 'आगमनी' गानों की यही भूमिका है। प्रतिवर्ष शरत्काल के भोर में गिरिरानी अपनी श्मशानवासिनी सोना गौरी को स्वप्न में देखती हैं। इस स्वप्न को हम अपने पितामह एवं प्रपितामह के समय से ललित विभास एवं रामकेली रागिनी में सुनते आ रहे हैं, किन्तु प्रत्येक वर्ष वे नये रूप में सुनते हैं।

जल में स्थल पर एक वृहत् वेदना बज उठती है, जिसे दूसरे के हाथ दिया है, वह मेरा अपना धन कहाँ है?

*वत्सर गत हयेछे कत, करछे शिवेर घर।
याओ गिरिराज, आनते गौरी कैलास शिखर ॥
आगे शुने कथा गिरिराजा लज्जाय कातर
पंचभीते यात्रा करे शास्त्रेर विचार।
ता गुनि मेनकारानी शीघ्र गति धरि।
खाजा मण्डा मनोहरा दिलेन भाण्डभरि ॥
मिश्रीसाँच चिनिर फेनि क्षीर तक्ति सरे।
चिनिर फेना एलाचदाना मुक्ता थरे-थरे
भांगेर लाडु सिद्धि वाले पंच मुखे दिलेन।
भाण्ड भरि गिरिराज तखनि से निलेन ॥
दोष के बीच अभिमानिनी ने उनसे कहा था-
कह वावा निश्चय, आर कव पाछे-
सत्य करि वलो आमार मा केमन आछे।*

तुमि निटुर हये कुटुर मने पासरिला झि,
शिव निन्दा करछ कत तार वलव की ॥

शिवनिन्दा से रुष्ट होकर बोल उठी- तब गिरिराज ने कहा-

मा, तुमि वल निटुर कुटुर, शम्भु वलेन शिला ।
छार मेनकार बुद्धि शुने तोमाय निते एलाम ॥
तखन शुने कथा जगत्माता काँदिया अस्थिर ।
पाढ़ा मेघेर वृष्टि येन पाल एक रीत ॥
नयन जले भेसे चले, आकुल हल नन्दी
कैलासेते मिलल झरा, हल एकटि नदी ॥
केंदो ना मा, केंदो ना मा, त्रिपुर सुन्दरी ।
काल तोमाके निये याव पाषाणेर पुरी ॥

सन्देश दिये -

छिलेन मेनका रानी, दिलेन दुर्गार हाते ।
तुष्ट हये नारायणी क्षान्त पेलेन ताते ॥
उमा कन शुन वावा वोसो पुनवरि ।
जलपान करिते दिलेन नाना उपहार ॥
यत्र करि महेश्वरी रानुन करिला ।
श्वसुर जामाता दोहे भोजन करिला ।

इसके अलावा नारी विवाह की अनेक समस्याएँ भी गीतों में मिलती हैं। बेमेल विवाह, गरीबी, सास, श्वसुर और ननद का कलह आदि समस्याएँ भी इन गीतों में भरी पड़ी हैं। पति द्वारा पत्नी के मायके की निन्दा, बूढ़े पति का अत्याचार आदि इन गीतों में भरे पड़े हैं। विषय विस्तार को बचाने के लिए उदाहरण देना सम्भव नहीं है।

राधाकृष्ण सम्बन्धी गीतों की जाति स्वतंत्र है। वहाँ वास्तविकता का कोठा पार होकर मानसिकता में जाना होता है। वही अपरूप ग्वाल राजा बंगाली 'छड़ा' रचयिता एवं श्रोताओं का मानस राज्य है।

स्थाने-स्थाने फेरेन राखाल, संगे केह नाइ ।
भाण्डी वने धेनु चरान सुवल कानाइ ॥
सुवल वलिछे शुन भाइ रे कानाइ ।
आजि तोरे भाण्डी वन विहारी साजाइ ॥

इस सजाने की बात सुनकर निकुंज के सभी फूल आग्रह से व्याकुल हो गये-

कदम्बेरे पुष्प वले सभा विद्यमाने
साजिया दुलिव आजि गोविन्देरे काने ॥
करवीर पुष्प वलेन, आमार मर्म के वा जाने-
आज आमाय राखबेन हरि चुड़ार साजने ॥
अलक-फुलेर कनक दाम वेलफुलेर गाँथनि-
आमार हृदये श्याम दुलाते चुड़ामणि ॥
आनन्देते पद्म वलेन, तोमरा नाना कुल
आमाय देखले हते चित्त व्याकुल ॥
चरणतले थाकि आमि कमल पद्म नाम
राधा कृष्णे एकासने हेरिव वयान ॥

कोई पुष्प निराश नहीं हुआ, उस दिन उनका खिलना सार्थक हुआ। ऐसे अनेक उद्धरणों के साथ रवीन्द्रनाथ ने राधा-कृष्ण विषयक गीतों की साहित्यिक व्याख्या की है। उन्होंने कहा कि बंगाल के ग्राम्य गीतों में हरगौरी एवं राधाकृष्ण की कथा के अलावा सीता-राम एवं राम-रावण की कथा भी पायी जाती है, किन्तु तुलना में वे कम हैं।

रवीन्द्रनाथ ने लोक साहित्य संग्रह का जो सर्वप्रथम उपक्रम आरम्भ किया और उसकी साहित्यिक व्याख्या भी की, निश्चय यह उनका जातीय दायित्व बोध था। लोक साहित्य के अन्तर्गत जिस 'छड़ा' (शिशु संगीत) को उन्होंने लिया, उसको अपनी व्याख्या के साथ अपने संग्रह में स्थान दिया। आशुतोष भट्टाचार्य ने रवीन्द्रनाथ की 'छड़ा-व्याख्या' की प्रशंसा करते हुए उनके लोक तत्त्व, सामाजिक तत्त्व तथा नृतत्त्व के सन्दर्भ में आलोचना की है। उन्होंने उनके द्वारा संग्रहीत 'छड़ों' की अनेक शीर्षकों में रचना एवं विषय के आधार पर विभाजित किया है। उनके विचारों पर विचार करके बंगला लोक साहित्य को और स्पष्ट किया जा सकता है। उन्होंने कहा है कि ग्राम्य जीवन के स्थूल परिचय का जैसे परित्याग करने का अधिकार नहीं है, उसी प्रकार मार्जित करने का भी अधिकार नहीं है। रवीन्द्रनाथ ने अपने लोक साहित्य के उपकरणों का संग्रह नहीं किया। एक दृष्टान्त देकर ही अच्छी प्रकार यह समझा जा सकता है कि इस विषय में उन्होंने किस नीति का अनुसरण किया था। उन्होंने 'आज दुर्गार अधिवास, काल दुर्गार विये' इस छड़ा का संग्रह करते समय इसके अन्तिम अंश को परिवर्तित कर दिया था एवं इसके लिए उन्होंने पाठक समाज से अत्यन्त विनीत भाव से निवेदन किया है। उन्होंने जो कैफियत दी है, उससे यह समझा जा सकता है कि नितान्त अनिच्छा के साथ उन्होंने कुछ शब्द विशेष को परिवर्तित कर दिया था। परिवर्तन न

करने पर भी वे सर्वापेक्षामुखी ही होते। 'छड़ा' का प्रत्येक शब्द ही एक रस, वाक्य एवं चित्रगत अखण्डता की रक्षा में सहायक होता है। उसे उन्होंने ठीक ही पाया था, किन्तु भद्र समाज में सामने परिवेशन करने की योग्यता के रहते भी उन्होंने ऐसा किया। इस मनोभाव अथवा रुचिबोध द्वारा लोक साहित्य का जो उपकरण संगृहीत हो सकता है, वह साहित्य के रसोपलब्धि में जितना भी सहायक हो, अन्ततः समाज या नृतत्वविद की प्रयोजनीयता सिद्ध नहीं कर पाता। क्योंकि समाज अथवा नृविद्या आलोचना के लिए सारा तथ्य ही प्रयोजनीय होता है, कुछ भी वर्जनीय नहीं होता। यहाँ तक कि समाज की माला-माली की भाषा भी समाज तत्त्वविद् की आलोचना का विषय हो सकता है। उन्होंने लोक साहित्य की ऐतिहासिकता को इन्कार किया है। वे मानते हैं कि पाश्चात्य लोकश्रुति विद्गण लोक साहित्य के किसी विषय में से निरवाछिन्न ऐतिहासिक तथ्य संधान करने के पक्षपाती नहीं हैं। उसी प्रकार इसके कोई तथ्य ही ऐतिहासिक नजीर के हिसाब से व्यवहृत नहीं होता। किन्तु रवीन्द्रनाथ ने अर्द्ध शताब्दी पूर्व ही 'छेले भुलानो छड़ा' प्रबन्ध में यह कहा था कि 'अनेक प्राचीन इतिहास एवं स्मृति का अंश इन सभी छड़ों में पड़ा हुआ है और कोई पुरातत्वविद उसे सम्पृक्त करके एक नहीं कर सकता...। अतः रवीन्द्रनाथ ने इसके भीतर जिस रस का संधान किया था, उसे अन्य किसी ने नहीं पाया था। यह बंगला लोक साहित्य के लिए एक परम सौभाग्य का विषय है। उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। केवल रवीन्द्रनाथ ने अपने कई 'लोक साहित्य' के निबन्धों द्वारा ही नहीं, अपने ध्यान धारणा से भी इसके रस को स्वांगीकृत किया था। रवीन्द्रनाथ का 'छड़ा' संग्रह ही आधुनिक बांग्ला साहित्य का प्रथम छड़ा संग्रह है। इसके पूर्व बंगला भाषा के व्याकरण रचना के उद्देश्य से अंग्रेज धर्म प्रचारकों ने जो प्रवाद एवं विशिष्टार्थक वाक्यांश (आइडोम्स) के संग्रह का प्रकाशन किया था, उसमें कुछ-कुछ 'छड़ा' भी संगृहीत हुए थे, किन्तु वे प्रधानतः प्रवाद-धर्मी रचनाएँ ही थीं और प्रवाद मानकर संगृहीत थीं। किन्तु रवीन्द्रनाथ का छड़ा संग्रह अविमिश्र छड़ा संकलन है। काव्यधर्मी छड़ा के अलावा उनके संग्रह में और कोई छड़ा ही स्थान नहीं पाया।

रवीन्द्रनाथ ने अपने छड़ा संग्रह 'छेले भुलानो छड़ा' नाम से उल्लेख करने पर भी उनके संगृहीत छड़ों के विश्लेषण करने पर इनमें मूलतः दो प्रकार के छड़ा मिलते हैं। प्रथम छेले भुलानो (बच्चों के बहलाने) के 'छड़ा' दूसरे छेलेर खेलार छड़ा (बाल क्रीड़ा गीत)। इन दो श्रेणी के छड़ों में एक मौलिक पार्थक्य है।

छेले भुलानो छड़ा शिशु की जननी या शिशु धात्री की रचना है, इसीलिए इनके देह एवं आत्मा में प्रौढ़ बुद्धि का संस्पर्श होता है। इसका अर्थ शिशु नहीं समझता, मातृकण्ठ से उच्चरित स्वर को सुनकर ही मुग्ध होता है।

रवीन्द्रनाथ द्वारा संगृहीत दूसरे श्रेणी के छड़ा का विषय खेल है। इन छड़ों की प्रधान विशेषता है कि ये किशोर बुद्धि लड़के-लड़कियों की अपनी रचना होती है। शिशु रचना होने के कारण ही ये अर्थहीन हैं, किन्तु छन्द अथवा तालहीन नहीं हैं, वरन् छन्द एवं ताल का परिचय इनके द्वारा ही और प्रत्यक्ष होते हैं। यथा-

आगडुम वागडुम घोड़ाडुम साजे।

ढाक मृदंग झाँझर वाजे ॥

वाजते-वाजते चल्ल डुलि।

डुलि गेले सेइ कमला पुलि ॥

कमलापुलि टियेटा।

सूथिय मामार वियेटा ॥

आय रंग हाटे याइ ॥

गुया पान किने खाइ ॥

क्रीड़ा गीत विभिन्न प्रकृति के होते हैं, जैसे लड़कों के खेल के छड़ा (गीत)। ये मिश्र क्रीड़ा के गीत हैं। आरम्भ में लड़के-लड़कियाँ एक साथ खेलते हैं, किन्तु थोड़े दिन में ही दोनों अलग-अलग प्रकृति के खेल करने लगते हैं।

इसके साथ उन्होंने कहा है कि रवीन्द्रनाथ के लोक साहित्य का संग्रह जितना भी असम्पूर्ण हो, उसके आधार पर उन्होंने लोक-साहित्य पर जो विचार किया है, उसे किसी भी प्रकार असम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता। उन्होंने इसके सन्दर्भ में जो मूल स्वर एवं तत्त्व प्राप्त किया था और में जो कुछ कट गये हैं, वे विश्व के हर देश में लोक-साहित्य संग्रह एवं चिन्तन हेतु आधार हो सकते हैं।

ये छड़ा लोक साहित्य की एक विशिष्ट सम्पदा हैं। ये छड़ा आंचलिक या एक अंचल विशेष में सीमाबद्ध नहीं हैं। लोक साहित्य के अन्यान्य विषय में जिस प्रकार एक आंचलिक परिचय अनेक समय अत्यन्त स्पष्ट हो उठता है, छड़ा में वह नहीं है। इसका मूल कारण यह है कि छड़ों में सहज आनन्द का जो भाव प्रकाशित होता है, उसमें सार्वजनीनता होती है। छड़ा साधारणतः शिशु जीवन को केन्द्र करके रचित होते हैं। शिशु के आचार-

व्यवहार एवं अनुभूति में जो सार्वजनीनता है, उसी के कारण ही छड़ा अत्यन्त सहज रूप में सार्वजनीन उपलब्धि के विषय हो जाते हैं।

विषय अनुयायी बंगला 'छड़ा' को कई भागों में बाँटा जाता है, जैसे प्रथमतः शिशु विषयक 'छड़ा'। फिर निद्रा विषयक छड़ा इसमें प्रथमतः थुमपाड़ानि छड़ा (लोरी)। इसमें भी झूले का छड़ा, फिर घुम आवाहन (नींद बुलाने का गीत) तीसरा घुम अनुज्ञा (नींद अनुरोध) चौथा घुमन्त शिशुर रूप या 'घुम याथ' (नींद जाय) विषयक छड़ा। 'वर्गी एल देशे' विषयक छड़ा इसके अन्तर्गत हैं। अन्त में नींद बुलाने वाली मौसी पीसी आवाहन के छड़ा हैं।...

शिशु विषयक छड़ा में निद्रा विषयक छड़ा के बाद छेले खेलार (शिशु क्रीड़ा) की बात की जाती है। शिशु क्रीड़ा सम्बन्धी छड़ा केवल चित्रधर्मी होते हैं। रवीन्द्रनाथ ने छेले घुम पड़ानो छड़ा एवं छेले क्रीड़ा छड़ा दोनों को मिलाकर 'छेले भुलानो छड़ा' के रूप में एक किये, लेकिन दोनों में मौलिक भेद हैं। यह पार्थक्य केवल भाव या अर्वागत नहीं है - यह पार्थक्य वाह्यगत भी है। इनके छन्द, ताल एवं सुर एक नहीं हैं। शिशु क्रीड़ा गीतों में केवल सुर एवं छन्द को लेकर एक कालगत अखण्डता ही नहीं है, अपितु इसमें देश-देशान्तर निरपेक्ष पृथ्वीव्यापी एक ऐक्य है। कारण कि शिशु की अन्तःप्रकृति प्रत्येक देश में अभिन्न है। शिशु छड़ा में अन्यान्य विषयक छड़ा हैं- 'खोकार खाओया' (बच्चों को खिलाने के गीत), 'खोकार अभियान' (बच्चे का अभियान), 'खोका ओ चाँद' (बच्चा और चाँद), 'खोकर नृत्य' (बच्चे का नृत्य) खोकार विये', (बच्चे का विवाह) 'मामावाड़ी' (मामा घर), 'शिशु ओ पशुपक्षी' (शिशु और पशुपक्षी), 'खोका ओ यशोदा दुलाल श्रीकृष्ण' (बच्चा और यशोदा लाडला श्रीकृष्ण), 'खोकार रूप' (बच्चे का रूप) इत्यादि विषय उल्लेख योग्य हैं।

आशुतोष भट्टाचार्य ने शिशु विषयक छड़ा के बाद नारी को उपजीव्य बनाकर लिखे गये छड़ों का उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है कि नारी जीवन की दो दिशाएँ हैं- एक गार्हस्थ्य या पारिवारिक जीवन और एक उनके आचार। इन दोनों विषयों को आलम्बन करके लोक साहित्य में अनगिनत 'छड़ा' (गान) रचित हुए हैं। शिशु सम्बन्धी गीतों की अपेक्षा इनकी संख्या काफी अधिक है। पारिवारिक जीवन के छड़ा नारी के घरकन्या रात्रा वाड़ार विषय से आरम्भ करके श्वसुर, सास, ननद, जेठानी आदि के साथ उनके सम्पर्क की बात लेकर रचित होते हैं। लड़कियों के खेल के बहाने ये छड़ा आवृत्त किये जाते हैं। नारी आचार जीवन सम्बन्धी छड़ा भी लड़कियों के व्रत के छड़ा हैं। इनमें धर्म भावना

या अलौकिकता कुछ-कुछ रहती है। गार्हस्थ्य एवं व्यक्ति जीवन के कल्याण इनमें लक्ष्य हैं। जैसे भादुली व्रत के छड़ा में पाया जाता है-

नद, नदी कोथाय याओ,
वाप भायेर वार्ता दाओ।

(नद, नदी कहाँ जाते,
बाप भाई का समाचार दो।)

दीर्घकाल तक निरुद्दिष्ट प्रवासी सौदागरों की कन्या एवं बहनें इस व्रत का पालन करके उनके कल्याण की कामना करती हैं।

शिशु और नारी के बाद बंगला के 'छड़ा' में उपजीव्य विषय पशु-पक्षी हैं। पशुओं में कई निर्दिष्ट पशु इनमें स्थान पाये हैं। पशुओं में श्रृंगाल ने सबसे महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण किया है। इसके बाद व्याघ्र को स्थान मिलता है, फिर गाय। पक्षियों में घुघु (कबूतर), फिर काक, गौरैया, तोता, खंजन, वक इत्यादि को स्थान मिला है। चमगादड़ को भी स्थान मिला है।

उन छड़ों के अलावा समसामयिक किसी उल्लेख योग्य घटना का अवलम्बन करके 'छड़ा' की आवृत्ति की जाती है, किन्तु उसमें साहित्यिक गुण नगण्य है। बंगाल के उपकथाओं में भी एक श्रेणी में 'छड़े' सुनायी देते हैं। ये मूलतः कहानी के साथ जुड़े होने के कारण स्वाधीन रूप से आवृत्त नहीं किये जाते। कहानी के बहाने ही आवृत्ति की जाती है। जैसे-

उकुने वुड़ी पुड़े मालो, (उकुन में बूढ़ी जल मरी)
वक सात दिन उपोस रइल, (वक सात दिन उपवास रहा)
नदीर जल फेनिये गेल, (नदी का जल फेनिल हुआ)
हातिर लेज खसे पड़ल। (हाथी की पूँछ गिर गयी)

अन्त में कथा समाप्त होने पर भरत वाक्य की तरह स्निग्ध, मधुर कण्ठ से जो छड़ा उच्चरित होता है, वह यही है-

आमार कथारि फुरुलो, (हमारी बात खत्म हुई)
नटे गाछटि मुड़ाल। (नट ने पेड़ काटा।)
केन रे नटे मुड़लि? (क्यों रे नट काटे?)
गरुते केन खाय? (गाय क्यों खाय?)
केन रे गरु खास? (क्यों रे गाय खाती?)
राखाल केन चराय ना? (ग्वाला क्यों चराता नहीं?)
केन रे राखाल चरास ना? (क्यों रे ग्वाल चराये नहीं?)
वौ केन भात देय ना? (बहू क्यों भात दी नहीं?)

केनलो वौ भात दिस् ना? (क्यों बहू भात दी नहीं?)
 कलागाछ केन पात फेले ना? (केला ने क्यों पत्ता फेंका नहीं?)
 केनरे कलागाछ पात केलिस ना? (क्यों रे केला पत्ता फेंके नहीं?)
 व्यांग केन डाके ना? (मेंढक क्यों पुकारा नहीं?)
 केन रे व्यांग डाकिस ना? (क्यों रे मेंढक बुलाये नहीं?)
 सापें केन खाय? (साँप क्यों खाता है?)
 केन रे साप खास? (क्यों रे साँप खाते हो?)
 खावार धन खावनि? (खाने की चीज खाऊँगा नहीं?)
 गुड़गुड़ते याव नि? (गुड़गुड़ा में जाऊँगा नहीं?)

साहित्यिकता की परिधि में आने वाले लोकगीतों का परिचय दिया गया। अब पर्व और अनुष्ठानों से सम्बन्धित गीतों का परिचय लिया जाये। यद्यपि इन छड़ों में भी कुछ पर्वों आदि से सम्बद्ध हैं, फिर भी पर्वों के अपने गीत हैं, जिनमें देवताओं की स्तुति, कल्याण कामना एवं सामाजिक चिन्ता आदि हैं। विभिन्न जातियों से सम्बद्ध देवताओं एवं पर्वों के साथ भी सबका समन्वय होता गया है। कुछ गीत एवं गान साहित्यिक इतिहास में भी आगत हैं, फिर भी लोकगीतों की शैली में भी आते हैं— मनसा मंगल एवं बाउल गान। इनका सामान्य परिचय अपेक्षित है।

इन छड़ों के मौखिक साहित्य के अलावा भी लोक में गीतों का प्रचार-प्रसार प्रचुर मात्रा में रहा है। यद्यपि अब इन गीतों का उतना प्रयोग नहीं होता, किन्तु परम्परा जीवित है। उन परम्परित लोकगीतों की साहित्यिकता भले ही कम हो, किन्तु उनकी संगीतात्मकता तथा प्रासंगिक अर्थवत्ता बराबर रही है। इनकी भी मौखिक परम्परा रही है। इस वैज्ञानिक युग में उसकी मौखिक स्मृति खण्डित हुई है। आशुतोष भट्टाचार्य ने 'बंगाल : लोक संस्कृति और साहित्य' पुस्तक में लिखा है कि बंगाल की संस्कृति मुख्यतया ग्रामीण है।... बंगालवासियों की स्वभावगत कोमलता और संगीतात्मकता पर यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों, इतिहास और परम्पराओं का प्रभाव स्पष्टतया दिखाई देता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रत्येक बंगालवासी का जीवन यहाँ के गीतों में अभिव्यक्त हुआ है।

इन गीतों को कई वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे— समारोह गीत, कार्य गीत, ऋतुगीत, क्षेत्रीय गीत, प्रेमगीत, अनुष्ठान गीत आदि। इनके अलावा आध्यात्मिक और धार्मिक गीत भी होते हैं, जैसे— बाउल, मुर्शिया, मारफती, देहतत्व तथा अन्य भक्ति गीत। बंगाल में गाथा गीत भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, जिसे 'गोपीचन्द गान' या गोपीचन्द के गाथा गीत कहा जाता है।

लोककथाएँ भी काफी मात्रा में हैं, जिनमें परी कथाएँ, पशु कथाएँ, अनुष्ठान कथाएँ आदि का महत्त्व है। बंगाल का लोक पहेलियों और लोकोक्तियों से भी भरा पड़ा है। इनकी विशद चर्चा अवसर के अनुसार की जा सकती है।

इसके साथ उन्होंने लोक साहित्य के सांगीतिक पक्ष पर ध्यान दिया है। उनका मत है कि बांग्ला लोकगीतों में अनेक प्रकार के भाव भरे होते हैं और उनकी संगीत-रचना भी अलग-अलग प्रकार की होती है। एक ओर, यदि उन पर विभिन्न आदिवासी जाति समूहों के संगीत का प्रभाव पड़ा है, तो दूसरी ओर शास्त्रीय संगीत का। कभी-कभी उनमें शास्त्रीय संगीत अपने विकृत रूप में होता है, तो कभी शास्त्रीय संगीत की स्तरीयता दिखायी देती है।

बंगला लोक संगीत को मूलतः दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - लयात्मक और लय-रहित। इन दोनों प्रकार के गीतों को क्रमशः 'सारी' और 'भटियानी' कहा जाता है। इनको 'भीतरी' और 'बाहरी' भी कहा जाता है। सामान्यतया सामूहिक रूप से गाये जाने वाले गीत लयात्मक गीत होते हैं। अधिकांश कार्य गीत सामूहिक रूप से ही गाये जाते हैं। लय रहित लोकगीतों में 'भटियानी' अत्यन्त प्रसिद्ध है, जिसको 'भटियानी' संगीत शैली में गाने के कारण 'भटियाली' भी कहा जाता है। बांग्ला लोक संगीत के लिए 'भटियाली' आधार-भूमि रहा है। 'भटियाली' 'भीतरी' श्रेणी का गीत माना जाता है, एकान्त में अकेले गाया जाता है—यह ग्रामीणों, विशेषतया पतवार को सीधे पकड़कर धारा के साथ निरायास बहते जाने वाले नाविकों के पूर्ण शारीरिक और मानसिक विश्राम का गीत है। भटियाली का शाब्दिक अर्थ है—भाटा के साथ बहते जाना। 'भटियाली' एकल नौकागीत है और 'सारी' सामूहिक नौका गीत है। सारी की धुन तेज होती है।

बंगाल का 'बाउल' संगीत काफी प्रसिद्ध हो चुका है। यद्यपि बंगला साहित्य के इतिहास में भी बाउल-साहित्य का उल्लेख मिलता है, फिर भी गाँवों के मन से सम्पूर्ण रूप से जुड़ने के कारण इन्हें लोकगीत के अन्तर्गत माना जाता है। गाँव के खुले वातावरण में एकतारा बजाकर नाचते हुए बाउल एक स्वर में एक मन के मानुष की तलाश करते हुए गा उठते हैं। इनके गीत या गानों में सामाजिक विद्रोह की भावना है। ये वेद विरोधी हैं और उनकी साधना प्रकृति सेवा से जुड़ने के कारण तांत्रिक है। ये जाति-पाँति के विरोधी हैं। इनके सम्प्रदाय में हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल हैं। इस सम्प्रदाय का गठन सूफी, सहजिया वैष्णव, सहजयानी आदि सम्प्रदायों के प्रभाव से हुआ है। ये कर्मकाण्ड एवं मूर्ति पूजा

के विरोधी हैं। एक मन, एक राग और एक ही मन के मानुष से इनका सर्वदा सम्बन्ध होता है। इनके गीतों में क्षेत्रीय प्रभाव दिखाई देता है। यह बंगाल का प्रमुख सम्प्रदाय है, जिसका एक लम्बा इतिहास है। इनकी सामाजिक चेतना हिन्दी संतों से मेल खाती है। ये कबीर को भी अपना गुरु मानते हैं। ये बाउल बड़े मुक्त मन के होते हैं। सामाजिक बन्धन और रूढ़ियों के विरोधी होते हैं। इनकी मूल प्रवृत्ति और गानों की सहजता लोक के काफी करीब होती है। लालन बाउलों में कबीर की तरह आदि बाउल माने जाते हैं। ये ईश्वर को मन का मानुष मानते हैं। वही कृष्ण-राधा युगल, गुरु, साईं, रज और शुक, अधर धरा आदि सब कुछ होता है। अपने विचारों में ये बाउल बड़े प्रगतिशील रहे हैं। इनके गान साहित्य में भी आते हैं और लोकगान भी हैं। समाज व्यवस्था को न मानने के कारण ये बाउल अपने को पागल कहते हैं। बाउल बातुल या व्याकुल शब्द से बना है। इसका अर्थ पागल होता है। वे मानते हैं कि 'ईश्वरे ये खोजे उल से तो बाउल'। इसीलिए वे वैदिक पूजा पद्धति और कर्मकाण्ड को नहीं मानते। वैदिक वर्णव्यवस्था तथा जाति-पाँति एवं छुआछूत के वे सख्त विरोधी हैं। इनका एकतारा खुले गाँव में निनाद करता रहता है। जन मन से इनका तादात्म्य बड़ी आसानी से होता है। शायद एक विशेष दर्शन से जुड़ने के बावजूद भी वे लोकगान की श्रेणी में रखे जाते हैं।

डॉ. चित्तरंजन माइति ने अपनी पुस्तक 'बांग्ला लोकसंगीत लोक जगत् ओ लोकमानस' लोक संगीत के सन्दर्भ में एक वैज्ञानिक श्रेणी का विभाजन किया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने पर्व, देवी-देवताओं, अनुष्ठानों आदि की सूचियाँ भी क्रमबद्ध दी हैं। लोक संगीत एवं साहित्य का विश्लेषण भले ही उच्चस्तरीय न हो, किन्तु सारणीकरण काफी अच्छा और विस्तृत है। लोक संगीत में श्रेणी विन्यास करते हुए उन्होंने एक सारणी प्रस्तुत की है।

लोक संगीतों के साथ अनेक लोकाचार भी जुड़े हुए हैं और उनसे सम्बद्ध लोकगीत भी हैं। प्रयोग में भले ही न हों। इनमें प्रमुख रूप से निम्न लोकाचार ज्यादा प्रसिद्ध हैं।-

शिशुजन्म का लोकाचार, शिशु नामकरण, अन्नप्राशन (चटावन) भाई कोटा (भातृ द्वितिया), धान्य रोपण और नल बाँधने का लोकाचार, नवान्न विवाह का लोकाचार (विवाह के निमंत्रण गीत, सम्बन्ध गीत, हल्दी लगाने के गीत से लेकर कन्या विदाई तक के गीत इस में मिलते हैं), इसके अलावा दधिमंगल एवं ढेंकीमंगल, साध भक्षण (गर्भवती रमणी को 5, 7 एवं 9

महीने में विभिन्न लोभनीय भोजन दिया जाता है। उस समय गीत भी प्रस्तुत होते हैं) प्रचलित रहे हैं। इन सबके साथ जुड़े गीतों को प्रस्तुत करना सम्भव नहीं लगता, क्योंकि ज्यादा विस्तार होगा। उन लोकाचारों एवं लोकगीतों के साथ अनेक देव-देवियों का भी सम्बन्ध जुड़ा रहा है।

लोककथा

बंगला लोक साहित्य के परिचयात्मक विश्लेषण के सातत्य में लोक-कथा का विश्लेषण भी आवश्यक है। बंगला में भी हिन्दी की तरह ही कहानियों को देखा जा सकता है। दादी-नानी की कहानियों से लेकर परियों एवं भूत-प्रेतों की कहानियाँ हैं, तो पौराणिक कहानियाँ भी अपने लोक रूप में विद्यमान हैं। प्रायः कहानियाँ गीतात्मक ही रही हैं। गद्यात्मक कहानियों में भी प्रायः गीत भरे रहते हैं। वैसे पर्व और अनुष्ठान से सम्बन्धित कथाएँ भी हैं, जो गीत शैली में हैं या कहानी के रूप में हैं। ऐसी कहानियों में पर्व या अनुष्ठान से सम्बन्धित पूज्य देव-देवियों का यश तथा शक्ति का घटनात्मक प्रभाव दिखाया गया है। यों तो पूरा भारत ही कथा का देश है। कोई भी प्राचीन काव्य ग्रन्थ हो, उसमें कथा की लवलेशी तो रहेगी ही। प्रत्येक खण्डकाव्य और महाकाव्य तो कथा की प्राणवत्ता के संवाहक ही हैं। लोकगीतों के वे अंश जो पर्व या अनुष्ठान से सम्बद्ध रहे हैं, वे उन अनुष्ठानों की कथा के अंश भी रहे हैं। ऐसे गीतों को गाथागीत भी कहा जा सकता है। सन् 1873 ई. में जार्ज ग्रियर्सन ने बंगाल के कृषकों के पास जाकर विशेष विषय पर गाथा गीतों को संगृहीत किया, जो 'गोपीचन्द गान' या गोपीचन्द के गाथागीत के नाम से प्रसिद्ध हैं। उसमें प्राचीन बंगाल के एक युवा राजकुमार की गाथा है, जिसने सांसारिक जीवन का त्याग कर दिया। इसके अलावा आशुतोष मुकर्जी एवं दिनेशचन्द्र के नेतृत्व में कुछ गाथा गीतों का संग्रह प्रकाशित किया गया। उनमें हैं- 'गोपीचन्द गान', 'मैमनसिंह गीतिका', 'पूर्व बंग गीतिका', और 'पूर्व बंगाल के गाथा गीत'। ये कई जिल्दों में हैं। आशुतोष भट्टाचार्य ने इस संगृहीत गाथा गीतों के सन्दर्भ में बताया है कि इन्हें नाथ गाथागीत और असाम्प्रदायिक गाथागीत, दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। भाषा की दृष्टि से नाथगीत अपेक्षाकृत पुराने हैं। बाह्य रूप से ये साम्प्रदायिक या धार्मिक हैं। नाथगीत मुख्य रूप से दो विषयों पर आधारित हैं - पहला नाथ सम्प्रदाय के संत, गोपीचन्द के नैतिक चरित्र पर और दूसरे में एक ऐसे राजकुमार की कथा है, जिसने अपनी रानी माँ के आदेश पर सांसारिक जीवन का परित्याग कर दिया। यद्यपि इनमें अलौकिक

एवं धार्मिक तत्त्व मिलते हैं, तथापि इनमें मानवीयता की कमी नहीं है। उनका आगे कहना है कि असाम्प्रदायिक गाथागीतों के पात्र अपेक्षाकृत अधिक निडर होते हैं और अपने मनोभावों को बिना किसी लाग-लपेट के अभिव्यक्त करते हैं। इनमें स्त्री पात्रों की प्रमुखता है। इन्होंने प्रेम के लिए अत्यन्त दृढ़तापूर्वक महान आत्मत्याग किया है। अनुमानतः ये पात्र उस मातृवंशी समाज के हैं, जो इस क्षेत्र में कभी स्थापित था।

अब ख़ाँटी लोक-कथा का प्रकरण लिया जाये। आशुतोष भट्टाचार्य ने 'लोक कथाएँ' शीर्षक से इनका संक्षिप्त परिचय दिया है। इन लोक कथाओं की संग्रह परम्परा का निर्देश करते हुए उन्होंने लोक कथाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया है-

परी कथाएँ : इसके सन्दर्भ में आशुतोष का कहना है कि ये जटिल होती हैं और इनमें अतिमानवीय तत्त्वों की प्रधानता होती है। दीर्घ होना इनकी एक विशेषता है। इनमें राक्षस, जंगली पशु और स्वर्ग की परियाँ अपनी मुख्य भूमिका में होती हैं। इनमें पात्र अनाम होते हैं, अतः किसी निजी चरित्रगत विशेषता का सवाल ही नहीं उठता। अतः ये कथाएँ सार्वभौमिक स्वीकृति पाती हैं, क्योंकि उनमें कोई स्थानीय पहचान नहीं होती। प्रेम के अलावा इन कथाओं में भाग्य का भी प्रकरण आता है। ग्रामीणों की भाग्यवादी अवधारणा ही इन कथाओं में प्रतिफलित होती है। इनमें सदा बुराई पर अच्छाई की और अन्याय पर न्याय की विजय होती है। इसके बाद सक्षम व्यक्ति को जीवन में सफलता प्राप्त होती है। यही आशावादिता इन कथाओं को काल्पनिकता के ऊपर उठाकर यथार्थ का आभास कराती है।

पशु कथाएँ : इन कथाओं में पशु पात्र मनुष्य की तरह आते हैं और बातें भी करते हैं। इनमें हास्य का पुट भी रहता है। यह हास्य प्रायः प्रसंगानुकूल और सूक्ष्म नहीं होता। इन कथाओं में दुर्बल और विवश पात्रों के प्रति सहानुभूति का भाव रहता है। इन पशु पात्रों के साथ मनुष्यों की भी मुख्य भूमिका होती है। हास्य के साथ-साथ उपदेशात्मकता भी इनमें मिलती है। पंचतंत्र की कथाओं की तरह इनसे शिक्षा लाभ होता है। बंगाल की पशु कथाओं में अप्रत्यक्ष रूप से नैतिक संदेश भी रहता है।

अनुष्ठान कथाएँ : अनुष्ठान कथाएँ ग्रामीण स्त्रियों द्वारा किये जाने वाले व्रतों के अवसर पर पूजा के समय कही जाती हैं। इनका महत्त्व साहित्य, इतिहास और जाति की दृष्टि से काफी रहा है। इनको 'व्रत-कथा' कहा जाता है। इनका विषय सनातन हिन्दू

देवी-देवता नहीं होते। प्राचीन विधियों से अलग पूजा विधि अपनायी जाती है। ये कथाएँ किसी न किसी अनुष्ठान के समय कही जाती हैं। इनके पात्र अलौकिक होते हैं। इनमें ग्रामीण बालाएँ सरल भाषा में अपने जीवन के अनुभवों को व्यक्त करती हैं। वे जो मनोकामनाएँ करती हैं उनमें भविष्य में विवाह होने पर उनकी आकांक्षाओं और उनके मधुर स्वभाव को अभिव्यक्ति मिलती है। इनसे उनके मन की पीड़ा और प्रेमी से प्रेम करने वाली किसी अन्य लड़की के प्रति ईर्ष्या का भाव भी प्रकट होता है। इनके देवी-देवताओं में मानवीय कमजोरियाँ भी होती हैं। भाग्यवाद से भी इनका सम्बन्ध होता है। इन कथाओं में जीवन का यथार्थ रहता है। अनुष्ठानों से जुड़े होने के कारण इनमें परिवर्तनशीलता नहीं होती। हिन्दी प्रदेश के अनुष्ठानिक लोक-कथाओं से इनका मेल निर्दिष्ट किया जा सकता है, जैसे- हरतालिका व्रत-कथा, जीउतिया की कथा, पीड़िया और गोधन की कहानी तथा करवा-चउथ आदि की कथा में इन तत्त्वों को देखा जा सकता है। बंगाल के विभिन्न पर्वों से इन कथाओं का सम्बन्ध रहा है। अतः उन पर्वों का नामोल्लेख करना समीचीन होगा। मुख्यतः निम्न हैं- सूर्य का पर्व (गाजन), भूमिदेवी के पर्व, कटनी का पर्व, फसल के देवी-देवताओं के पर्व - (कार्तिक, भांजो, कोजागारी लक्ष्मी, क्षेत्रठाकुर, कौआपीर आदि इसके ही भाग हैं), नदियों के पर्व - (गंगा एवं अन्य नदियाँ), नागपूजा पर्व, जनजातीय पर्व एवं इसके अलावा साम्प्रदायिक मेले भी आनुष्ठानिक ही होते हैं - वैष्णव, बाउल मेला, मुसलमान पीर आदि से सम्बन्धित अनुष्ठान मेले प्रसिद्ध हैं।

आशुतोष भट्टाचार्य द्वारा उल्लेखित दो कहानियों को यहाँ प्रस्तुत करना समीचीन होगा। - पशुकथा एवं परीकथा के दृष्टान्त हैं ये कहानियाँ।

(क) एक दुष्ट शेर पिंजरे में बन्द था। जो भी राही आता, वह उससे पिंजरे की कुण्डी खोलने को कहता और जितनी कातरता से वह विनती करता था, उससे कुछ लोगों का मन हो भी आता था कि पिंजरे की कुण्डी खोलकर उसको मुक्त कर दिया जाये। लेकिन कुण्डी खोलने की किसी की हिम्मत नहीं पड़ती थी।

एक दिन एक ब्राह्मण राजा से भोज का निमंत्रण पाकर उसके महल जा रहा था। वह बड़े सरल स्वभाव का नेक इंसान था। शेर ने उसको देखकर कहा- 'ओ दादाजी! कृपा करके पिंजरे का दरवाजा खोल दो।' उसकी विनती से पसीजकर ब्राह्मण ने दरवाजा खोल दिया। ज्योंही शेर पिंजरे से बाहर आया, उसने ब्राह्मण से कहा- 'मैं तुमको खा जाऊँगा।'

ब्राह्मण ने कहा- 'मैंने ऐसी बात कभी नहीं सुनी। क्या उपकार करने वाले व्यक्ति को मार देना चाहिए?' इस पर शेर ने कहा- 'यह तो प्रकृति का नियम है। पहले उपकार करने वाले को ही नुकसान उठाना पड़ता है।' उत्तर में ब्राह्मण ने कहा- 'हम तीन गवाहों से पूछकर देख लें। यदि उनकी राय भी वही हो, जो तुम्हारी है, तो मुझको इसमें कोई आपत्ति नहीं होगी।'

शेर ने कहा- 'चलो, हम तुम्हारे बचाव के तीन गवाहों से पूछें।' ब्राह्मण ने खेत में चर रही एक भेड़ से पूछा कि उपकार करने वाले व्यक्ति की भलाई की जानी चाहिए या नहीं? उसने उत्तर दिया- 'मैं किसानों के खेतों की निगरानी करती हूँ, लेकिन वे मुझे काट देते हैं। इसलिए मेरे विचार से किसी को उपकार करने वाले की भलाई नहीं करनी चाहिए।'

ब्राह्मण ने एक बरगद का पेड़ दिखाकर कहा-यह मेरा दूसरा गवाह है। बरगद के पेड़ ने भी वही बात दुहरायी। उसने कहा- 'लोग मेरी छाया में बैठते हैं, लेकिन वे मेरी डालियाँ काट लेते हैं, पत्तियाँ तोड़ लेते हैं और मेरे तने से रस और गोंद निकाल लेते हैं। इसलिए अपने ऊपर उपकार करने वाले की भलाई किसी को भी नहीं करनी चाहिए।'

उसी समय एक सियार उस रास्ते से जा रहा था। उसको बचाव पक्ष का अन्तिम गवाह बनाया गया। सियार बहुत चतुर था, लेकिन उसने मूर्ख की तरह कहा- 'सच पूछो तो मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि असल में हुआ क्या है? शेर उस रास्ते से जा रहा था और ब्राह्मण पिंजरे में था या ब्राह्मण उस रास्ते से जा रहा था और शेर पिंजरे में बंद था।' इसके बाद शेर, ब्राह्मण और सियार तीनों पिंजरे के पास गये। शेर नाराज था ही। वह वास्तविक घटना दिखाने के लिए पिंजरे में घुस गया। चतुर सियार ने तुरन्त बाहर से दरवाजा बन्द कर दिया और ब्राह्मण से कहा- 'दुष्ट व्यक्ति पर विश्वास न किया करो। अब राजा का न्यौता खाने उसके महल में जाओ, भोज का समय अभी बीता नहीं है।'

(ख) एक राजा था। उसकी एक रानी थी। उसका राज्य दूर तक फैला हुआ था। उसका एक बड़ा-सा किला था, बहुत से नौकर-चाकर थे। वास्तव में उसे सभी प्रकार का सुख था, लेकिन मन की शान्ति नहीं थी, क्योंकि राजा-रानी निःसन्तान थे। उसके मन में यही बात उठती रहती थी कि उसके बाद राजगद्दी पर कौन बैठेगा? एक दिन राजा अपनी रानी के साथ नदी किनारे टहल रहा था। अचानक एक घटना घटी। सुनहरी मछली ने पानी में से

अपना सिर निकालकर राजा से कहा- 'उदास मत हो, तुम्हारे घर एक सुन्दर लड़की का जन्म होगा।'

राजा को तो इस बात पर विश्वास नहीं हुआ, लेकिन रानी को विश्वास हुआ। वह मन ही मन खुश हो गयी। कुछ समय बाद रानी को एक सुन्दर लड़की पैदा हुई। राज्य भर में खुशी की लहर दौड़ गयी। राजा ने अपनी प्रजा को किले में आमंत्रित किया। सभी लोगों को भोज दिया गया और कीमती उपहार दिये गये। बगैर किसी भेदभाव के सबको निमंत्रित किया गया था, लेकिन किसी तरह एक बुढ़िया निमंत्रित होने से रह गयी थी। उसने किले में जाकर राजकुमारी को शाप दिया कि वह पन्द्रह वर्ष की उम्र में सुई चुभ जाने से मर जायेगी। उसका शाप सुनकर राज्य के सभी लोग भयभीत हो उठे। लेकिन बुढ़िया का शाप अटल था।

पन्द्रह वर्ष की उम्र में राजकुमारी सो गई - इस प्रकार मानो सुई चुभ जाने से ही सो गयी हो। उसके साथ सभी लोग, नौकर-चाकर, सैनिक, राजा और उसके मंत्री सो गये। पूरे राज्य में कोई भी जगा न रहा। किले के चारों ओर झाड़ियाँ उग आयीं। जो कोई उन काँटेदार झाड़ियों को देखता था, उसको काँटे चुभ जाते थे और अंधा हो जाता था। इसलिए लोगों ने किले की ओर जाना छोड़ दिया। इस प्रकार इतना बड़ा किला जंगल में सोया रहा। उस रास्ते कोई नहीं आता-जाता था।

समय बीतता गया। अकस्मात्, एक दूर देश का राजकुमार शिकार खेलता हुआ वहाँ पहुँचा। काँटेदार झाड़ियों से घिरे किले को देखकर उसे आश्चर्य हुआ। उसने झाड़ियों की ओर देखा, लेकिन उसकी आँखों में कोई काँटा नहीं चुभा। काँटा चुभने की जगह फूल खिल आये। वह जिधर देखता, उधर पक्षी चहचहाने लगते।

राजकुमार घोड़े पर सवार होकर किले की ओर बढ़ा। भीतर घुसने पर उसने देखा कि दरबान दरबाजे पर सो रहा है, राजा अपनी गद्दी पर सो रहा है और रानी अपने शयन-कक्ष में सोने के पलंग पर सो रही है।

राजकुमारी सोई हुई थी। राजकुमारी के पलंग के पास जाकर उसके सौन्दर्य को निहारता रहा। एकाएक, राजकुमारी ने अपनी आँखें खोल दीं। उसके साथ-साथ पूरे किले में सोए हुए सभी लोग जाग गये। दूर देश का वह राजकुमार राजकुमारी से विवाह करके उसको अपनी राजधानी ले आया।

निश्चय ही यह कहानी अपने खण्डित रूप में हिन्दी प्रदेश में प्रचलित 'सोती सुन्दरी' कहानी ही है। प्रायः हिन्दी प्रदेश में भी इस प्रकार की कहानियाँ प्रचलित हैं। पशुओं, वृक्षों एवं परियों की कहानी का कहानी जगत् में अभाव नहीं है।

पहेलियाँ

बौद्धिक कसरत के लिए गाँवों में पहेलियों की एक लम्बी परम्परा रही है। बड़े प्रतीकात्मक शैली में सुष्ठु भाषा तथा हास्य रस के साथ पहेलियाँ कही जाती हैं। इनमें समानार्थक घटना द्वारा अन्य बात की अपेक्षा होती है। बड़ी सूझबूझ से श्रोता को सही उत्तर देना पड़ता है। बौद्धिकता की परख के साथ-साथ एक अच्छा मनोरंजन भी होता है। आशुतोष भट्टाचार्य ने पहेलियों को दो भागों में विभाजित किया है— (1) साहित्यिक पहेलियाँ, (2) लोक पहेलियाँ। उनका मत है कि साहित्यिक पहेलियाँ लोक पहेलियों पर आधारित होती हैं। कभी-कभी साहित्यिक पहेलियों में भी लोक रूप दिखाई देता है। इनकी रचना ग्रामवासियों द्वारा ही होती है। पहेलियों के पूछने और हल करने में एक प्रकार का बौद्धिक रस प्राप्त होता है। इन गुप्त समानान्तरता में एक विशेष प्रकार का रहस्य रहता है। उस रहस्य भेद में काफी गणितीय दिमाग लगता है। यद्यपि सारा रहस्य चिर-परिचित जीवन के बीच का ही होता है। इनके विषय होते हैं— पुरुष और स्त्री, जंगली पशु और पक्षी, घरेलू सामान, प्राकृतिक रचनाएँ, सामाजिक और व्यक्तिगत आचरण, खाने-पीने की चीजें। पहेलियाँ कई पदों में, कविता रूप में या कहानी के रूप में प्रस्तुत होती हैं। गणित पर आधारित पहेलियाँ भी होती हैं, जिन्हें 'गणित पहेली' कहा जाता है।

पहले आमतौर पर धार्मिक कार्यों में पहेलियाँ पूछी जाती थीं। झाड़-फूँक में प्रयुक्त मंत्र पहेलियों में कहे जाते थे। ये पहेलियाँ बिल्कुल मुक्त होती हैं। इनका सम्प्रदाय नहीं होता।

बंगाल में विवाह के बाद एक समारोह में श्वसुर दामाद से पहेलियाँ पूछता है। इन्हें पारम्परिक ढंग से हल किया जाता है। श्वसुर के घर में पाँव धोकर आसन ग्रहण करने से पूर्व दामाद को पहेलियों का उत्तर देना पड़ता है। पश्चिम बंगाल के बाउरी जाति में बारात को वधू के गाँव में प्रवेश से पहले वर और बारातियों से कुछ पहेलियाँ पूछी जाती हैं। यह परम्परा है और उत्तर भी परम्परित होते हैं। निश्चय ही वर और बारातियों की बुद्धि परीक्षा की परम्परा रही होगी।

बंगाल में यह मान्यता है कि सभी पहेलियों की रचना केवल कालिदास ने की थी। इसीलिए सामान्य रूप से इन पहेलियों को कालिदास की पहेली कहते हैं। कालिदास का नाम भी प्रायः जोड़ दिया जाता है। कालिदास यहाँ बुद्धिमान व्यक्ति ही पहेलियाँ पूछ सकते हैं और उनके हल भी कर सकते हैं। कुछ पहेलियाँ सार्वदेशिक होती हैं। ग्रीस की दन्तकथाओं की नारसिटी (स्फिंक्स) पहेलियाँ बंगाल में खूब प्रचलित हैं। बंगाल में सिर्फ मौखिक परम्परा की ही पाँच हजार से भी अधिक पहेलियों का प्रकाशन हुआ है। इसके अलावा भी कुछ छोटे-छोटे संग्रह प्रकाशित हैं।

(क) छोटा बेलाय चार पाव
जोआन हइले दुइ पाव
बूढ़ा हले तीन पाव
की कओ देखी?

(बच्चा रहता है तो होता चार पाँव
जवानी में चलता दो पाँवों पर
बूढ़ा होते ही तीन पाँव
बताओ है क्या?) – आदमी

(ख) एक हात गाछरी
फुल तार पांचटी

(एक हाथ की ऊँची पौध
किन्तु लगे हैं पाँच फूल) – हाथ

(ग) हाते आछे हाते नाइ
हात बाढ़िए पाई नाइ

(हाथ में है पर हाथ में नहीं
हाथ बढ़ाने पर मिलता नहीं) – कोहनी

(घ) पहाड़ेर दुइ धारे दुइ भाइ
देखा देखी कारो नाइ।

(पहाड़ के दोनों किनारे दो भाई
किन्तु देखा-देखी किसी की नहीं) – कान

इस प्रकार दो अर्थी छन्दों में बात पूछी जाती है। बताने वाले को अन्यत्र अर्थ-संकेत को ग्रहण कर उत्तर देना पड़ता है। एक कथन के समानान्तर दूसरे कथन की अपेक्षा में ये पहेलियाँ अपना हल रखती हैं। लगभग हर भाषा में अपने-अपने ढंग से ये पहेलियाँ प्रचलित हैं।

लोकोक्तियाँ

गाँव का आदमी आमतौर पर अपनी बात रखने के लिए गवाह के रूप में कुछ ऐसी अन्य उक्ति दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत करता है कि सुनने वाला व्यक्ति उसकी सत्यता को मान ले। लोकोक्तियाँ अपने पूरे अर्थ के साथ एक पूर्ण कथन होती हैं, लेकिन उनके द्वारा लक्ष्यार्थ तक पहुँचना होता है या पहुँचाया जाता है। मनुष्य अपने मन की बात को सीधे-सीधे न कहकर कुछ ऐसी दूसरी बातें कहता है, जो उसके कथ्य का अर्थ संवहन करती हैं और अपने में पूर्ण होती हैं। ये दृष्टान्त होते हुए भी प्रमाण भी बनते हैं। लोकोक्तियाँ जीवन से प्राप्त दीर्घकालीन अनुभवों की लघुतम अभिव्यक्ति होती हैं। ये परम्परा से अपना एक अर्थ लेकर चलती रहती हैं और जीवन का अनुभूत दृष्टान्त हो जाती हैं। शायद उनमें जीवन की समस्याओं के हल का फार्मूला अनुबद्ध रहता है। मानव का मूल आचरण इनमें रहता है। विशेष सामाजिक परिवर्तन के बिना इनकी नवीनता का आसार नहीं रहता है। पुरानी लोकोक्तियों का बात-बात में प्रयोग गाँव की जिन्दगी की सहजता भी है। समय के साथ लोकोक्तियाँ प्रयोग से बाहर भी हो जाती हैं। नये युग में जीवन के औद्योगिकीकरण एवं नगरीकरण के कारण इन कहावतों का प्रचलन बन्द भी हो रहा है।

ग्रामीण क्षेत्रों में अब भी कृषि-कार्य से सम्बन्धित अनेक लोकोक्तियाँ प्रचलित हैं। सामान्यतः इनको 'खना का वासन' या 'खना' की लोकोक्ति कहा जाता है। खना दन्तकथाओं के एक पात्र हैं, जो फलित ज्योतिष सम्बन्धी अपने पूर्वानुमानों के लिए प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में 'घाघ और भडुरी' की कहावतें इसी प्रकार ख्यात हैं।

एक अन्य प्रकार की लोकोक्तियाँ मौसम की भविष्यवाणी और प्रारम्भिक गणित तथा ज्योतिष से सम्बन्धित हैं। इन्हें 'डाक का वासन' या 'डाक की लोकोक्ति' कहा जाता है। डाक दन्तकथाओं का एक पुरुष पात्र है, लेकिन तिब्बती भाषा में बुद्धिमान मनुष्य को 'डाक' कहा जाता है। इसीलिए, शायद डाक की लोकोक्ति का अर्थ है - बुद्धिमान पुरुषों की लोकोक्ति।

बंगाल में मुख्यतया स्त्रियों, विशेषतया बहू (पतोहू) से सम्बन्धित लोकोक्तियाँ हैं। कभी-कभी इनमें सास द्वारा बहू के आचरण की शिकायत भी रहती है। सामान्यतः लोकोक्ति की रचना और उसका व्यवहार स्त्रियाँ ही करती हैं। लोकोक्तियों में स्त्रियों के आचरण का वर्णन उनकी बोलचाल की भाषा में किया

जाता है। ऐसी लोकोक्तियों में हमेशा किसी दूसरी स्त्री पर आक्षेप रहता है। अतः पहेलियाँ अक्सर लाक्षणिक या व्यंग्यात्मक होती हैं। इनके अलावा परिवार के अन्य सदस्यों पर भी आधारित होती हैं। लेकिन उनके प्रति दृष्टिकोण अलग प्रकार का होता है। जैसे परिवार में माँ को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है।

(1) चिड़वा, तला हुआ चावल
पर भात से अच्छा कुछ भी नहीं,
चाची मौसी
किन्तु माँ से आदरणीय कोई दूसरा नहीं।

(2) बरगद की छाया सबसे अच्छी
माँ का प्यार सर्वोत्तम।

लेकिन पत्नी के वश में आकर जब बेटा माँ की उपेक्षा करता है, तब बंगला की लोकोक्तियों में उसकी निन्दा की जाती है-

(1) माँ है भूखी
पर पत्नी के गले में विराजे हार।

(2) माँ के गले में डाली गयी रस्सी
पर पत्नी को दी गयी ढाका की साड़ी।

ननद और भाभी की स्वाभाविक शत्रुता भी लाक्षणिक ढंग से व्यक्त होती है-

बात-बात में आया याद
जब मैं धो रही थी हाथ
डूब गयी ननद मेरी
आह! सास मेरी
क्या कोई सम्बन्धी तुम्हारा
डूब गया है नदी में?

इन लोकोक्तियों में स्त्रियों द्वारा स्त्रियों की आलोचना की भरमार है। ये लोकोक्तियाँ ग्रामीण स्त्रियों को विरासत में मिली हैं। उनकी दुनिया ही लोकोक्तियों की दुनिया है। घरेलू जीवन से युक्त होने के कारण परिवार जन के साथ घरेलू सामान तक इन लोकोक्तियों में आ जाते हैं। एक दृष्टान्त ओखली के सन्दर्भ से जुड़ा है-

ओखली स्वर्ग में जाकर भी
कूटती है धान।

इन लोकोक्तियों में ब्राह्मणों के स्वच्छन्द आचरण की भी तीव्र आलोचना मिलती है। इनमें उनके लोभ, उनकी निरक्षरता और गरीबी की भी तीव्र आलोचना की गयी है। इनमें पारम्परिक वैद्यों और दवाओं के प्रति भी अविश्वास है। इनमें सामान्य बंगालियों का व्यावहारिक अनुभव प्रतिबिम्बित होता है। अब तक तेरह हजार बांग्ला लोकोक्तियों को संगृहीत और प्रकाशित किया जा चुका है।

यहाँ कुछ लोकोक्तियों को देना समीचीन लगता है-

- (क) *माछ आर अतिथि दुइ दिन परे विष*
(मछली और अतिथि होते दो दिन बाद विष।)
- (ख) *एक गाछेर छाल की आर गाछे लागे?*
(एक पेड़ की छाल क्या दूसरे पेड़ में लगती है?)
- (ग) *पर्वतेर मूषिक प्रसव।*
(खोदा पहाड़ निकली चुहिया)।
- (घ) *विषे विषकश्ये।*
(विष से विष नष्ट होता है)।
- (ङ) *अल्प विद्या कारी।*
(अल्पविद्या भयंकारी)।
- (च) *आटुरे बड नेंगटा होये नाचे।*
(अधिक दुलार से बहू नंगी नाचती है)।
- (छ) *छेना बामुनेर पेटेर दरकार नाइ।*
(क्या शाकाहारी ब्राह्मण पेटू नहीं होता?)
- (ज) *दुष्ट गोरुर चाइतै शून्य गोआल भालो।*
(दुष्ट जानवर से खाली गोशाला अच्छी)।
- (झ) *दशजन राजी जेखाने खोदा राजी सेखाने।*
(सहमति से ईश्वर भी सहमत होता है)।

दन्त कथाएँ

बंगाल में दन्त कथाओं की भी परम्परा रही है। मौखिक साहित्य में राष्ट्रीय नायकों और उनकी उपलब्धियों पर आधारित वर्णनात्मक गीतों को दन्तकथा कहा जाता है। इनमें इतिहास के तत्त्व मिलते हैं। ग्रामीण कल्पना-बहुलता के कारण इतिहास गौण हो जाता है।

दसवीं से बारहवीं शती में शासन करने वाले पालवंश के महीपाल, योगीपाल और भोगीपाल की वीरता और परोपकार पर

आधारित कुछ दन्त कथाओं का उल्लेख मिलता है। गोपीचन्द की कथा भी इसी श्रेणी में आती है। अन्य दन्तकथा में राजा रघु का प्रसंग आता है। सत्रहवीं शती में गारो पहाड़ियों की तलहटी में स्थित सुरंग के वे राजा थे। जब वे युवा थे, तभी एक पड़ोसी मुसलमान राजा ने उनका अपहरण कर लिया। लेकिन उनके बीस हजार समर्थकों ने बड़ी वीरता से उनको जंगलवारी के दीवान इशा खाँ की कारा से मुक्त कराया। इस वीरता का एक ग्रामीण कवि ने एक गीत के रूप में वर्णन किया है। इसके अलावा गोरखनाथ पर आधारित दन्तकथा भी प्रचलित है।

मौखिक परम्परा में पीर के नाम से प्रसिद्ध मुसलमान संतों से सम्बन्धित अनेक दन्त कथाएँ भी प्रचलित हैं। उन्होंने बंगाल के विभिन्न भागों में आकर अपनी दरगाहों की स्थापना की। उनके शिष्यों ने उनके जीवन पर आधारित दन्त कथाओं की रचना की। इनको प्रायः गाजी (धर्म योद्धा) का गीत कहा जाता है।

नृत्य

आशुतोष भट्टाचार्य ने लोक साहित्य के सांगीतिक पक्ष में बंगाल के क्षेत्रीय नृत्य की भी चर्चा की है। कारण कि ये नृत्य किसी अनुष्ठान, पर्व एवं जातीय संस्कृति के साथ जुड़े रहे हैं। मौखिक लोकगीतों के साथ उनकी अभिव्यक्ति की पूर्णता हेतु इन नृत्यों की परम आवश्यकता रही है। ये नृत्य उनके विशेष सन्दर्भ की आंगिक अभिव्यक्तियाँ ही रही हैं। अतः इन क्षेत्रीय नृत्यों का संक्षिप्त परिचय अति आवश्यक है। इन लोकनृत्यों को उन्होंने पाँच समूहों में विभक्त किया है - मुखौटा नृत्य, युद्ध नृत्य, अनुष्ठान नृत्य, पर्व तथा असाम्प्रदायिक नृत्य। सभी नृत्यों का विकास वे आदिम जातियों के जादू-टोने से हुआ मानते हैं।

(क) **मुखौटा नृत्य** : इसके दो प्रकार हैं - छऊ नृत्य और गंभीरा नृत्य।

छऊ : छऊ नृत्यनाटिका पश्चिम बंगाल, बिहार और उड़ीसा के पड़ोसी राज्यों के तीन सीमावर्ती जिलों में वार्षिक सूर्य पूजा के अवसर पर अभिनीत की जाती है। पश्चिम बंगाल के पुरुलिया और मिदनापुर जिलों के कुछ क्षेत्रों में इस नृत्य में अनिवार्य रूप से मुखौटे लगाये जाते हैं और यह रामायण की पूरी कथा पर आधारित होती है, जबकि अन्य जगहों पर रामायण और महाभारत तथा पुराणों में वर्णित अलग-अलग घटनाओं को आधार बनाकर यह नृत्य किया जाता है। पश्चिम बंगाल में खुले मैदान में 20 फुट लम्बा

और 20 फुट चौड़ा एक घेरा बना लिया जाता है, जिसके साथ नर्तकों के आने-जाने के लिए 5 फुट का एक गलियारा अवश्य बनाया जाता है। गलियारे में भी नृत्य होता है। यह घेरा गोलाकार होता है। प्रत्येक दल के साथ पाँच या छः बजनिहें होते हैं। मंच आदमी के कद से ऊँचा होता है, जिस पर दर्शक बैठते हैं। यह नृत्य रात्रि के दस बजे से पूर्व आरम्भ नहीं होता है। पूरी रात चलने वाला यह नृत्य सूर्योदय के एक-दो घण्टे बाद तक चलता रहता है।

नृत्य समाप्त होने से पहले रामचन्द्र द्वारा रावण-वध अवश्य दिखाया जाता है। केवल यह प्रथा वहीं होती है, जहाँ रामायण-कथा को आधार बनाया जाता है। वाद्य-नृत्य प्रदर्शन के बाद गायक अपने हाथ जोड़े हुए प्रणाम की मुद्रा में वाद्य के घेरे में प्रवेश करके संक्षेप में गणेश की प्रार्थना करता है। उसके बाद रात-भर के प्रदर्शन के लिए संगीत शुरू हो जाता है। नर्तक गणेश का मुखौटा लगाये होते हैं।

विषय-वस्तु की दृष्टि से, पश्चिम बंगाल में छऊ नृत्य के चार विशिष्ट क्षेत्रीय रूप - वाघमुण्डी, आरशा, झालदां और बांदोयान विकसित हुए हैं। बांदोयान क्षेत्र में रामायण की पूरी कथा प्रस्तुत की जाती है। अन्य जगहों पर अब नई-नई कथाएँ भी प्रस्तुत की जाने लगी हैं। इन छऊ नृत्यों में कण्ठ संगीत गौण होता है और वाद्य संगीत की प्रधानता होती है। पात्र-परिचय भी गीत में ही दिया जाता है। वस्तुतः यह संगीत आदिवासी परम्परा और व्यवहार से निकला है। मुखौटा नृत्य होने के कारण भावों की अभिव्यक्ति केवल अंग-परिचालन से होती है। अंग-परिचालन मुख्य रूप से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है - देवताओं की चाल या देव-चाल, राक्षस की चाल या राक्षस चाल और पशुओं की चाल या पशु चाल। इन अंग-चालन में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं-

(क) मुकुट का हिलना : इसमें सिर्फ सजावटी मुकुट का सबसे ऊपरी हिस्सा हिलता है। उग्र क्रोध भाव व्यक्त करने के लिए राक्षस पात्र इस तरह हिलते हैं।

(ख) कंधे और छाती का हिलना : इसमें केवल दोनों कंधे और दोनों ओर की छाती हिलती है। ये वीरता की गतियाँ हैं। देवता और राक्षस दोनों प्रकार के पात्र इसका प्रयोग करते हैं।

(ग) उछलना, कूदना और थिरकना : स्त्री पात्र स्वभावतया ऐसा नहीं करते, किन्तु काली या दुर्गा शत्रुओं से युद्ध के समय पुरुषोचित अंग परिचालन करते हैं।

गंभीरा : यह मुखौटा नृत्य केवल उत्तर बंगाल के मालदह जिले में ही किया जाता है। 'गंभीरा' हमेशा एकल ही किया जाता है। इसमें असाम्प्रदायिक दन्त कथाएँ होती हैं। इसमें कथाओं का क्रमवार अभिनय नहीं किया जाता। सिर्फ, किसी पौराणिक देवी-देवता या काली, नरसिंह आदि का सोलो नृत्य किया जाता है, जिसके साथ जोर-जोर से नगाड़ा बजाया जाता है। यह भी सूर्य पूजा का ही नृत्य है। प्रतिवर्ष 13 अप्रैल को इसकी तिथि पड़ती है।

एक अन्य प्रकार का मुखौटा नृत्य उत्तर बंगाल के जलपाईगुड़ी जिले से लेकर हिमालय की तलहटी तक अब भी प्रचलित है। इसका नाम है - 'मुखाखेल'।

(ख) अनुष्ठान नृत्य : इनमें मुखौटों का प्रयोग नहीं किया जाता। इसे स्त्रियाँ समारोहपूर्वक होने वाली पूजाओं के साथ करती हैं। चेचक की देवी, शीतला की पूजा के दौरान बंगाल के कुछ भागों में स्त्रियाँ अपने सिर पर सूप में जलता हुआ दीपक रखकर नाचते हुए कई बार अन्य ग्रामवासियों के घरों का फेरा लगाती हैं, जिनके साथ नगाड़े और काँसे की थालियाँ बजाई जाती हैं। जलता हुआ दीपक सूर्य का प्रतीक होता है। यह भी सूर्य-पूजा का व्रत होता है।

बंगाल की कुमारियाँ एक दूसरे प्रकार का व्रत भी सूर्य-पूजा के लिए करती हैं, जिसे 'माघ मण्डल' व्रत कहा जाता है। इस अवसर पर सूर्यदेव और कुमारी गौरा के विवाह पर आधारित नृत्य-नाटिका अभिनीत की जाती है। वीरभूम और मुर्शिदाबाद जिलों में 'भांजो' नामक भू-देवी की पूजा नृत्य द्वारा की जाती है। दो गाँव की कुमारियाँ आमने-सामने गाँव से बाहर आकर भाद्र महीने के शुक्लपक्ष की द्वादशी को कुछ कविताओं के पाठ के साथ नृत्य करती हैं। अगले दिन फिर एकत्र होकर नृत्य करने के बाद स्त्रियाँ जलधारा के तट पर यह गीत गाते हुए जाती हैं

इस रास्ते जाओ, भांजो

इस रास्ते जाओ

बेना वृक्ष में एक कौड़ी है

उसको देकर दूध खरीदो।

इसके अलावा पुरुलिया जिले की स्त्रियाँ रोपनी के समय पौधों के बढ़ने के लिए नृत्य करती हैं, जिसे 'जायोया' कहा जाता है।

(ग) पर्वनृत्य : ये पर्व धार्मिक या आनुष्ठानिक नहीं होते। ये मौसमी पर्व हैं, जैसे- भाद्र में 'भादू' नृत्य। पुरुलिया और पड़ोस

के जिलों में 'हुसु' नृत्य रोपनी के पर्व के दौरान किया जाता है।

(घ) असाम्प्रदायिक नृत्य : इसे शास्त्रीय नृत्य भरतनाट्यम का विकृत रूप कहा जा सकता है। यह नृत्य 'खेमती' या 'नचनी' कही जाने वाली व्यवसायिक नर्तकियाँ करती हैं। इस नृत्य के साथ झुमुर नामक लोकगीत गाया जाता है। इसलिए इसे झुमुर नृत्य भी कहा जाता है। यह नृत्य दो प्रकार का होता है - दरबारी और जमींदारी। 'रसिक' नाम का एक पुरुष भागीदार उनके साथ नृत्य करता है। जमींदारी शैली में यह दोनों राधा और कृष्ण की साज-सज्जा में दर्शकों के सामने आते हैं। इसमें विशुद्ध रूप से प्रेमगीत गाये जाते हैं। जंगलों में जानवरों के शिकार का प्रतिनिधित्व करने वाले शिकारी नृत्य भी किये जाते हैं।

(च) युद्ध नृत्य : बंगाल में छऊ के अतिरिक्त अन्य युद्ध नृत्य भी किये जाते हैं। ये हैं- 'राय बेसे', 'थाली', 'धाकी', 'काठी', 'नाटुआ', 'पाइक' इत्यादि। पाइक अत्यन्त ओजस्वी नृत्य है। पाइक का अर्थ पैदल सेना होता है।

(छ) जनजातीय नृत्य : जनजातीय नृत्य कई प्रकार के हैं। ये प्रायः जनजातियों के सामाजिक-धार्मिक पर्वों के दौरान किये जाते हैं। उनका रूप मुख्यतया सामूहिक है, जिनमें से कुछ में पुरुष और स्त्री दोनों भाग लेते हैं। इनके नाम हैं- करम, पाता, डांडसाली, द्रंड, भुइयांग, मेछेनी इत्यादि।

वस्तुतः ये सारे लोकनृत्य केवल नृत्य ही नहीं हैं, अपितु ये नृत्य नाटिका कहे जा सकते हैं। अतः इनका साहित्यिक स्वरूप भी है।

लोकनाट्य

रबीन्द्र भारती विश्वविद्यालय के रीडर डॉ. गौरीशंकर भट्टाचार्य ने 'बंगला लोकनाट्य समीक्षा' शीर्षक से एक विस्तृत शोधकार्य किया है। उसके आधार पर बंगला लोकनाट्य का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत करने की चेष्टा की जा रही है।

उन्होंने कहा कि हमारे प्रदेश में लोक-नाट्य कहने पर प्रायः 'यात्रा-नाटक' ही समझा जाता है और आज भी इसी अर्थ में यह शब्द प्रचलित है। किन्तु आदिम युग के लोक-नाट्य एवं परवर्ती काल के यात्रा नाटक में काफी अन्तर है। विशेष रूप से शिक्षित एवं नागरिक नाट्यकार द्वारा रचित तथा पेशेवर यात्रादल के द्वारा अभिनीत तथा अधार्मिक ऐतिहासिक या सामाजिक यात्रा-नाटक में लोकधर्मिता की मात्रा की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर है।

आदिम कालीन अशिक्षित ग्राम्य कवियों द्वारा रचित एवं बिना पेशे वाले ग्रामीण अभिनेताओं द्वारा अभिनीत नाटक को यथार्थ लोकनाट्य कहा जाये, तो परवर्ती कालीन यात्रा नाटकों को लोकनाट्य की पंक्ति में स्थान देना उचित नहीं है। यदि वर्तमान कालीन यात्रा-नाटक को लोक-नाट्य की श्रेणी में अन्तर्भुक्त करना होगा, तो निश्चय ही लोक शिल्प और विशेष करके लोकनाट्य की परिभाषा को कुछ व्यापक करना होगा। ऐसा करने में भी यह ध्यान देना होगा कि यात्रा नाटक के साथ थिएटर में अभिनीत नाटक के अन्तर को अक्षुण्ण रखा जाये। इस क्रम में उन्होंने आदिम कालीन मानव की सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन-पद्धति के विकास तथा कृषि एवं पशुपालन आदि से होते हुए राजनीतिक विकास आदि की समीक्षा करते हुए आदिम मानव की प्रवृत्ति और नागर मनुष्य के मानसिक चेतना के अन्तर को निर्दिष्ट किया है।

आगे लोक-नाट्य प्रकरण में उन्होंने पुनः कहा है कि यात्रा-नाटक को इसलिए लोक-नाट्य कहा जाता है कि यह साधारणतः अशिक्षित जनसाधारण को आनन्द देने के लिए एवं आनन्द के माध्यम से जनमानस में मूल्यवान सामाजिक आवेश संचारित करने के उद्देश्य से रचित एवं अभिनीत होता है। इसीलिए ही यात्रा-नाटक में आदिम युगीन सामाजिक उत्सव-अनुष्ठान का मूल वैशिष्ट्य विशेष करके समष्टिमूलक आवेग संचरण का उद्देश्य निहित रहता है। इसके बाद वे बताते हैं कि प्रत्येक आदिम लोक समाज में ही धार्मिक नृत्यगीत से लोक-नाट्य का उद्भव होता है। इस लोक-नाट्य का उद्देश्य था - अदृश्य शक्ति को प्रसन्न करके नाना विषयों में लोक का मंगल विधान करना। दूसरे अध्याय में वे कहते हैं कि देव उत्सव के लिए नृत्य-गीत एवं शोभा यात्रा से 'यात्रा' का उद्भव हुआ है। अतः नृत्य एवं गीत इसके दो प्राथमिक उपादान हैं।

लोक-नाट्य के गठन में कई उपादान मिलते हैं। इसे मुख्य रूप से छः भागों में विभक्त किया जाता है- (1) संगीत, (2) संलाप संयोजन, (3) कथा एवं घटना की उपस्थापना, (4) चरित्र सन्निवेश, (5) लोक शिक्षा, (6) रस सृष्टि की व्यवस्था।

कुछ समुदायों के लोग लौकिक देवता के उत्सव को 'यात' कहते हैं, 'यात' शब्द भी गमनार्थक (या+त) है। शायद इसी यात शब्द से 'यात्रा' शब्द बना हो। यात्रा के सम्बन्ध में राधा-कृष्ण की कथा का घनिष्ठ सम्पर्क है। इस सन्दर्भ में गीत गोविन्द को भी गीतिनाट्य कहा गया है। वे कहते हैं कि गीत गोविन्द काव्य और नाटक का गंगा-यमुना-संगम है। इसके अलावा श्रीकृष्ण कीर्तन को भी गीत नाट्य मानकर उसका विवेचन करते हैं।

आशुतोष भट्टाचार्य ने संक्षेप में बंगला लोक-नाट्य का परिचय दिया है। उन्होंने ग्रामीण नाटक नाम से अपना विवेचन प्रस्तुत किया है। उनका मानना है कि ठेठ ग्रामीण नाटक केवल ग्रामवासियों के जीवन की घटनाओं पर आधारित होता है। इसका कथानक अपारम्परिक होता है, जिसमें पौराणिक या ऐतिहासिक पात्र नहीं हो सकते। ऐसे नाटक अब ग्रामीण क्षेत्रों में दुर्लभ हो गये हैं। जिस प्रकार अधिकांश लोकगीतों के नायक-नायिकाएँ क्रमशः कृष्ण और राधा होते हैं, सभी प्रेमगीतों में प्रेमी और प्रेमिका भी वही होते हैं, उसी प्रकार ग्रामीण नाटकों में भी अब रामायण, महाभारत, पुराणों और मंगल काव्यों के पात्रों और घटनाओं का समावेश हो जाता है। सामान्यतः इनको 'जात्रा' कहा जाता है। लेकिन पश्चिम बंगाल के कुछ गाँवों में अब भी ग्रामीण नाटक अपने मूल रूप में देखने को मिलता है। उनमें निम्न मुख्य हैं-

खन या खनेर गान : 'खन' नाम का एक ग्रामीण नाटक (क्षण क्योंकि उनकी रचना तत्काल की जाती है) उत्तर बंगाल के दिनाजपुर जिले के गाँवों में बहुत लोकप्रिय है। निरक्षर ग्रामीण रचनाकार अपने ग्रामवासियों के सामाजिक और पारिवारिक जीवन की घटनाओं पर नजर रखते हैं और यदि किसी वर्ष कोई प्रेमकाण्ड या प्रथा-विरुद्ध विवाह हो जाता है या कोई लड़की अपने प्रेमी के साथ भाग जाती है, तो वे इसको अपने नाटक का कथानक बना लेते हैं। वे प्रचलित धुनों में गीतों की रचना करते हैं, जिसके बीच-बीच में संवाद भी रहते हैं, जो खुले मंच पर उस क्षेत्र-विशेष की बोली में बोले जाते हैं। शुरू में नाटक के पात्रों को उनके वास्तविक नाम देने का रिवाज था, लेकिन इन दिनों मुकदमेबाजी के डर से मिलते-जुलते नाम दिये जाते हैं। प्रत्येक वर्ष कथानक नया होता है। स्त्री पात्रों का अभिनय पुरुष ही करते हैं। प्रतिवर्ष नये होने और भुला देने के कारण उनकी कोई परम्परा नहीं बनती है। 'खन' का कथानक हमेशा प्रेम और यथार्थ पर आधारित होता है तथा असम्प्रदायिक होता है, इसलिए प्रदर्शन में सभी लोगों की रुचि बनी रहती है।

पालातिया : पाला का अर्थ है घटना। इसमें 'खन' की अपेक्षा भावुकता अधिक रहती है। इसके कुछ पात्र ग्रामवासियों के दैनन्दिन जीवन पर आधारित होते हैं। इसकी नायक-नायिकाएँ परी कथाओं और मुसलमानों के मध्यकालीन साहित्य की होती हैं। पूर्व रचित होने के बावजूद कुछ गीत, संवाद आदि तात्कालिक रूप में बोले जाते हैं। इसके कथानक प्रेम के विभिन्न पक्षों - वियोग, निराशा, सन्देह आदि पर आधारित होता है, लेकिन अन्त

में प्रेमी-प्रेमिकाओं का मिलन अवश्य हो जाता है। घटनाएँ हमेशा वास्तविक जीवन की होती हैं।

रंग पांकाल : यह ग्रामीण नाटक जलपाइगुड़ी और कूचबिहार जिलों और उत्तर बंगाल के दार्जिलिंग जिले के कुछ भागों में अत्यन्त लोकप्रिय है। यह मनोरंजन के लिए रचा जाता है। प्रारम्भ से अन्त तक हास्य से पूर्ण होता है। बीच में असम्प्रदायिक जीवन पर आधारित सुगठित कहानी होती है। इसमें भी स्त्रियों की भूमिका पुरुष ही निभाते हैं। नाटकों के नायक को 'बातेया' (वर्णकार) कहा जाता है। कथानक यथार्थ पर आधारित होता है। मंच खुला मैदान होता है। इसके कुछ आदर्श पात्र हैं - काजी, कारुआ (शादी तय कराने वाला), जोतदार (जमींदार), मोडल (गाँव का मुखिया)। इनका व्यवहार गाँव के लोगों का अनुभव होता है। पात्रों द्वारा ठीक-ठीक नकल उतारी जाती है। कभी-कभी सौतेली माँ का सौतेले पुत्र-पुत्रियों के प्रति व्यवहार अतिरंजित करके दिखाया जाता है।

गंभीरार गान : यह एक अत्यन्त लोकप्रिय ग्रामीण नाटक है। सूर्य-पूजा या शिव-गाजन के अवसर पर इसका प्रदर्शन किया जाता है। इसे स्थानीय भाषा में 'गंभीरा' कहा जाता है। गंभीरा नृत्य की ही तरह, इसका प्रदर्शन केवल पश्चिम बंगाल में आम की पैदावार के लिए प्रसिद्ध मालदह क्षेत्र तक ही सीमित है। पूर्ण नाटक न होने पर भी इसमें नाटकीयता बहुत है। महादेव शिव की उपस्थिति में इसकी प्रस्तुति की जाती है। कृषि-अभाव की शिकायत भगवान शिव से की जाती है। शिव की वेश-भूषा में एक पात्र हमेशा उपस्थित रहता है।

आलकाप : मालदह और मुर्शिदाबाद जिलों में अत्यन्त लोकप्रिय एक अन्य प्रकार के नाटक को आलकाप कहा जाता है। मुसलमान इसको बहुत पसन्द करते हैं, यद्यपि यह शुरू से अन्त तक असम्प्रदायिक होता है। इसमें ग्रामीण जीवन पर आधारित कुछ दृश्य मात्र होते हैं। 'आलकाप' अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है सामाजिक व्यंग्य। इसे नृत्य, गीतों और तत्काल-रचित गद्यात्मक संवादों के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। पहले लड़कियों की भूमिका लड़के ही करते थे, किन्तु अब व्यावसायिक मण्डलियाँ लड़कियों से भी काम करवाने लगी हैं।

स्वार्थी मुखिया, अत्याचारी जमींदार, कंजूस महाजन, झगड़ालू सौतिनें इसके आदर्श पात्र होते हैं। तात्कालिक सामाजिक कुप्रथाओं की खिल्ली उड़ाई जाती है। कहानियाँ घटना प्रधान होती

हैं। इनमें द्वन्द्व, जीवन की समस्याओं के प्रति जागरूकता और यथार्थ जीवन का स्पर्श होता है।

कृष्ण जात्रा : मध्ययुग में बंगाल में नाच-गीत नामक एक प्रकार का लोकनाट्य प्रचलित था, जिसका अर्थ होता है संगीत के साथ नृत्य। इस प्रकार के लोक नाटक मुख्यतया रामायण, महाभारत और पुराणों की घटनाओं पर आधारित होते थे। इसमें कथा को गीतों और नृत्यों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता था। बंगला वैष्णव मत के प्रवर्तक चैतन्य के सिद्धान्तों का पूरे बंगाल के सामाजिक जीवन पर असर पड़ा। अतः मुख्यतः राधा और कृष्ण को कथा का आधार बनाया गया।

नव-जात्रा : उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में महाभारत के नल-दमयन्ती के प्रसंग पर रचित नाटक को, जिसका कृष्ण और राधा की कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है, बहुत लोकप्रियता प्राप्त हुई। उसी अवधि में 'विद्यासुन्दर जात्रा' भी कलकत्ता में लोकप्रिय था। यह सच्चे अर्थ में असाम्प्रदायिक भी था। इसमें आध्यात्मिकता लेशमात्र भी नहीं थी। इसमें प्रेमी-प्रेमिका दो अलग-अलग सम्प्रदायों के थे। उसी समय से बांग्ला 'जात्रा' का धार्मिक स्वरूप बदलता गया और इसमें इसकी कथा, तकनीक और स्वरूप में असाम्प्रदायिकता आने लगी तथा इसमें नये-नये तत्त्व समाहित होने लगे। इस नये जात्रा में गद्य और मुक्त छन्द में संवाद भी रचे गये।

राम जात्रा : नव-जात्रा के प्रभाव से 19वीं शताब्दी में रामायण की कथा को लोक-नाटक में रूपान्तरित किया गया। इस प्रकार के लोक नाटक को 'राम-जात्रा' कहा जाता है। पहले एक ही पारम्परिक गायक दुहराने वाले दो-तीन गायकों की सहायता से इस कथा का पाठ किया करता था। देहातों में इसका आनुष्ठानिक रूप बना रहा। इसमें हनुमान की मुख्य भूमिका रहती है। गीतों में अत्यन्त लाक्षणिक भाषा का प्रयोग किया जाता था। स्त्रियों की भूमिका पुरुष करते थे।

कुसाने : उत्तरी बंगाल के जलपाइगुड़ी और कूचबिहार जिलों के देहातों में कुसाने नामक 'जात्रा' का प्रदर्शन किया जाता है, जिसमें 'राम-जात्रा' की अपेक्षा कलात्मकता और गम्भीरता अधिक होती है। यह शब्द संस्कृत भाषा के शब्द 'कुशीलव' से निकला है, जो वाल्मीकि रामायण के पहले दो प्रवर्तक थे। प्रदर्शनात्मक कला के रूप में इनकी विशेषताएँ अत्यन्त प्रभावी हैं।

कुसाने संगीत के वाद्य-वृन्द में 'बेना' नामक तारों वाले

बाजे का वादक ही नेतृत्व करता है, इसलिए इसे 'बेना कुसाने' भी कहा जाता है। लगता है बेना वीणा का प्राचीन रूप है। इसके साथ मृदंग और मंजीरा (करताल) भी बजते हैं। अभिनय के समय बेना बजाना बन्द करके वादक पात्र का अभिनय करने लगता है। युवतियाँ नृत्य और अभिनय दोनों करती हैं। रामायण की कथा मुख्यतः गीतों में प्रस्तुत की जाती है, जिसके बीच-बीच में स्थानीय बोली में तत्काल रचित गद्य में बोले जाते हैं। रामायण की कुछ दुखान्त घटनाएँ- राम-वनगमन, सीता-हरण, राम का विलाप तथा वाल्मीकि के आश्रम में राम के पुत्र लव और कुश के साथ लड़ाई में उनकी हार बेना की धुन पर प्रशंसनीय ढंग से प्रदर्शित की जाती है, जो दुःख को व्यक्त करने के लिए बहुत उपयुक्त बाजा है। कम उम्र की चार या अधिक युवतियाँ नृत्य में भाग लेती हैं।

चण्डी जात्रा : यह बंगाल का एक अन्य प्रकार का लोकनाट्य है। मध्ययुगीन बांग्ला काव्य 'चण्डी मंगल' पर आधारित इस लोकनाट्य में 'चण्डी' नाम की देवी की महानता का वर्णन किया जाता है। यह कथा पुराणों की कथा से भिन्न है। इसका प्रदर्शन दुर्गा पूजा के अवसर पर किया जाता है। चण्डी को 'कमल-कामिनी' भी कहा जाता है। चण्डी समुद्र की देवी मानी जाती हैं, जिसकी कृपा से व्यापारियों के समुद्र पार करते समय कोई दुर्घटना नहीं हुआ करती थी। इसलिए व्यापारी समुद्र यात्रा पर निकलने से पहले समारोहपूर्वक इस देवी की पूजा किया करते थे। यह प्रथा बहुत पहले बन्द हो चुकी है। चण्डी-पूजा और चण्डी-जात्रा के रूप में इसकी परम्परा अब भी चल रही है।

भासान जात्रा : बंगाल की मुख्य सर्प-कथा में चाँद सौदागर और उसकी बेहुला की कहानी है। यह लोकनाटक इसी कथा पर आधारित है। यह बांगालियों की जातीय कविता है। इसका प्रदर्शन प्रायः सावन महीने में किया जाता है, जिस समय साँप के काटने की घटनाएँ बहुत अधिक घटती हैं। अक्सर लड़के ही लड़कियों की भूमिका में आते हैं। नृत्य भासान-जात्रा का मुख्य अंग होता है। इसका प्रदर्शन खुली जगह पर किया जाता है।

कथा के अन्त में नायक लखिंदर के जीवित हो जाने का वर्णन है। इस प्रसंग के पूरा होने तक सभी दर्शकों का प्रदर्शन में उपस्थित रहना अनिवार्य होता है। इसलिए प्रदर्शन पूरी रात चलता है। दो-तारा वाद्य की भूमिका उल्लेखनीय होती है।

स्वदेशी जात्रा : उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में बंगाल में स्वतंत्रता आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, जिससे बांग्ला-जात्रा ने

प्रेरणा प्राप्त की। अब 'जात्रा' नाटक सिर्फ राष्ट्रीय विषयों पर ही लिखे जाने लगे। इसीलिए इसका नाम 'स्वदेशी-जात्रा' अर्थात् राष्ट्रीय आन्दोलन पर आधारित लोक-नाटक। एक समय में इसका रूप स्पष्टतया ब्रिटिश-विरोधी हो गया था। अतः इस पर कानून द्वारा रोक लगा दी गयी। फिर भी देहातों में इसका प्रदर्शन चलता रहा। 'मुकुन्द दास' ऐसे नाटकों के प्रसिद्ध लेखक थे। जोशीले संवादों एवं गीतों के कारण स्वतंत्रता आन्दोलन के समय उनके नाटक सभी वर्गों के लोगों में लोकप्रिय हुए। गाँधीवाद के प्रचार के साथ सामाजिक जात्रा नाम से एक नये प्रकार के जात्रा की रचना हुई। इस अवधि में पुराणों, इतिहास या दन्त कथाओं के बदले जात्रा में आम आदमी की समस्याओं का समावेश हुआ।

रंगमंचीय जात्रा : अब जात्रा की तकनीक पर कलकत्ता रंगमंच का प्रभाव पड़ चुका है। इसका प्रदर्शन बहुत उच्चकोटि का होता है। इसे शहर और देहात दोनों जगहों के लोग पसन्द करते हैं। स्त्री पात्रों की भूमिका में योग्य अभिनेताओं के उतरने से इसके प्रदर्शन में यथार्थता आई है।

इसके अलावा रामानी और जागरण जैसी प्रदर्शनमूलक कलाएँ भी प्रचलित हैं। रामानी का प्रदर्शन सर्पदेवी मनसा की पूजा के अवसर पर किया जाता है। जागरण को लोक मनोरंजन कहा जाता है। इसका अर्थ होता है पहरा देना।

मुहावरा

हिन्दी में जिसे मुहावरा और संस्कृत में वाग्धारा कहते हैं, उसे बंगला में मुहावरा के साथ विशिष्टार्थक वाक्यांश या शब्द समष्टि कहते हैं। बंगला में प्रचलित मुहावरे भाषा-भेद के अलावा एकदम हिन्दी जैसे ही हैं। मानव शरीर एवं अंगों से सम्बन्धित पशु-पक्षियों, मानव व्यवहार की वस्तुओं एवं चिर-परिचित क्रियाकलापों के आधार पर ही शब्द समष्टि को विशिष्टार्थ प्रदान किया जाता है। लोकोक्तियों के सन्दर्भ में चर्चा के दौरान बंगला लोकरुचि को निर्दिष्ट किया गया है। यहाँ कुछ मुहावरों को प्रस्तुत करने से बंगला मुहावरों के स्वरूप को समझा जा सकता है।

1. अन्धेर यष्टि या अन्धेर नडि - अन्धे की लकड़ी।
2. अकुले कुल पाओया - डूबते हुए को तिनके का सहारा।
3. अमावस्यार चाँद या डुमुरेर फूल - ईद का चाँद या गूलर का फूल होना।
4. अहिनकुल सम्बन्ध - साँप नेवले का साथ।
5. अन्धकारे ढिल छोंडा - अँधेरे में ढेला फेंकना।

6. अल्प विद्या भयंकारी - नीम हकीम खतरे जान।
7. आलोर नीचेड़ अन्धकार - दीपक तले अँधेरा।
8. आह्लादे आटखाना - फूलकर तुम्बा होना।
9. आमता-आमता करा - गोलमाल करना।
10. आकाश-पाताल प्रभेद या आकाश जमीन फारक - आकाश जमीन का अन्तर।
11. कपाल टुके काजे नामा - भाग्य भरोसे करना।
12. कलेर पुतुल - माटी के देवकुट या गोबर गणेश।
13. कलुर वलद - कोल्हू का बैल।
14. कालधाम छुटिये देओया - पसीना छूट जाना।
15. कान भारी करा - कान भरना।
16. कूप मण्डुक - कूप मण्डूक।
17. गभीर जले माछ - गहरे जल की मछली।
18. गुड़ेर बालि - गुड़गोबर।
19. चोखा-चोखा कथा - बड़ी-बड़ी बात करना।
20. डान हाथ - दाहिना हाथ।
21. तिलके ताल करा - तिल का ताड़ करना।
22. तिलांजलि देओया - तिलांजलि देना।
23. तुलसी वनेर वाघ - बगुला भगत।
24. थतमत खाओया - थथम जाना।
25. दाँड़ करानो - पैर पर खड़ा करना।
26. दिल्ली का लड्डू - मथुरा का पेड़ा।
27. नून आनते पान्ता फुरोय - नून तेल का भाव।
28. नाम राखा - नाम करना।
29. फाँका आओयाज - वृथा आस्फालन।
30. बक धार्मिक - बगुला भगत।
31. गराडुबि - नौका डूबना।
32. बिना मेदो वज्राघात - बिना बादल की बिजुली चमकना।
33. भस्मे घि ढाला - माटी में घी ढालना।
34. माथार घाम पाये फेला - एड़ी चोटी का पसीना एक करना।
35. मिछरि छुरि - मिस्री की छुड़ी - गुड़ से मारना।
36. पितलेर काटारि या शिगुल फुल - सोने की कुदाल या सेमल का फूल।
38. शवरीर प्रतीक्षा - सेबरी की प्रतीक्षा
39. हाटे हाड़ि भांगा - पोल खोलना।
40. हात वा बँधे जले फेला - बाँध के मारै कस न सहै।
41. हात देओया - हाथ लगाना।

42. हरिघोषेर गोयाल - धोबी का कुत्ता।
43. हाते मारे ना भाते मारे - पेट पर लात मारना।

मेले और पर्व

बंगाल में मेलों और पर्वों की भरमार है। इन्हें मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - धार्मिक और असाम्प्रदायिक। धार्मिक मेले यदि किसी स्थान-विशेष के धार्मिक या आध्यात्मिक महत्त्व के कारण लगते हैं, तो असाम्प्रदायिक मेले वर्ष की किसी विशेष अवधि में किसी स्थान विशेष के व्यापारिक या वाणिज्यिक महत्त्व के कारण। धार्मिक मेले सूर्य, भूमि या नदी जैसे प्राकृतिक उपादानों पर आधारित भावनाओं से जुड़े होते हैं, लेकिन असाम्प्रदायिक मेले लोगों की सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लगाये जाते हैं।

सूर्य का पर्व : यह पर्व 'गाजन' नाम से जाना जाता है। यह प्रागैतिहासिक काल से मनाया जाता है। बंगाल में लोकप्रिय शैव सम्प्रदाय से सम्पृक्त है। इसे 'शिव गाजन' या 'आद्य गाजन' कहा जाता है। आद्य भी शिव का ही एक रूप है। दक्षिण-पूर्व बंगाल में इसे 'गाजन' या केवल 'नीलपूजा' कहा जाता है। नील से नीलकण्ठ का बोध होता है। बंगाल के निचले भागों में इसको 'डेल पूजा' कहते हैं। मालदह क्षेत्र में इसको 'गंभीरा' कहा जाता है। संस्कृत नाम कालार्क रुद्र पूजा भी उच्चवर्ग के लोग कहते हैं। यह पर्व चैत्र के अन्तिम पक्ष से शुरू होकर ज्येष्ठ महीने तक मनाया जाता है। इसका अन्त या तो पूर्णिमा के दिन होता है या महीने के अन्तिम दिन होता है।

सक्रिय रूप से व्रत करने वालों को 'भक्त' या 'संन्यासी' कहा जाता है। इसमें से चुने गये मुख्य पुजारी को 'परभक्त' या 'मूल संन्यासी' कहा जाता है। अक्सर किसी वंश विशेष के लोग ही 'भक्त' या 'संन्यासी' बनते हैं। यह वंश-परम्परा से जुड़ गया है। नृत्य-गान के साथ स्तुति की जाती है। ये स्तुतियाँ भी लोक साहित्य का एक अंग हैं।

भूमि देवी के पर्व : अधिकांश क्षेत्रों में भूमि देवी की पूजा विभिन्न रूपों में की जाती है। पहले यह पूजा मिट्टी के छोटे-छोटे टीलों के सामने की जाती थी। हिन्दू धर्म में, विशेषतः तांत्रिकों के प्रभाव के कारण भूमि देवी के कई मानवीकृत रूपान्तर हुए। ये हैं- दुर्गा, काली और लक्ष्मी। ये सभी देवियाँ किसी न किसी रूप में भूमि माता का प्रतिनिधित्व करती हैं।

शरत काल में मुख्यतया माँ दुर्गा की पूजा की जाती है, जो भूमि माता का ही प्रतिनिधित्व करती हैं। इसमें समारोह के साथ नौ पौधों (नव पत्रिका) की पूजा की जाती है, जो साल भर भूमि पर उगते हैं। दुर्गा का एक नाम शाकंभरी भी है, जिसका अर्थ शाक-सब्जियों को उगाने वाली है। चण्डी भी भूमिदेवी का एक रूप है। हर जगहों पर अलग-अलग ढंग से पूजा की जाती है।

ओलाईचंडी पूजा के दौरान बाँकुड़ा जिले के विष्णुपुर में एक बड़ा मेला लगता है। नादिया जिले के साहेब तला के अम्बुवासी मेले में भूमि देवी का रूप स्पष्ट रूप से उजागर होता है। मान्यता है कि इस मेले के दौरान भूमि देवी रजस्वला होकर अगले वर्ष की फसल के लिए बीज ग्रहण करने को तत्पर होती है। मेला भूमि देवी की अशुद्धि समाप्त होने तक तीन दिन तक चलता है।

कटनी का पर्व : धान की कटाई के बाद पौष महीने में यह पर्व मनाया जाता है। यह किसानों का मुख्य पर्व है। इसे 'पौष उत्सव' या 'पौष पारवन' कहा जाता है। नये चावल से बनी खाद्य-सामग्री पुरखों को गायों के माध्यम से खिलाई जाती है। इस प्रकार के भोजनों को 'काकवली' कहते हैं। इसमें धार्मिकता का असर नहीं होता। युवक-युवतियाँ पौष-स्वागत और पौष-विदाई की कविताओं का पाठ करते हैं। विभिन्न जिलों में विभिन्न कविताओं का पाठ किया जाता है।

अगहन महीने में धान की पकी बाली लायी जाती है और कपड़े ढँककर घर के कोने में रखी जाती है। पौष महीना समाप्त होने से एक दिन पूर्व स्त्रियाँ उस धान की पूजा करती हैं। इस विधि को 'आवोनी-बावोनी' कहा जाता है। घर-घर चन्दा वसूलने का रिवाज है तथा नये धान के चूरे से विभिन्न प्रकार की टिक्कियाँ तैयार की जाती हैं, जिसे खाकर बच्चे आनन्दित होते हैं।

फसल के देवी-देवताओं के पर्व : बंगाल में शिव को कृषि का देवता ही नहीं माना जाता, अपितु उन्हें किसान भी माना जाता है। शिव के अलावा भी कई स्थानीय देवता हैं। इन स्थानीय देवताओं की पूजा करने के अवसर पर वार्षिक पर्व भी मनाये जाते हैं-

(क) **कार्तिक** : इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनका नाम बंगला कार्तिक महीने के कारण पड़ा। ये कार्तिकेय नहीं हैं। इस पूजा को सीखी हुई वयस्क स्त्रियाँ ही करती हैं, जिन्हें यह पूजा हर साल करनी पड़ती है। पूजा के दिन घड़े को सुसज्जित किया जाता है और उसमें कुछ कौड़ियाँ, धान की एक बाली, कुछ

मौसमी सब्जियाँ, गन्ने की पलई, कुछ कच्ची सुपारी और कुछ मौसमी फल डालकर उसे भर दिया जाता है। अब घड़े को मिट्टी से बनी कार्तिक की मूर्ति के सामने रख दिया जाता है। सारी रात दीपक जलाया जाता है और 'भान' नामक वृक्ष की काँटदार शाखाएँ रोप दी जाती हैं। उन शाखाओं के काँटों में मौसमी फल, अण्डा, सुपारी, केला और संतरा खोंस दिया जाता है। लोकगीत गाती हुई स्त्रियाँ रातभर पहरा देती हैं। आधी रात को बच्चे फसल को नुकसान करने वाले जन्तु बनकर आते हैं और स्त्रियाँ तीर से उन्हें भगाने का अभिनय करती हैं। घड़े की सामग्री पूजा करने वाली स्त्रियाँ पकाकर खाती हैं।

कार्तिक की प्रतिमा का समारोह पूर्वक विसर्जन नहीं किया जाता है। इसे रसोई बाग में 'धोरवार' की तरह रख दिया जाता है।

(ख) **भांजो** : भाद्र महीने में 'भांजो' नामक फसल के देवता की पूजा की जाती है। 'भांजो' शब्द भाद्र महीने से आया है। यह पूजा शुक्लपक्ष में द्वादशी को की जाती है। इस दिन गाँव की कुछ कुमारी युवतियाँ गाँव से बाहर मिट्टी के पिण्ड एकत्र करती हैं। इसी समय पड़ोस के गाँवों के कुछ युवक भी उसी जगह आते हैं और दोनों दल आमने-सामने खड़े हो जाते हैं। इसमें एक दल जीतता और दूसरा हारता है।

युवतियाँ मिट्टी के पिण्डों को गाँव के सार्वजनिक पूजास्थल पर ले जाती हैं और इसके कंकड़, पत्थर को निकालकर साफ करती हैं। चूहों के बिलों से और परित्यक्त घरों की मिट्टी इसमें मिलायी जाती है। इसके बाद मिट्टी को पीतल या मिट्टी की थालियों में डालकर उसके ऊपर दो तरह की दाल और जौ के बीज, सन का पौधा और सरसो डाल दिया जाता है। इसे 'रास पाता' कहा जाता है। इसे पवित्र स्थान पर तुलसी के पौधे की छाया में रख दिया जाता है। सात दिन तक सींचने के बाद अंकुरित होकर बीज बड़े पौधे बन जाते हैं। बाद में अंकुरित पौधे तथा टीले के चारों ओर वाद्य के साथ नृत्य-गीत होता रहता है। बाद में पानी में मालाएँ एवं मिट्टी फेंक दी जाती है। पौधों को धोकर घर लाया जाता है और छप्पर में खोंस दिया जाता है।

(ग) **कोजागरी लक्ष्मी** : बंगाल के प्रसिद्ध पर्व दुर्गा पूजा के शीघ्र बाद और फसल कटाई शुरू होने से लगभग एक महीना पहले पूरे बंगाल में कोजागरी देवी की पूजा बहुत उत्साह से की जाती है। इस देवी को अब पुराणों में वर्णित समृद्धि की देवी लक्ष्मी का एक रूप माना जाने लगा है। वस्तुतः यह कृषि की देवी हैं।

'कोजागरी' या 'कोजागार' शब्द का अर्थ होता है - 'वह जो जगा हुआ हो'। इस देवी के पूजन के दिन रातभर जागना अनिवार्य होता है। इस देवी की पूजा मुख्यतः चिउड़ा और नारियल से की जाती है। आँगन में अदरक, हल्दी और अरबी के पौधे रोप दिये जाते हैं। इन पौधों के चारों ओर चावल के लेप से सुन्दर आकृतियाँ बना दी जाती हैं। चावल के लेप से देवी के पद की छाप और धान की बाली बनायी जाती है। फसल की निगरानी के रूप में यह पर्व आरम्भ होता है। लड़के फसल को नुकसान पहुँचाने वाले कीड़ों की नकल करते हैं।

(घ) **क्षेत्र ठाकुर** : बंगला अग्रहायण और वैशाख महीनों में फसल की कटनी समाप्त हो जाने पर कम महत्त्व के कृषि देवता 'क्षेत्र ठाकुर' की पूजा की जाती है। कभी-कभी यह देवता 'ठकुरानी' का रूप भी ले लेता है। दोनों महीनों में किसी मंगलवार या शनिवार को इनकी पूजा होती है। आँगन में बेर, अरबी तथा बिन्ना नामक घास के पौधे साथ-साथ रोप दिये जाते हैं। यह माना जाता है कि यह कृषि-रक्षक देवता इन्हीं पौधों में वास करता है। पुरोहित की पूजा के बाद स्त्रियों के गीत होते हैं। इन गीतों में उनकी महिमा का वर्णन किया जाता है।

(च) **कौआ पीर** : इस नाम के फसल के देवता की पूजा की जाती है। कौआ और मुसलमान पीर या फकीर से युक्त होकर यह शब्द बना है। लगता है किसी फकीर ने अपनी जादुई शक्ति से फसल को नुकसान पहुँचाने वाले पक्षियों को नियंत्रित करने की सिद्धि प्राप्त की थी। उसकी मृत्यु के बाद जनमानस में उसी रूप की पूजा होने लगी।

नदियों के पर्व : बंगाल में नदियों का बड़ा महत्त्व है। आर्थिक एवं धार्मिक दोनों दृष्टियों से ये बंगाली जीवन के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण रही हैं। गंगा नदी की पूजा सनातन एवं सार्वदेशिक रूप में विकसित हुई है, कुछ स्थानीय विशेषताएँ भी हैं। स्नान एवं मंत्र पूजा का प्रचार रहा है। स्थान-स्थान पर थोड़े-बहुत अन्तर के साथ यह पूजा एवं स्नान की प्रक्रिया चलती रहती है। गंगा से दूर वाले क्षेत्रों में भी गंगा पूजा होती है। कछुबन नामक गाँव में लोगों की धारणा है कि चैत्र महीने में वारुणी और अशोकाष्टमी के समय गंगा माता वहाँ पधारकर स्थानीय नदी में वास करती हैं। मेले का आयोजन भी प्रायः होता रहता है। विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार से पूजा की जाती है।

अन्य नदियों की भी स्थानीय ढंग से पूजा की जाती है। ये

नदियाँ हैं- ब्रह्मपुत्र और करतोया। वर्ष के विशेष अवसरों पर ये नदियाँ पवित्र हो जाती हैं या इनमें गंगा की पवित्रता आ जाती है। बंगाल में प्रायः सभी नदियों को गंगा ही कहा जाता है। सभी जातियों, धर्मों, लिंग या उम्र के लोग अपने पापों को धोकर शुद्ध होने के लिए विशेष अवसरों पर ब्रह्मपुत्र और करतोया के तटों पर एकत्र होते हैं और गंगा की तरह ही स्नान करते हैं।

चैत्र महीने के शुक्लपक्ष की अष्टमी को अशोकाष्टमी कहा जाता है। इस दिन अशोक पुष्प की आठ कलियों के साथ एक चुल्लू जल पीकर ब्रह्मपुत्र नदी में स्नान करने पर कोई संकट पास नहीं आता। करतोया गंगा की सहायक नदी है, जो दो अवसरों पर विशेष रूप से पवित्र हो जाती है - जब किसी सोमवार को पूर्णिमा पड़ती है और वर्षा ऋतु के आरम्भ में अम्बुवाची को। यह माना जाता है कि इस दिन धरती रजस्वला होती है। ऐसी मान्यता है कि धरती वर्ष में एक बार रजस्वला होती है। उस समय सभी नदियों में धरती का रक्त प्रवाहित होने लगता है, किन्तु करतोया में शुद्ध जल प्रवाहित होता रहता है। इस अवधि में उसमें स्नान करने से तन-मन पवित्र होता है। इन नदियों में गंगा की पवित्रता पूरे वर्ष भर बनी रहती है और विशेष अवसरों पर और बढ़ जाती है।

चैत्र महीने के कृष्णपक्ष की त्रयोदशी को बारुणी कहा जाता है। इस समय चन्द्रमा की कला घटती रहती है। मान्यता है कि बारुणी के दिन बंगाल की सभी नदियों में गंगा की पवित्रता आ जाती है।

दरिया पीर को नदियों का देवता माना जाता है। इस देवत्व प्राप्त पीर की पूजा नदी-यात्रा के समय सुरक्षा प्रदान करने के लिए की जाती है। इनकी पूजा विधि अत्यन्त सरल है। ग्रामवासियों के द्वारा प्रतीक स्वरूप एक 'छोटा पोखरा' खोदा जाता है। इसको दूध से भर दिया जाता है और मनुष्य की दो छोटी-छोटी प्रतिमाओं को कई बार इसके आर-पार किया जाता है। इस अवसर पर पीर की चमत्कारिक शक्तियों का बखान किया जाता है।

नाग-पूजा पर्व : नागपंचमी के अलावा स्थानीय रूप से भी पर्व मनाये जाते हैं और मेले भी लगते हैं। ये पर्व श्रावण के महीने में मनाये जाते हैं, जिनका क्रम पूरे महीने चलता है।

उस पूरे महीने मन्दिरों के अहातों में नागदेवी के गीत गाये जाते हैं और मेले भी लगते हैं। इन मेलों को मनसा मेला भी कहा जाता है। मनसा नागदेवी का नाम है। कई जगहों पर यह पर्व एक राष्ट्रीय पर्व के रूप में मनाया जाता है।

इन पर्वों के दौरान भासन-यात्रा या विषहरा (एक प्रकार का लोकनाट्य), रयानी (एक प्रकार का सांगीतिक आयोजन), जागरण (पारम्परिक गायकों द्वारा कथा-पाठ) और पुतली के नाच के रूप में सर्प-कथाओं का अभिनय भी किया जाता है।

पश्चिम बंगाल में कुछ क्षेत्रों में नागपूजा के अवसर पर सूर्य या शिव के गायन की तरह गाजन भी मनाया जाता है, जिसे 'मनसा गाजन' कहा जाता है। इस अवसर पर रयानी का भी प्रयोग किया जाता है।

पश्चिम बंगाल के कुछ जगहों पर एक विशेष नाग-पर्व मनाया जाता है, जिसका रूप असाम्प्रदायिक है। इसे 'झामपान' कहा जाता है, जिसका वास्तविक अर्थ होता है - साँस लेकर हाथ सफाई दिखाने के लिए बना मंच। यह श्रावण महीने के अन्तिम दिन मनाया जाता है। वास्तव में 'झामपान' किसी क्षेत्र विशेष के सपेयों या जादूगरों का वार्षिक सम्मेलन होता है। यह प्रथा खासतौर पर केयत या कैवर्त जाति में प्रचलित है।

जनजातीय पर्व : प्रत्येक प्रमुख आदिवासी जाति के अपने वार्षिक पर्व हैं। सभी आदिवासी पर्वों का स्वरूप एक जैसा नहीं होता। मौसम और आर्थिक स्थितियों के आधार पर पर्वों में भी फर्क पड़ता है। इन आदिवासी पर्वों में लोग मुख्य रूप से देशी शराब पीकर नाचते-गाते हैं।

सहरूल और बिंदा मुंडा जाति के तथा सहसल और सोहराय संथाल जाति के पर्व हैं। पश्चिम बंगाल की अन्य आदिवासी जातियाँ करम पर्व मनाती हैं। पश्चिमी बंगाल के सीमावर्ती इलाकों में मधु पर्व, शूकर पर्व, नया चावल पर्व, आम पर्व और फल पर्व मनाये जाते हैं।

लोक चित्रकला

आनुष्ठानिक रेखांकन एवं खर्रा चित्र बंगाल की मुख्य लोक कलाएँ हैं। इनमें से आनुष्ठानिक रेखांकन परिवार की स्त्रियाँ पर्वों या उत्सवों के अवसर पर करती हैं और खर्रा चित्रकारी व्यावसायिक चित्रकारों द्वारा की जाती है, जिन्हें 'पटुआ' कहा जाता है। पटुआ दो अलग-अलग क्षेत्रों में फैले हुए हैं और उन क्षेत्रों के नाम के अनुरूप उनको जादू पटुआ और कालीघाट पटुआ कहा जाता है। आनुष्ठानिक रेखांकन को अल्पना कहा जाता है।

आनुष्ठानिक रेखांकन

अल्पना या आनुष्ठानिक रेखांकन बंगाल की सर्वाधिक प्रसिद्ध

लोक कला है। इतिहास के साथ यह लोक धर्म से जुड़ गया, जिसका पालन बंगाल की हिन्दू स्त्रियाँ करती हैं। यह अल्पना चावल के आटे को पानी में घोलकर बनाया जाता है। अँगुलियों के कोर से ये बनाये जाते हैं। चावल के साथ कभी-कभी रंगीन पदार्थ के सूखे चूरे का भी प्रयोग किया जाता है।

पूजा, विवाह, व्रत आदि अवसर पर फर्श या आसन पर-घड़े पर अल्पना विभिन्न वय की स्त्रियों द्वारा विविध प्रकार से बनाया जाता है। मनसा पूजा के समय घड़ों और फर्श पर अनेक प्रकार से साँप का रेखांकन किया जाता है। कुछ भागों में साँप की पूजा के समय 'करंदी' बनाया जाता है। इसका अर्थ है भारतीय घास से बना एक घर, जिसकी ऊँचाई दो फुट से अधिक नहीं। छतें ढलवा और तिकोनी होती हैं। बाहरी छत और दीवारों के सिर्फ एक ओर साँपों की रंगीन आकृतियाँ बनाई जाती हैं। यह घास बंगाल में काफी होती है। दुर्गा, काली और जगद्धात्री की मूर्तियों को इसी घास के आभूषण और मुकुट से सजाया जाता है।

खर्रा चित्रकला

यह पटुआ जाति की कला है। अब ये लोग कैनवस के बजाय मोटे कपड़े के टुकड़ों या हाथ से बने मोटे कागज पर चित्र बनाते हैं। पहले रंगीन खर्रों पर एक प्रकार के चित्र बनाये जाते थे, जिनको 'यम पता' कहा जाता है। इनमें नरक में पापियों के दण्ड का प्रदर्शन होता था।

पटुआ एक ऐसा समुदाय है, जिसको न हिन्दू अपनाते हैं न मुसलमान। इस जाति का झुकाव इस्लाम की ओर अधिक है। इस जाति के लोग अपनी जीविका के लिए रामायण, महाभारत, भागवत या मंगल काव्य या किसी लोक देवी-देवता की कथा पर आधारित चित्र बनाकर और उसका प्रदर्शन करके लोगों का मनोरंजन करते हैं। खर्रों की चौड़ाई तीन फुट और लम्बाई चालीस फुट तक होती है। कथा को गीत के साथ ये लोग दर्शकों को समझाते हैं। विभिन्न रंग के साथ सोने के पत्र और सोने की चमकी तथा चाँदी की पन्नी तथा चमकी का प्रयोग किया जाता है। चित्रकारी स्पष्ट, सहज और स्वतःस्फूर्त होती है। कभी-कभी जंगल, पेड़ में प्रवाहमय नदी का चित्रांकन करने के लिए प्रतीकों से काम लिया जाता है। चित्रों की रेखाएँ हमेशा मोटी और गहरे रंग की होती हैं।

जादू पटुआ : ये चित्रकार विशेष वर्ग के होते हैं। यहाँ जादू का अर्थ जादू ही है और इनसे जादू की अपेक्षा भी की जाती है। यह बंगाल के पश्चिमी सीमा पर रहने वाली आदिवासी मूल की एक जाति है। ये पटुआ चित्रकार खर्रों पर पशुओं या हाथी पर

सवार देवी-देवताओं के चित्र बनाते हैं। इनके पशु चित्रों में आदिवासी जीवन की झलक मिलती है।

कालीघाट पटुआ : कलकत्ता में काली मन्दिर के पास रहने के कारण इन्हें कालीघाट का पटुआ कहा जाता है। ये लोग शृंखलाबद्ध चित्र न बनाकर एक दूसरे से अलग लघुचित्र बनाते हैं। ये लोग प्रायः धार्मिक पात्रों पर चित्रांकन नहीं करते। ब्रह्म का प्रयोग चित्रांकन में करते हैं। कभी-कभी देवी-देवताओं का चित्र भले ही बना दें, पर इनके चित्रों के पात्र स्थानिक एवं असाम्प्रदायिक होते हैं। ये लोकदर्शी दृष्टिकोण रखते हैं। इनके चित्र शुरू में दो प्रकार के थे-

(1) राशिपात (राशि का अर्थ है ढेर), क्योंकि ये सस्ते कागज पर बड़ी संख्या में बनाये जाते थे। (2) राजपात (राज का अर्थ है राजसी), जो हाथ से बने कागज पर बनाये जाते थे।

शिल्प, स्थापत्य, मूर्ति कला

बंग लक्ष्मी झाँपि : अमिय कुमार बन्द्योपाध्याय के ग्रन्थ में बंगाल की अनेक प्रकार की कलात्मक, रचनात्मक एवं उपयोगी कलाओं तथा शिल्पों का यथेष्ट उल्लेख है। उनके ग्रन्थ से ही इन शिल्पों का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है। इससे हिन्दी भाषी पाठक भिन्न होंगे। यहाँ चित्रों को देना सम्भव नहीं। यदि उन सभी विवेच्य शिल्प का चित्र दिया जाता, तो लेखन से ज्यादा बोधगम्य होता।

मिट्टी के खिलौने

बन्द्योपाध्याय ने रवीन्द्रनाथ के इस कथन से आरम्भ किया है कि 'देश मनुष्य की सृष्टि है। देश मृण्मय नहीं है, वह चिन्मय है। मनुष्य यदि प्रकाशमान होता है, तभी देश प्रकाशित होता है।'

मिट्टी से निर्मित 'माँ-पुतुल' एक सुप्राचीन प्रपितामही हैं। इसमें विशुद्ध प्राकृतिक शक्तियों को वशीभूत करने का प्रयास है। इसी के साथ परम रहस्यमयी प्रजनन शक्ति के प्रति आश्चर्यजनित श्रद्धा से पहले 'मातृका देवी' एवं बाद में शिशु की शुभकामना के साथ शिशु को गोद में लिये मातृभूमि का प्रचलन हुआ। यह 'माँ-पुतुल' कुम्हकार के हाथ से मिट्टी द्वारा निर्मित है और इतिहास का निदर्शन लिए हुए है।

नरम मिट्टी को अँगुली द्वारा दबाकर एक प्रकार का खिलौना तैयार किया, पाँचमुण्डा के मृतशिल्पी गण ने जिनका 'बाँकुड़ा का

घोड़ा' आज भी जगत् प्रसिद्ध है। अनेक खिलौने को एक साथ एक डोगी में रखकर उन्होंने उसका नाम दिया था - 'रेल पुतुल'।

इसके अलावा भी अनेक प्रकार के हस्त निर्मित खिलौने हैं। यह बंगाल का घोड़ा पश्चिम बंगाल का गौरव बन चुका है। विदेश में भी पाँचमुड़ा के घोड़े प्रसिद्ध हो चुके हैं। मिट्टी से घोड़े को बनाकर थोड़ा सूख जाने पर लाल रंग का लेप किया जाता है। इसे कारीगरों की भाषा में 'वनक' या 'बेलि-वनक' कहा जाता है। इसके बाद उसे उपले के आँवा में पकाया जाता है। अब पाँचमुड़ा के अलावा भी घोड़ा निर्माण होने लगा है, किन्तु रचनागत कौशल में अन्तर है। इसके अलावा सोनामुखी घोड़े का गला जिराफ की तरह लम्बा नहीं होता। कान घोड़े की ही तरह तथा कान और पूँछ देह के साथ संलग्न होती है। पाँचमुड़ा का घोड़ा ज्यादा विशिष्ट होता है।

बाँकुड़ा में ही एक और 'घोड़े का घराना' है, जिसे लोग कम जानते हैं। उस ग्राम का नाम मुरलू है। इस घराने का घोड़ा केवल माटी से ही निर्मित नहीं है। बाँकुड़ा शहर के पौर इलाके में एवं द्वारकेश्वर नद के उस पार अवस्थित राजग्राम गाँव में एवं अन्य प्रकार का जली मिट्टी से घोड़ा निर्मित होता है। इसके अलावा पीरों के दरगाह या लौकिक देव-देवियों के 'थान' पर जो-जो छोटे घोड़े उत्सर्ग होते हैं, वे भी हाथ से ही निर्मित होते हैं। ये घोड़े प्रायः अन्यत्र अनेक गाँवों में निर्मित होते हैं।

कृष्णनगर के मिट्टी के खिलौने

कृष्णनगर के खेलने वाले खिलौनों में जीवन एवं परिवेश का अविचल रूपान्तर अपनी निपुणता में दिखाई देता है। भारतीय लोककला से कृष्णनगर की मृण्यकला में काफी अन्तर है।

सिराजुद्दौला के समसामयिक महाराजा कृष्णचन्द्र के कृष्णनगर में ही उस शिल्प का प्रवर्तन हुआ। इस कला के ज्ञाता प्राचीनकाल में इसी नगर में आकर बसे। कृष्णनगर के निर्मित पशु-पक्षी, फल-फूल आदि इतने स्वाभाविक होते हैं कि देखकर नहीं लगता कि ये मिट्टी के निर्मित हैं। एकदम वास्तविक लगते हैं। यही इस कला की भिन्नता एवं विशिष्टता है।

टेराकोटा मन्दिर की सजा

पश्चिम बंगाल में ईंट से निर्मित मन्दिर कई हजार हैं। मेदिनीपुर, वर्धमान, हुगली, बाँकुड़ा, वीरभूम, 24 परगना, हावड़ा, नदीया आदि जिलों में असंख्य मन्दिर जीर्ण अवस्था में पड़े हुए हैं।

जली मिट्टी के मन्दिर-अलंकरण शिल्प एकबारगी बंगाल की अपनी चीज है। पत्थर की अप्राप्ति के कारण हमेशा मिट्टी पर ही निर्भर करना पड़ा है। इस सामान्य उपकरण से उन लोगों ने असामान्य सौन्दर्य की सृष्टि की।

देव गृह के मण्डन में जली मिट्टी या 'टेराकोटा' की सजावट बंगाल में काफी प्राचीन है। पहाड़पुर, महास्थानगढ़ आदि इसके उदाहरण हैं। बाँकुड़ा जिले के बहुलाड़ा या पुरुलिया जिले के देउलघाट बड़ाम के 'टेराकोटा' की अलंकृति ग्यारहवीं शताब्दी की है। कम खर्च में देवता की सजा इस शिल्प की देन है।

पत्थर का टेराकोटा

वस्तुतः 'टेराकोटा' अलंकरण जली मिट्टी के अलंकरण हेतु ही प्रयुक्त होता है, किन्तु पत्थर के साथ इस टेराकोटा का कोई मतलब नहीं होना चाहिए। कोई यह नहीं जानता कि अनेक अलंकृत मन्दिरों की सजा जली मिट्टी के ईंट के अलावा 'फूल पाथर' या 'गिरिपाथर' नामक एक गेरुआ गुलाबी रंग के एवं घने दानेदार पत्थर से निर्मित है। रंग के सादृश्य एवं अलंकरण के सादृश्य के कारण ही दोनों के उपादानगत पार्थक्य को समझना कठिन है। निर्माण के नक्शे में कुछ ही हेरफेर न होने के कारण पत्थर के इस कार्य को 'टेराकोटा' ही कहा जाता है। शिल्प-सादृश्य के कारण ही इसके लिए कोई दूसरा नाम नहीं दिया गया। अतः ऐसे कार्यों को 'पाथर टेराकोटा' कहना समीचीन ही है।

वीरभूम जिले के बीचोंबीच, दक्षिण-पश्चिम में छिनपाई से उत्तर-पूर्व में तारापीठ पर्यन्त बहुत से मन्दिरों की दीवारों के अलंकरण इसी 'फूल पाथर' या 'गिरिजाघर' से तैयार है। इस प्रकार के निर्मित मन्दिर वीरभूम जिले में सबसे अधिक हैं।

'फूल पाथर' के भास्कर्य में बाँस की कील या नहनी के प्रयोग के साथ हथौड़ी और बाटाली (रुखान) का प्रयोग हुआ है। इसमें परिश्रम के साथ अति दक्षता भी जरूरी थी। पत्थर के टूट जाने पर मिट्टी से जोड़कर ठीक किया जाता था। उनके अलंकरण में जो सूक्ष्मता और सजीवता है, वह आज भी अक्षुण्ण है।

शान्ति निकेतन के दीवाल भास्कर्य

मन्दिरों के टेराकोटा सजावट की दीवाल सजाने की नई परम्परा शान्ति निकेतन में नन्दलाल बोस एवं सुरेन्द्रनाथ कर द्वारा

प्रारम्भ की गयी। कच्ची मिट्टी की दीवारों पर यह भास्कर्य लोक कला से अलग नहीं है। छात्रावासों की दीवारों, काली बाड़ी एवं श्यामली तथा चैती आदि पर यह भास्कर्य दूर से ही दृष्टि में पड़ता है। ये लोक कलाएँ आज भी सुरक्षित हैं।

टोकरोँ का धातु शिल्प

पश्चिम बंगाल के वर्धमान, बाँकुड़ा, पुरुलिया आदि जिलों में एक सम्प्रदाय के लोग 'टोकरा कामार' नाम से परिचित हैं। वे अपरूप धातुओं से मूर्तियाँ बनाते हैं। उनकी रचना-प्रक्रिया से जाना जाता है कि इस शिल्प का इतिहास सुप्राचीन है। अतीत काल में बाँस और बेंट द्वारा जो शिल्प रचना होती थी, उसे धातु द्वारा निर्मित किया जाने लगा।

टोकरा कर्मकारों के धातु शिल्प में आदिवासी ध्यान-धारणा का प्रभाव विशेष रूप से लक्षणीय है। हाथी, घोड़ा, मयूर, हरिण, मछली, उल्लू आदि प्राणियों की मूर्ति, लक्ष्मीनारायण प्रभृति देव-देवियों की प्रतिमा, प्रदीप, बास्केट, धान-चावल नापने का पीतल का मपना, तेजपत्र एवं नाना प्रकार के फल-फूल का निर्माण टोकरा लोगों की रचना है। इनकी गठन शैली में आदिवासी शिल्प कला की छाप है। प्राणियों की सम्पूर्ण रचना न होने पर भी उनमें आश्चर्यजनक जीवनी शक्ति समुज्ज्वलित होती है।

टोकरा लोगों की निर्माण पद्धति 'सिरे पाद्यु' या गली-मोम पद्धति नाम से प्रसिद्ध है। बालू माटी से मूर्ति के साँचे के लिए एक पिण्ड बनाते हैं। इस साँचे में खाली जगह रखने के लिए रंजन अथवा धुन्ध में उबलता सरसों का तेल डालकर एक प्रत्यास्थ लुगदी तैयार कर लेते हैं। बाद में मूर्ति तैयार करते हैं। घूमने वाले टोकरा घर-घर घूमकर पीतल के पुराने बर्तनों को लेकर गृहस्थों के फरमाईश के अनुसार सामान तैयार कर देते हैं।

केवल पीतल धातु का ही ये प्रयोग करते हैं। मूर्तियों के विभिन्न अंगों को अलग से बनाकर भी जोड़ दिया जाता है। शिल्पशास्त्र सम्मत न होने पर भी लोक शिल्प का तेज एवं सहजता रहती है।

लक्ष्मी-सरा

कृषि प्रधान बंगाल की आराध्या देवी लक्ष्मी हैं, कंचन कलंकित कुबेर नहीं। समग्र बंगाल में लक्ष्मीश्री, लावण्य, समृद्धि और सौभाग्य की देवी रूप में पूजिता हैं। ये देवी कृषकों के लिए

फसल की देवी रूप में परिणत हुई हैं। उनका वाहन उल्लू कृषि शत्रु जन्तुओं का शत्रु है। इसीलिए उस देवी का वाहन उल्लू है। अनेक लोग लक्ष्मी जानकर 'कला बहू' की पूजा करते हैं। पश्चिम बंगाल में लक्ष्मी-पूजा के प्रतीक रूप में 'लक्ष्मी-सरा' की सर्वजनीन विधि है। उत्तर आकृति विशिष्ट जली मिट्टी के इस गोल सरा के पीठ पर पट-चित्रांकन पद्धति से अनेक प्रकार का नक्शे शोभित किये जाते हैं। पात्र कुम्हार बनाते हैं और चित्रांकन दक्ष लोग करते हैं। लक्ष्मी-सरा पर केवल लक्ष्मी का ही चित्रांकन नहीं होता, महिषमर्दिनी बंगाल की अति जनप्रिय देवी हैं।

पूर्व बंग में फरीदपुर का सरा ही श्रेष्ठ माना जाता है। ढाका अंचल में ढाकाई सरा की कद्र ज्यादा है। फरीदपुर जिले के सुरेश्वर ग्राम में निर्मित 'सुरेश्वरी सरा' एक समय विशेष जनप्रिय था। इसमें राधा-कृष्ण की मूर्ति न बनाकर ऊपर चावल से शोभित अंश में लक्ष्मी-सरस्वती-कार्तिक-गणेश परिवृत्ता महिषासुर मर्दिनी दुर्गामूर्ति एवं नीचे की ओर लक्ष्मी और उल्लू की छवि उत्कीर्ण होती है। आचार्य ब्राह्मणों द्वारा अंकित सरा को 'आचार्य सरा' कहा जाता है।

दशावतार तास

तास शब्द यूरोप से आया। ओलन्दाज वणिकों के यहाँ प्रतिष्ठित होने के समय सतरहवीं शताब्दी में इस तास की आमद हुई थी। यह भी विचारणीय है कि मध्य प्राच्य देश में तास हमारे भारतवर्ष से संगृहीत हुआ था। 1527 ई. में रचित बाबर की आत्मजीवनी अथवा अकबर के राजत्वकाल में लिखित 'आइने अकबरी' में 'गंगिका' नामक एक प्रकार के तास का पता चलता है। कुछ लोग पारसी भाषा में नामित होने के कारण इस तास को पारसी देश से उद्भूत मानते हैं। इसके पूर्व भी भारत में तास खेलने की परम्परा थी। पण्डित हरप्रसाद शास्त्री ने अपने एक निबन्ध 'ए नोट ऑन विष्णुपुर सर्कुलर कार्ड्स' में अनुमान किया कि अष्टम् अथवा नवम् शताब्दी में विष्णुपुर के मल्ल राजाओं के संरक्षण में दशावतार तास नामक एक प्रकार के तास का प्रचलन था। इसकी आकृति गोल होती। चार से साढ़े चार इंच का व्यास होता। प्रत्येक अवतार के चित्र एवं प्रतीक निर्मित करके तास की श्रेणी या रंग का विभाजन किया जाता था। प्रत्येक श्रेणी में बारह तास होते। इस प्रकार कुल तासों की संख्या एक सौ बीस होती। प्रत्येक रंग के सम्मानित कार्ड दो अवतार या उसके मंत्री होते। इन्हें चित्रित करने के लिए प्रतीकों की रचना होती। उन तासों के रचनाकार 'सूत्रधर' कहे जाते। एक समय विष्णुपुर के गदाधर, फौजदार, सतीश फौजदार,

केदार सूत्रधर आदि शिल्पी दशावतार चित्रण में काफी प्रसिद्ध हुए थे।

दशावतार तास निर्माण की पद्धति सरल है। पुराने साफ कपड़े को इमली के बीज के आटे से लेप लगाकर कई भाँज करके जोड़ लिया जाता है। सूख जाने पर दूधिया मिट्टी का प्रलेप लगाना होता है। इसके बाद चिकने पत्थर से घिसकर दोनों पृष्ठ को समतल किया जाता है। इसके बाद निश्चित नाप की गोल चकती को काटकर नाना रंग से एक पृष्ठ पर अवतार एवं वजीर की मूर्ति या प्रतीक अंकित होते हैं। नक्शे का कार्य समाप्त होने पर दूसरी ओर गाला और सिन्दूर के चिकने प्रलेप को लगाकर काम समाप्त किया जाता है।

नकशी काँथा (काँथा-नक्कासी)

दूर सुन्दर शिल्प को आद्यन्त ग्रामीण महिलाओं द्वारा पूरा किया जाता है। पुरानी धोती या साड़ी को धोने से लेकर रंगीन सूते का चयन और उनका सुसम प्रयोग तथा किस प्रकार का नक्शा व्यवहृत होगा, इसका निर्धारण तथा जमीन पर उनका अंकन एवं सबसे ऊपर चरम धैर्य एवं श्रमपूर्ण सिलाई का कार्य आदि बंगाली लड़कियाँ स्वयं ही करती हैं।

कलकते के ठाकुर पुकुर स्थित गुरुसदय म्युजियम में दो सौ से अधिक काँथा नक्काशी रखी हुई है। वह एक भी पुरुष द्वारा निर्मित नहीं है। अधिकांशतः पूर्व बंग की महिलाएँ ही इस चारु शिल्प के प्रति विशेष रूप से अनुरक्त थीं। विभिन्न संग्रह-शाला में यशोहर, खुलना, फरीदपुर, मैमनसिंह और बरिशाल जिले से आगत काँथा की संख्या ही अधिक है।

सबसे बड़े आकार के काँथा को 'लेप' कहा जाता है। रजाई की तरह ये भी सारे शरीर को आवृत्त करने के लिए होते हैं। सामान्य ठण्ड में ये बड़े उपयोगी थे। अपेक्षाकृत छोटे सुननी का आयतन 6 X 4 फुट होता है। सामान आदि रखने के लिए तथा शृंगार प्रसाधन को रखने के लिए भी विशेष प्रकार के काँथा का प्रयोग होता था। पान मसाला आदि वहन करने वाले थैले का नाम था 'दुर्जनी'। सबसे छोटे शिल्प वस्तु को 'रूमाल' कहा जाता था।

इन काँथों पर मात्र तीन रंग का ही व्यवहार हुआ है - काला, नारंगी और लाल। रंगों के बारे में कोई निषेध नहीं था। पीला, नीला और हरा रंग भी काफी व्यवहृत होते थे। अनेक फूल-फल, पशु-पक्षी आदि का निर्माण होता था। आज अन्यान्य कलारूपों का प्रभाव भी इस कला पर पड़ा है।

बालूचर साड़ी (बालूचर साड़ी)

यह बंगाल की बहुत गौरवपूर्ण कला है। 'रिजिनल डिजाइन सेण्टर' एवं विष्णुपुर के कुछ जुलाहे इस विषय में साहसी कदम उठा रहे हैं।

ताँत की बुनी अन्य पाँच प्रकार की रेशमी साड़ियों में बालूचर साड़ी सबसे उच्च स्तर की है। प्रायः पाँच गज लंबी की एवं बयालीस इंच बहर की इन साड़ियों का नक्काशा आँचल छब्बीसे बत्तीस इंच तक चौड़ा होता है। बालूचर साड़ी की जमीन पर बूटी या फूल लता-पत्र का नक्काशा कभी रहता और कभी नहीं भी रहता। किन्तु कलाकार पाड़ा और आँचल में सारी कला की निपुणता का प्रयोग करते थे। आँचल में अत्यन्त सूक्ष्म बड़ी-बड़ी कलापूर्ण नक्काशी तो रहती ही है, इसके अलावा वैशिष्ट्यपूर्ण नर-नारी की मूर्ति रहती है। कथोपकथन करती अथवा शृंगाररत रमणी, घुड़सवार पुरुष का प्रतिचित्र भी काफी प्रिय था। इसके बाद रेल इंजन, अंग्रेज आदि की छवि भी अंकित होने लगी। धीरे-धीरे समय के साथ कला में परिवर्तन भी हुआ।

बालूचर साड़ी के ताना सूते का रंग प्रायः घना लाल, मैरून, नीला आदि होता है। बाना सूते का विन्यास बड़ा दुरूह होता है। उनका रंग सादा, फीका सोनाली, पीला, हरा आदि होता। केवल ताना-बाना को आड़ा-आड़ी ढंग से असामान्य दक्षता से चलाकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म नक्काशी को आश्चर्यजनक सफाई से उठा लिया जाता है।

बंग नारी का अलंकार

वैदिक युग से लेकर प्राचीन ग्रन्थों में स्वर्णकार और मणिकार का उल्लेख मिलता है। सब समय अलंकार प्रियता देखी जाती है। बंगाल में पाल-सेन राजा के अमल से नाना प्रकार के अलंकार आभूषण प्रचलित थे। उन्हीं आभूषणों से देवी-देवताओं को भी अलंकृत किया जाता था। 'श्रीकृष्ण कीर्तन' से प्रमाण मिलता है कि सधवा युवतियाँ माँग में सिन्दूर, बाहु में वलय एवं पाँव में नुपूर पहनती थीं। वक्ष आवरणी भी तेरहवीं-चौदहवीं शती से प्रचलित थीं। इसे 'काँचुली' कहा जाता था। सातलर का हार भी महिलाएँ पहनती थीं, जिसे 'सातेसरी हार' कहा जाता था। कवरी बन्धन में 'लोटन खोंपा' प्रसिद्ध था। खोंपे में फूल की माला जड़ित की जाती थी। 'श्रीकृष्ण कीर्तन' से ही प्रमाण मिलता है कि ललाट पर तिलक, कान में कुण्डल, पाँव में मगड़ खाड़, बाहु में बाउटि, पाँव के अँगुल में पासली (बिछिया), हाथ की अँगुली में अँगूठी,

मणिबन्ध में सोने के बाला का व्यवहार होता था। इस प्रकार नारी अलंकारों की संख्या और प्रकार का निर्धारण बड़ा कठिन है। समय के साथ परिवर्तन-परिवर्धन होता रहा है।

शाँखेर अलंकार (शंख के अलंकार)

पौराणिक आख्यानों से यह प्रमाणित है कि भारतवर्ष में शंख का प्रयोग अति प्राचीन है। श्रीकृष्ण ने समुद्रतलवासी पंचजन नामक असुर का वध किया था। उसकी इच्छा थी कि उनका कर-स्पर्श बराबर रहे। अतः पांचजन्य शंख उसकी हड्डी से ही निर्मित था, जिसे कृष्ण हमेशा धारण करते थे।

शंख जात अलंकार के सम्बन्ध में भी एक कौतूहलपूर्ण किंवदन्ती है। एक बार देव सभा में आमंत्रित शिव-दुर्गा विषम संकट में पड़े। वहाँ तीनों लोक के श्रेष्ठ अलंकारों का बाजार लगेगा। वहाँ निराभरणा शिव कैसे जायेंगे? उस समय विश्वकर्मा को बुलाया गया। पता चला कि सारा रत्न भण्डार समाप्त हो चुका है, बस इस समय मात्र समुद्र तल के शंख का कोई व्यवहार किया जा सकता है। उसी अपूर्व उपादान से उन्होंने पार्वती के लिए अपूर्व आभूषण गढ़ दिया। उसकी उज्ज्वलता से देव सभा की सारी मणियाँ म्लान हो गयीं। इसी से विवाहिता हिन्दू नारी का श्रेष्ठ अलंकार श्वेत दो शंख वलय हुए। बंगाल में 'पाटुया संगीत' में अन्य किंवदन्ती भी है, जो शिव-पार्वती पर ही आश्रित है। लोगों का विश्वास है कि हर-पार्वती से ही शाँखा (शंख वलय) का आविष्कार हुआ है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण से प्रमाणित होता है कि तेरहवीं शती से ही शाखारि सम्प्रदाय भारतवर्ष में श्रेणीबद्ध रूप में रहते आ रहे हैं। अब भी शाखारि बंगाल के दो ग्रामांचल में शाँखारि वाओयान (ब्राह्मण), शाँखारि-ठाकुर अथवा शाँखारि-भाट (भट्ट) नाम से परिचित हैं। ये ही ऐसे सम्प्रदाय हैं जो शाँखा पहनाने के लिए बिना आपत्ति के हिन्दू नारी का अंग-स्पर्श कर सकते हैं। ये सभी उच्चकुल के परिचायक हैं।

पहले ढाका शाखारि खूब दक्ष और प्रतिभाशाली थे। देश-विभाजन के बाद उनमें अनेक पश्चिमी बंगाल चले आये। वीरभूम जिले के बड़ाम, रामपुर पट, सिउड़ी एवं कड़िध्याय, बाँकुड़ा जिले के हाटग्राम और विष्णुपुर में, वर्धमान जिले के घोड़नाश, बाघना पाड़ा, पाटुलि एवं काटुआ, हुगली जिले के चन्दन नगर और भद्रेश्वर, मुर्शिदाबाद जिले के डोमकल में, नादिया जिले के रानाघाट और नवद्वीप में, उपपरगना के बराकपुर एवं हावड़ा एवं कलकत्ता

के बागबाजार, जोड़ासाँ को शाँखारिपाड़ा लेन (भवानीपुर) एवं केशवसेन स्ट्रीट अंचल में अब भी कुछ शाँखारि वास करते हैं। शंख बंगाल में नहीं होती, दक्षिण भारत से मँगाना पड़ता है। निर्माण केवल बंगाल में ही होता है। हस्तशिल्प के विविध उपादानों में शंख सबसे कठिन है। कई प्रकार के पत्थर से भी शंख कटोर होती है। रेती से रेत-रेत कर सारे शंख को घिसना पड़ता है। श्रमसाध्य होने के कारण इस कारीगरी का भविष्य अच्छा नहीं है। नक्काशी में अतिसुन्दरता और विचित्रता होती है। बंगाल में इन शंख के आभूषणों को पहनने का अभी भी रिवाज है। विवाहित स्त्री को शाँखा पहनना ही पड़ता है।

शोला

बंगाल में मालाकारों के बारे में ज्यादा अध्ययन नहीं हुआ है। सारे धार्मिक पर्वों पर उनके बनाये आभरणों के बिना काम नहीं चलता। ये शोला से निर्मित नाना प्रकार के मनोहर आभरणों से प्रतिमा की अंग-सज्जा करते हैं। आधुनिकता के चलते प्राचीन धार्मिक रीति-नीति पीछे रह गयी है।

अभी भी चन्दन नगर एवं कृष्ण नगर के मालाकारों द्वारा अनेक प्रतिमाओं की सज्जा होती है। बंगाल के विविध अंचल एवं ग्रामों में यह कला अभी भी जीवित है। सामाजिक रूप से मालाकार उत्तर-राढ़ी, दक्षिण-राढ़ी और बंगज इन तीन श्रेणी में विभक्त हैं। नाना मेलों में पशु-पक्षी, मनुष्य आदि के रूप में खिलौने बिकते हैं।

बंगाल में शोला की खेती नहीं होती। यह जल लगने वाले जगहों पर स्वयं होते रहते हैं। मालाकारों को आँटी के दर से शोला खरीदना पड़ता है। 1962 ईस्वी में पाँच-पाँच फुट व्यास की आँटी तीन-चार रुपये में मिलती थी। ये शिल्पी एक सामान्य धारदार हथियार से (जिसे ये 'काठ' कहते हैं) बड़ी सफाई से भीतर के सादे अंश को निकालते हैं और उसे नाना आकृति में रूपान्तरित करते हैं। 'काठ' की सहायता से बेलनाकार शोले के टुकड़े से कागज की तरह पतली चादर काटकर निकालते हैं। इसको 'काप' कहा जाता है। शोला-शिल्प में सर्वत्र ही इस 'काप' का प्रयोग होता है। इससे बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ भी बनायी जाती हैं।

काठ खुदाई

बंगाल में पत्थर और ईंट की उपलब्धि नहीं थी, तब से ही काठ, पुआल और बाँस द्वारा झोपड़ी की तरह सभी सौध निर्मित होते थे। मध्ययुग में देवालय, आवासगृह सब कुछ 'सूत्रधर' नामक ग्रामीण शिल्पी ही निर्माण करते थे। वे लोग एक साथ ही काष्ठ,

पाषाण, मृत्तिका और चित्र चारों कार्य करते थे। बाद में यही शिल्पी अनादर सूचक 'छुटोर' सम्प्रदाय में परिणत हो गये हैं।

प्राचीनकाल में भी शील मोहर आदि नक्काशी का काम तथा कपाट और नौका का निर्माण होता था। वृहत्संहिता में पेड़ काटने की विधि, काठ का गुणभेद, काठ को दृढ़ करने की पद्धति और अनेक असबाब निर्माण की पद्धति भी उल्लिखित है।

बंगाली दारू शिल्पियों की सर्वोत्तम प्रतिभा एक बार वासगृह एवं मन्दिर आदि के दरवाजे, जंगले के कपाट, दारू निर्मित रथ के साँचे, मूर्ति एवं चण्डी मण्डप के विविध अलंकार की रचना में नियोजित हुई थी।

धावमान अश्व सह रथ, परी, नर्तकी, वादिका आदि की मूर्ति रचना में असामान्य दक्षता दिखाई दी है। फूल, लता, पत्र आदि के साथ मनोहर खुदाई का कार्य होता था। काठ के खम्भे भी खुदाई द्वारा अलंकृत होते थे। काली, दुर्गा, जगद्धात्री, हर-पार्वती आदि काठ की मूर्तियाँ खम्भे या सँड के ऊपर शोभित होतीं।

इस समय बंगाल के काठ मिस्त्री पोषण की समस्या के चलते केवल टेबुल, चेर, खाट, आलमारी, जंगला आदि गृह सामग्री तैयार करते हैं। अब धीरे-धीरे प्राचीन मनोहर खुदाई का कार्य समाप्त प्रायः हो गया है। अब देव-देवी की मूर्तियाँ तथा मण्डप आदि काष्ठ की अपेक्षा अन्य उपकरणों से बनने लगे हैं। प्राचीन मन्दिरों में बंगाल की काष्ठ मूर्तियाँ अब भी अपना वैशिष्ट्य बनाये सुरक्षित हैं। काष्ठ कलाकारों की जाति 'सूत्रधर' है। उनकी कौलिक उपाधि होती है - डे, कुण्डू, पाल, रक्षित, दास आदि। अब इनके पास कलात्मक कार्यों की फरमाईश कम हो गयी है। अब छोटी-मोटी देव-देवी मूर्ति के साथ परी या परी मूर्ति शोभित फूलदानी एवं वातिदान हाथी माथा वाला या अन्य प्रकार का बनाते हैं। लेकिन इससे जीविका न चलने के कारण अन्य रोजी का विकल्प भी ढूँढना पड़ता है। कृष्णवारि ग्राम में अब भी कुछ वंशगत काष्ठ कलाकार हैं।

काठ के खिलौने

काठ के खिलौने भी प्राचीनकाल से बनते आ रहे हैं। वर्धमान में थोड़ा बहुत प्रसिद्ध एक गाँव का नाम नतुन ग्राम है। यह ग्राम नवद्वीप के उत्तर में है। अब उस गाँव में कुछ वंशधर सूत्रधर रहते हैं, जो इस गाँव की विशिष्टता हैं। वे पारम्परिक रूप में लक्ष्मी-उल्लू, कन्या पुतुल, श्री गौरांग, राम, लक्ष्मण, सीता, रावण आदि की मूर्ति बनाते हैं। इस केन्द्र से निर्मित तीनकोना

कन्या पुतुल काफी प्रसिद्ध हुआ था। और वह कालीघाट में बिक्री होता था। ये नतुन ग्राम के शिल्पी सुविधा के लिए नरम जाति के काठ का प्रयोग करते हैं। बसुला, वटाली आदि से ही वे अपना कार्य करते हैं। वे रंग स्वयं बनाते हैं, किन्तु बाजार से भी रंग खरीदने लगे हैं। उनके द्वारा निर्मित लक्ष्मी पेचा अब अमेरिका और यूरोप में भी जाने लगा है।

इलाम बाजार का गाला काज

यह शिल्प केवल एक व्यक्ति के ऊपर निर्भर है। गाला का कार्य जिसे हिन्दी में 'चपड़ा' कहते हैं। उससे भी कुछ कलात्मक कार्य होते हैं। गाला से आलता, रंगीन चूड़ी, नाना प्रकार के खिलौने एवं शौकीन सामानों के लिए इलाम बाजार का विशेष नाम है। पचास वर्ष पूर्व अनेक परिवार के शिल्पी इस कार्य में जुड़े थे। इस लाख का प्रयोग प्राचीनकाल से चला आ रहा है। विदेशों में भी इसका प्रयोग होता था और हो रहा है। इस गाला या लाख से 'नुरि' सम्प्रदाय के बहुत से कारीगर पारम्परिक ढंग से उपरोक्त चीजें बनाते थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के जमाने से इलाम बाजार में शिल्पीगण गाला से अनेक प्रकार की सामग्री तैयार करते आ रहे हैं। विश्वभारती के श्रीनिकेतन में गालाशिल्प की शिक्षा पारम्परिक पद्धति के साथ आधुनिक पद्धति पर केन्द्रित है।

मिष्ठान्न के साँचे

इसके अलावा बंगाल के शिल्प में मिठाई बनाने के साँचे को भी लिया जा सकता है। उन साँचों में नाना प्रकार के आकार-प्रकार बनाने की क्षमता होती है। विशेष करके सन्देश नामक मिठाई बनाई जाती है।

बंगाली परिवार में अतिथि सेवा हेतु अनेक काष्ठकार्य किया जाता था। पीढ़े को नक्काशी एवं अल्पना आदि तथा बढ़िया भोजन द्वारा उसका सेवा-सम्मान होता था। आजकल की तरह दुकान से मिठाई खरीदने का रिवाज नहीं था। गृह बधुएँ अनेक चीज बनाने में सिद्ध थीं। उस भोजन का सुस्वादु होना ही बड़ी बात नहीं थी। उसे सुन्दर भी होना जरूरी था। इसलिए सन्देश, क्षीर की चन्द्रपुलि और नारियल का लड्डू आदि साँचे से उठाये जाते, जिससे वे नक्काशी से अलंकृत होते। ये साँचे फल-फूल-पत्ती, नर-नारी या पशु-पक्षी के अवयव के साँचे होते। मिठाइयों पर 'गात्र-हरिद्रा', 'शुभ विवाह', 'फूल शय्या', 'मिलन रात्रि' आदि लिखित साँचे से कितने प्रकार की शोभा बढ़ती - कुछ ठिकाना नहीं। अवसर के अनुसार उस लेखन के साथ चित्र भी होते थे। नये जामाता एवं समधी के भोजन के साथ परिहास हेतु भी विचित्र साँचों का प्रयोग

होता। अब तो वह मजाकपूर्ण आनन्द और हृदय का उल्लास ही चला गया है। रह गयी हैं दुकानें और खरीदी मिठाईयाँ।

ये साँचे लाल या काली मिट्टी के होते। काठ और नरम पत्थर के भी साँचे बनते थे। नहनी द्वारा कुरेद-कुरेद कर ये साँचे तैयार होते थे। अब तो शायद ही किसी परिवार में वैसे साँचे मिलें।

अलंकृत शिका (सिकहर, छिका)

सामान को सुरक्षित रखने के लिए जिस छिके का व्यवहार बंगाल में होता था, वह केवल रस्सी से निर्मित झूला मात्र नहीं था। उसे भी विविध प्रकार से सुसज्जित किया जाता था। इन छीकों को अनेक प्रकार से अलंकृत किया जाता था। घरेलू जन्तुओं से सुरक्षा हेतु अनेक चीजें भी उस पर टाँग दी जाती थीं। आज उसका धीरे-धीरे अभाव हो गया है।

लक्ष्मी झाँपि

लक्ष्मी बंगाली घर की बारहमासी नित्य देवता है। उनकी पूजा हेतु वर्ष में एक तिथि निश्चित होती है फिर भी प्रत्येक वृहस्पतिवार को उनकी उपासना की रीति प्रचलित है। बंगाली परिवार में लक्ष्मी की पूजा हेतु एक निर्दिष्ट स्थान रहता है। वहीं उसकी मूर्ति, छवि या घर एवं विविध पूजा के उपकरण रक्षित होते हैं। इसमें लक्ष्मी झाँपि (मौनी) एवं सिन्दूर चुपड़ी प्रधान सामग्री होती है। बाँस या बेंत के छोटे-छोटे टुकड़ों को सालू एवं कौड़ी के अलंकार से सज्जित करके यह झाँपि और चुपड़ी काफी मात्रा में निर्मित होती थी। इन आधारों में कुछ सिन्दूर, चाँदी का सिक्का और कौड़ी हमेशा रखे रहते थे।

इसके अलावा जीवन में सौन्दर्य और विलास हेतु नाना लोकशिल्प रहे हैं। ताम्बूल आदि हेतु आधार पात्र या ताम्बूल सामग्री हेतु पनडब्बा आदि में भी लोककला का निदर्शन किया जा सकता है। लोकनृत्य के सन्दर्भ में मुखौटों का उल्लेख हुआ है। वे मुखौटे भी विविध प्रकार के तथा अनेक चमत्कारपूर्ण कला के द्योतक रहे हैं। बंगाल में लोक शिल्प चरम शिखर पर था। आज भी यहाँ अपने बदले रूप में लोक शिल्प विकसित है और उसका व्यापारिक स्वरूप भी बना है।

लोक-वाद्य

वाद्य और वाद्ययंत्र कहते ही Musical Instruments समझा जाता है, लेकिन 'संगीत-वाद्ययंत्र' कहने पर केवल कण्ठ संगीत के साथ जो वाद्ययंत्र प्रयुक्त होते हैं, उन्हीं को समझा जाता

है। बात इतनी ही नहीं है, 'कण्ठ-संगीत-निरपेक्ष' भी वाद्ययंत्र की एक भूमिका है। इसलिए यहाँ केवल 'वाद्य' शब्द का ही प्रयोग उचित है और लोक-प्रचलित वाद्य का परिचय प्राप्त करना लक्ष्य है। यहाँ मुख्य-मुख्य वाद्यों के परिचय द्वारा सुर-समुद्र के उत्ताल तरंगभंग का परिचय मिल सकता है।

प्रकृति जगत् के शब्द-छन्द और संगीत ने हमारे पूर्व पुरुषों को आकर्षित किया था और उससे उनमें कौतूहल उत्पन्न हुआ होगा। सनतकुमार मित्र ने अपनी पुस्तक 'पश्चिम बंगेर लोक वाद्य' में Lewis Henry Morgan के कथन को उद्धृत किया है- मनुष्य की भाषा उसके साधारण मनोभाव को अभिव्यक्त करने के लिए ही विकसित हुई है, लुक्रेशियास ने स्पष्ट बताया है कि अंगभंगी और इशारे द्वारा मनोभाव की अभिव्यक्ति उच्चरित भाषा से पहले आई है। मनुष्य ने अनजाने में कण्ठ स्वर का प्रयोग करके स्पष्ट उच्चारित भाषा में रूपान्तरित किया है।

वाद्य यंत्र का स्वरूप-वैशिष्ट्य

मनुष्य का सबसे आदिम आवेग छन्द या ताल-बोध होता है। इस आवेग को वह प्रकृति जगत् से अनुभव करता है। इसी मूल अनुभव एवं उसके बहुमुखी अभिव्यक्ति से ही उसने धीरे-धीरे परिवर्तन के द्वारा एक-एक विभिन्न प्रकार के वाद्ययंत्र का आविष्कार किया। हम यह अनुमान कर सकते हैं कि आदिम मानव ने जब अपने आदिम स्वभाव के वशीभूत होकर नृत्य आरम्भ किया, तब उसने अपने हाथ या छाती या पेट या रान (उरु) पर आघात करके शब्द-रचना का प्रयास किया। इन्हीं शब्दों की सृष्टि के द्वारा हमारे आदिपूर्वज आनन्द-भय-विस्मय इत्यादि मनोभाव को अभिव्यक्त करते। लगता है इसी शरीर वाद्य से ही ढोल या पीटकर बजाने वाले वाद्ययंत्र के आदि रूप की उत्पत्ति है। मरे हुए पशुओं के चमड़े को किसी प्रकार तनाव में रखकर उस पर आघात द्वारा आवाज उत्पन्न करना स्वाभाविक ही था। वस्तुतः लोकवाद्य के विवर्तन से ही आज के अनेक अभिजात वाद्ययंत्र विकसित हुए हैं। वाद्ययंत्र संगीत का अन्यतम अंग हैं, अतः बाद में वाद्ययंत्र के बारे में ही चर्चा होगी।

लोक-वाद्य के साथ उच्चस्तर के वाद्य का प्रयोग उचित नहीं, फिर भी कभी-कभी विदेशी वाद्ययंत्रों का भी प्रयोग होता दिखाई देता है।

वाद्ययंत्र का श्रेणी विभाजन

वाद्ययंत्र को नाट्यशास्त्र में 'आतोद्य' कहा गया है। ये

मूलतः दो प्रकार के होते हैं- (1) उच्चांग या ध्रुवपदी वाद्ययंत्र : सितार, वीणा, तानपुरा, एसाज, पखावज, तबला इत्यादि (2) लोकवाद्य यंत्र : एकतारा, दो तारा, लाऊ, धामसा, करताल, बाँसुरी इत्यादि। इसके अलावा भी कई विदेशी वाद्ययंत्र भी हमारे संगीत के साथी होकर काफी जनप्रिय हो चुके हैं। जैसे- हारमोनियम, बेहाला, क्लारियोनेट, गिटार आदि।

भरतमुनि ने आकृति एवं व्यवहार की दृष्टि से उसके चार विभाग किये हैं।

ततमचैवानद्धम च घनम् शुषिचरमेवच ।
चतुर्विधमतु विज्ञेय - मतोद्यम लक्षणाभितम् ॥
ततमतन्त्रीगतम ज्ञेयमवनद्धम तु पशुकरम् ।
घनमतलष्णु विज्ञेयम शुषिचरं वंश उच्यते ॥

‘त’ या तार के यंत्र, ‘आनद्ध’ या आच्छादन युक्त यंत्र, घन या धातु निर्मित निरेह यंत्र एवं सुषिचर या छिद्रयुक्त वायु पूरण से बजने वाले यंत्र।

‘संगीत दामोदर’ में भी इसी प्रकार कहा गया है-

ततानद्धश्च सुषिचरं घनामिति चतुर्विधम्
ततं वीणादिवं वाद्यमानद्धं मरजाविकं ॥
वंश्यादिकन्तु सुषिचरं कांस्यतालादिकं घनं ॥

नवद्वीप परिक्रमा में भी इसी प्रकार कहा गया है-

घन तत आनद्ध सुषिचर,
वाद्य चतुर्विध सुरचिर ।

देशी और आगन्तुक दो विभाग भी किये जा सकते हैं-

(क) देशी - (1) आदि बंगीय संस्कृति-संजात
(2) उत्तर भारतीय संस्कृति वाहित

(ख) आगन्तुक - (1) मुस्लिम-संस्कृति वाहित
(2) यूरोपीय-संस्कृति वाहित

अनेक स्थापत्य, मन्दिर, प्रासाद पर उत्कीर्ण चित्रों में भी वाद्ययंत्रों की सूचना मिलती है। अनेक बंगाली ग्रन्थ एवं बंगाल के बारे में लिखे गये, बाहरी ग्रन्थों में अनेक प्रकार के बंगाली वाद्ययंत्रों के व्यवहार का प्रमाण मिलता है। नागर जन द्वारा व्यवहृत उच्चस्तरीय वाद्ययंत्रों के साथ ‘लोक’ में व्यवहृत ग्राम्य या लोकवाद्य की भी संख्या कम नहीं है।

सम्पूर्ण लोकवाद्य का परिचय पाना कठिन है, क्योंकि लोक संस्कृति की तरह लोकवाद्य भी परिवर्तित होते रहते हैं। स्थान-काल एवं लोकरुचि के अनुसार लोकवाद्य का भी आकार और नाम बदलता रहता है। एक ही प्रजाति के वाद्ययंत्र का नाम स्थान-भेद के अनुसार बदल जाता है। व्यक्ति की आवश्यकता के अनुसार उसकी बनावट में नाना प्रकार से छोटा-बड़ा रूपान्तर होता रहता है। बंगाल के लोक साहित्य में लोकवाद्य-यंत्रों का उल्लेख मिलता है। रवीन्द्रनाथ अपने ‘लोक साहित्य’ में कहते हैं- किन्तु यह स्पष्ट दिखाई देता है कि प्रथम कई पंक्तियों में विवाह यात्रा का वर्णन है। द्वितीय पंक्ति में कई वाद्यों का उल्लेख है।

यहाँ इन विभिन्न वर्गीय वाद्ययंत्रों का संक्षिप्त परिचय देना समीचीन होगा।

(क) तंत्री जातीय लोकवाद्य

(1) आनद्ध लहरी- यह एक तंत्री वाद्य विशेष है, जिसे गोपी यंत्र कहा जाता है। यह एक भीतर से खाली काठ का खोल होता है। इसका एक सिरा चमड़े से छाया होता है। चमड़े के ठीक बीच वाले छेद में ताँत का एक छोर बँधा रहता है, दूसरा छोर काठ की छोटी घुण्डी में बँधा रहता है, जो चमड़े से परिवृत्त रहती है। बजाने पर गुप्-गुप् शब्द होने के कारण इसे गोपीयंत्र कहते हैं। अनेक लोग इसे ‘गबगुबागुब’ भी कहते हैं। शौरीन्द्र मोहन ठाकुर ने अपने ‘यंत्र कोष’ ग्रन्थ में कहा है कि ‘आनद्ध लहरी ग्राम यंत्र में गिना जाता है। केवल तीन चीजों से ही आनद्ध लहरी का निर्माण होता है।’ नीचे के मिट्टी या लकड़ी के खोल को एक काँख में दबाकर काठ की घुण्डी से लगे तार को जोर से खींचकर बजाया जाता है। पूर्व बंग में इस यंत्र को ‘खमक’ कहते हैं। आन्ध्रप्रदेश का ‘जामदाइका’, उत्तरप्रदेश का ‘धुन-धुना’ एवं महाराष्ट्र के धारवार जिले का ‘चौधकी’ आदि ग्राम्य यंत्र भी आनद्ध लहरी के सजातीय हैं।

(2) एकतारा - यह यंत्र भी आनद्ध लहरी के सिद्धान्त पर ही बना होता है। असंख्य आउल-बाउल संन्यासी, बैरागी एवं भिक्षुकगण अपने भक्तिमूलक देहतत्त्व एवं बाउल गान के साथ व्यवहार करते हैं। इसके निर्माण एवं आकार-प्रकार में पर्याप्त अन्तर भी है। इसमें भी नीचे की ओर एक अनुनादक होता है। एक गोल लौकी के खोल को एक चौथाई काटकर ध्वनिकोष तैयार किया जाता है। इस खोल के खुले सिरे को चमड़े से छा दिया जाता है। उसी छाजन के ऊपर से ब्रिज लगाकर तानपुरे की तरह ब्रिज से होते हुए तार ले जाया जाता है। खोल के साथ एक पतला

डण्डा बीचोबीच छिद्र करके आर-पार जुड़ा रहता है। इस डण्डे के ऊपरी छोर पर एक खूँटी के साथ तार लगा रहता है। तार का दूसरा सिरा खोल के नीचे हिस्से से सम्बद्ध रहता है। लोहा या पीतल का तार ही व्यवहार किया जाता है। खूँटी की सहायता से तार को खींचकर अपने कण्ठ के अनुसार, वजन के अनुसार स्वर मिलाया जाता है। तार को तर्जनी अँगुली से ही बजाया जाता है। बजाने वाली अँगुली में एक मिजराब लगा होता है। इसमें भी बनावट के आधार पर अनेक विभेद हैं। गोपीयंत्र के प्रसंग में इनके विभेद को देखा जा सकता है। एक तंत्री वाद्य अति प्राचीन है।

(3) **केन्द्री** - बच्चों को खेलने के लिए जो 'मिट्टी का बेहाला' मेले में या फेरी वाले बिक्री करते रहते हैं, ठीक उसी आकार का या बड़े माप के वाद्ययंत्र का नाम केन्द्री है। बाढ़ अंचल के सीमान्त मुण्डा या अन्य आदिवासी सम्प्रदाय में इस वाद्ययंत्र का व्यापक प्रचलन है। इसमें बेहाला के मृणभाण्ड के बदले नारियल का आधा भाग या इसी प्रकार की किसी चीज से ध्वनिकोष तैयार करते हैं। किसी-किसी क्षेत्र में दण्ड के लिए टूटे छोटे का बेंट लगाया जाता है। इसमें दो तार प्रयुक्त होते हैं। झुमुर गान या इसी प्रकार के किसी लोक संगीत के साथ गायक इसी यंत्र को बजाकर गान करते हैं। सेंगी धनुष की तरह झुकी होती है एवं ताँत के द्वारा बना होता है। इसमें धातु का तार प्रयुक्त नहीं होता। यह एकदम ग्राम्य वाद्ययंत्र है।

(4) **दो तारा** - यह एक सुपरिचित लोकवाद्य है। कोषों में इसे 'दो तार का वाद्य विशेष' कहा जाता है - फिर भी इसमें चार तार हैं। उत्तर बंग के लोक संगीत के साथ इसका प्रयोग जरूरी है। उत्तर बंग के भावोइया और दो तारा में समानता होती है। कण्ठ-संगीत के अनुषंगी एवं वाद्ययंत्र के रूप में स्वतंत्र स्वर सृष्टि में दो तारा अद्वितीय होता है। काठ के खोल के ऊपर पतले चमड़े के छाजन से यह यंत्र तैयार किया जाता है। एक सख्त लकड़ी के टुकड़े से यह यंत्र बजाया जाता है।

(5) **दो तारा-राभा** - उत्तर बंग का राभा आदि जातियों में पूर्णतः बाँस से बना दो तारा वाद्ययंत्र है। इसका दोनों तार कभी पशुओं की आँत से या खूब पतले बाँस को छीलकर भी बनाया जाता है। बेहाला की तरह ही बायें कन्धे में दबाकर दायें हाथ से बजाया जाता है। इसका स्वर खूब मृदु और मन्द ताल में होता है। स्थानीय भाषा में इसे गीतां कहते हैं। इस प्रकार के वाद्ययंत्र का प्रयोग दक्षिण-पूर्ण एशिया के विभिन्न अंचल में दिखाई देता है।

(6) **व्याना** - इसे छड़ युक्त (सेंगी सहित दो तारा) कहा जा सकता है। उत्तर बंग के लोक संगीत में विशेष करके 'कुशान' में गीत-गोष्ठी के साथ इस वाद्ययंत्र का व्यवहार होता है। इसके तार दो या चार हो सकते हैं। इसका स्वर खूब ऊँचा भी नहीं होता और खूब मृदु भी नहीं होता। इसकी सेंगी काफी विशिष्ट रूप में मण्डित होती है।

(7) **गोपीयंत्र** - इसे दाहिने हाथ की तर्जनी से बजाया जाता है। अँगुली में मिजराब का भी प्रायः प्रयोग होता है। यह भी एक ग्राम्य यंत्र है। यह प्राचीन कालीन साधारण लोगों द्वारा प्रयोजन के अनुकूल एकतारा, आनन्द लहरी और लाऊ आदि की तरह बनाया गया। इसका अनुनादक कोष लौकी से निर्मित होता है। यह यंत्र दो-तीन प्रकार का दिखाई देता है। वृन्दावन की गोपियों अथवा राधा आदि के बारे में इस यंत्र से कीर्तन किया जाता है। अतः इसे गोपीयंत्र कहते हैं। एक विशेष प्रकार के गोपीयंत्र का प्रयोग कुष्ठिया या पूर्व बंग के मुसलमान फकीरों द्वारा किया जाता है। इस यंत्र के निर्माण में एक आधे हाथ लम्बे गाँठ वाले पतले बाँस के गाँठदार हिस्से के छः-सात अँगुल को अखण्ड रखकर शेष भाग को चार भाग में चीरकर दो अंश को परित्याग करने पर जो दो अंश बचता है, उसके अन्तिम छोर में आनन्द लहरी की खोल की तरह, तुमड़ी से निर्मित खोल में जोड़ दिया जाता है। उससे लोहे के तार को जोड़कर उसके अन्तिम छोर को बाँस के अतिकृत भाग से बाँधकर एक खूँटी से सम्बद्ध कर दिया जाता है। यंत्रदण्ड बीच में तर्जनी के अलावा अन्य अँगुलियों से पकड़कर तर्जनी से तार पर आघात किया जाता है। चारों अँगुलियों के आकुंचन-प्रसारण से इसके स्वर की नीचता और उच्चता लायी जाती है। बाउल आदि इस यंत्र को बजाते हैं।

(8) **खमक** - यह मूलतः आनन्द लहरी ही है। अधिकांश संगीतज्ञ यही मानते हैं।

(9) **सारिन्दा** : सारन्द ग्राम्य वाद्य-विशेष कहा गया है। कभी-कभी यह सभा में भी प्रयुक्त होता है। इसका सारा स्वरूप ही काठ से निर्मित होता है। इसका ध्वनिकोष कुछ काठ और चमड़े से ढका होता है। इस यंत्र में घोड़े की पूँछ के तीन तार (वर्तमान स्टील के तार) तीन कीलों से बँधे होते हैं, जो सा-सा-प तीन स्वरों में बँधे होते हैं। सारंगी इसी का विकसित रूप है या सारंगी का ही यह अधःपतित रूप है - कुछ नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः सारिन्दा ही मूल यंत्र है। सारिन्दा-सारन्दा नाम का ही

परिवर्तित रूप है। पश्चिम बंगाल में विभिन्न स्थानों पर नाना आकार का सारिन्दा पाया जाता है। उत्तर बंग में इसका ज्यादा प्रयोग होता है। उत्तर बंग के ब्याना के साथ भी इसका दूरतर सम्बन्ध देखा जा सकता है। इसकी सेंगी ब्याना की सेंगी से थोड़ी लम्बी होती है।

(10) **कपिलास** – बंगाल में प्राचीनकाल में वीणा जातीय कपिलास नाम का वाद्ययंत्र खूब प्रिय था। इसका नाम कपिलासिका, कैलास या आद्यवीणा भी था। फिर भी यह लौकिक वाद्य था। बाँस से निर्मित तीन-साढ़े तीन फीट लम्बे वादन दण्ड के नीचे एक तुमड़ी रहती। ऊपर की ओर एक या दो तुमड़ी लगी रहती। इसमें एक तार ही लगा रहता। ग्राम्य संगीत के साथ संगति में या प्रेम-संगीत के साथ ही वाद्ययंत्र के रूप में व्यवहृत होता।

(11) **पिनाक** – लोक में प्रचलित है कि वाद्ययंत्र के रूप में यह शिव के हाथ में रहता था। अतः इसे पिनाक पाणि कहा जाता। यह धनुषाकार प्राचीन वाद्ययंत्र है। कहा जाता है कि वीणा तंत्री यंत्र का विकास इसी यंत्र से हुआ है। एक प्रत्यास्थ छड़ी को अवनत करके उसके दोनों सिरों को एक ताँत से बाँध दिया जाता है। मान्यता है कि शिव युद्ध में भी इसका प्रयोग करते थे। आज यह लुप्त है। इसकी कोई प्रतिकृति नहीं मिलती।

(12) **टुनटुने** – इसे अनेक लोग दो तारा ही कहते हैं, क्योंकि इसमें भी दो तार ही होते हैं। दो तार होने पर भी इसमें काफी अन्तर भी है। 'तन्तुना' शब्द से ही टुनटुना, टुनटुना आदि शब्द निकले हैं। इसकी खोल लौकी के बदले काठ की होती है। इसमें दो कान रहते हैं, और एक ही स्वर में दो तार दो कानों में बाँधे रहते हैं। महाराष्ट्र में इसे टुनटुने कहा जाता है। मद्रास में इसे ठन्ठना कहा जाता है। प्रायः सब जगह भिक्षुक इसे बजाकर भिक्षा याचन करते हैं।

(ख) 'सुषिर' (वायुरन्ध्र) श्रेणी के लोक वाद्य

छिद्रयुक्त वाद्ययंत्र को 'सुषिर' या 'सुषिर' कहा जाता है। अमरकोष में कहा गया है कि 'शुषिं विवरं विलं' या 'गर्ताहवटौ भूवि श्वभ्रे सरन्ध्रे शुषिं त्रिषु'। इसे फुत्कार या श्वास वायु से बजाया जाता है। इनमें अनेक काफी प्राचीन एवं लोकवाद्य के अन्तर्गत आते हैं। संगीत रत्नाकर में इनका उल्लेख इस प्रकार है- 'वंश पावः पाविका च मुरली मधुकर्पाप। काहलातण्डुकिन्यौ च चुक्का शृंगमतः परम।' इस प्रकार के काहल जातीय सुषिर वाद्ययंत्र का प्रयोग पारसी देशों में भी है।

(1) **आड़वाँशी या मुरली** – आकार-प्रकार की भिन्नता के होने पर भी पूरे भारत में मुरली सुपरिचित है। लोक एवं ध्रुवपदी दोनों में मुरली का प्रयोग होता है। बंगाल के आदिवासी इस वंशी को बजाने में काफी पटु हैं। यंत्र कोष में कहा गया है कि यह नलाकार, वर्तुल और सरल होता है। इसकी लम्बाई भी नाना प्रकार की होती है। लेकिन सब जगह एक हाथ की ही पायी जाती है। अन्तिम छोर के तीन अँगुल नीचे एक छेद होता है, इसे फुत्कार रन्ध्र कहते हैं। इस रन्ध्र से लगभग चार अँगुल नीचे छः छिद्र होते हैं। इनका साधारण नाम ताररन्ध्र होता है। पहले दोनों ओर बन्धन रहता था, किन्तु अब इसका इतना प्रयोग नहीं है। दोनों हाथ के अँगूठे के बीच यह पकड़ी जाती है। तर्जनी, मध्यमा एवं अनामिका से मुरली के तीनों छिद्रों का सम्पर्क होता है। दाहिने हाथ की तीन अँगुलियों से अन्य तीन छिद्रों को स्पर्श किया जाता है।

(2) **सरल वाँशी** – वंशी जातीय यंत्र में यह अन्यतम परिचित वाद्य है। देखने में आड़वाँशी की तरह ही होती है। इसको सीधे पकड़कर बजाना होता है। आड़वाँशी से ज्यादा मधुर ध्वनि इससे उत्पन्न होती है। मुरली की तरह इसमें भी सात रन्ध्र होते हैं, लेकिन फुत्कार रन्ध्र में फुत्कार नहीं दिया जाता। इसका शिरोप्रदेश मुक्त रहता है। उसमें फुत्कार देने से तार रन्ध्र से वायु निसृत होती है। सभी अँगुलियों के निक्षेप से वादन क्रिया सम्पन्न होती है। बजाने में सुविधाजनक होने के कारण मेले में छोटे-छोटे बच्चे इसे ज्यादा खरीदते हैं। इसे फारसी भाषा में 'आलगोजा' एवं अंग्रेजी में Flageolet कहते हैं।

(3) **लयवाँशी** – यह बाँस से ही निर्मित होती है। स्वरूप में मुरली या सरल वाँशी की तरह ही होती है। आदिवासीगण लम्बी लय वंशी का ही प्रयोग करना पसन्द करते हैं। इसके दोनों सिरों अनाबद्ध रहते हैं। इसे लोग सरल रूप में पकड़कर भी बजाते हैं, किन्तु विशेषतः इसे मुख के एक कोने में वक्र रूप में रखा जाता है। सरलवंशी की तरह इसमें वायु निर्गमन रन्ध्र नहीं रहता। अन्य सारे विषयों में सरल वंशी की तरह होती है।

(4) **मुखा वाँशी** – विषहरा, कुशान आदि उत्तर बंग के प्रधान ग्राम्य गीतिनाट्य में यही वाद्ययंत्र बजाया जाता है। इसका शब्द उच्च और गम्भीर होता है। सरलवंशी की तरह सीधे पकड़कर बजाया जाता है। बाँस निर्मित इस यंत्र को बजाने में कौशल का प्रयोग करना पड़ता है। मुख के पास बाँस से निर्मित ग्रन्थि रहती है। दोनों ओर खुला रहता है। नीचे और मुख सिरों पर तथा मध्य में

पीतल भी जड़ा होता है।

(5) **कलम वाँशी** – इसकी आकृति लिखने वाली कलम की तरह होती है। यह यंत्र पश्चिम एशिया में इसी नाम से जाना जाता है। इसका एक मुख कलम की तरह काटा एवं दूसरा सिरा बाँसुरी की तरह ही होता है। इसका आकार खूब लम्बा नहीं होता। इसके तार रन्ध्रों की संख्या सात ही होती है। सरल रूप से बजाई जाती है। माथे की ओर से फुत्कार देकर बजाया जाता है और शहनाई की तरह एक छोटा नल लगा होता है। विशेषज्ञ मानते हैं कि ग्रीस देश के Calamus वंशी के अनुकरण से यह वाद्य बना है।

(6) **शहनाई** – यह शायद रौशनचौकी का बिगड़ा हुआ ग्राम्य रूप है। यह अत्यन्त प्रिय एवं सर्व परिचित वाद्ययंत्र है। सभी शुभ कार्य में इसका प्रयोग होता है। यह फारसी शब्द 'शाह+नाई' से आया है। शाह का अर्थ 'बड़', नाई का अर्थ 'नली' होता है, अर्थात् जिसकी नली बड़ी हो। यह मुसलमान शासन के समय आया और भारतीय जीवन को नाना मांगलिक कार्यों में सम्मूक्त हो गया। यह 'आगन्तुक' श्रेणी का वाद्य है।

(7) **वेणु** – प्रायः वेणु को बाँसुरी के रूप में माना जाता है। 'यंत्रकोष' में इसे मिस्र के वाद्य 'ने' की तरह माना जाता है। यह उस देश के फकीरों द्वारा व्यवहृत होता है। यह यंत्र मुख की ओर पतला और टेढ़ा होता है। दूसरी ओर अपेक्षाकृत चौड़ा होता है। मुख की ओर छांकर फुत्कार करने से बजाया जा सकता है।

(8) **शिंगा** – यह गाय या भैंस की सींग से निर्मित वाद्ययंत्र होता है। महादेव के ध्यानरत अवस्था में रहते समय डमरू, त्रिशूल के साथ शिंगा भी रखा रहता है। सींग से बना यह यंत्र बाद में धातु में परिवर्तित हो गया। प्राचीन काल में युद्धकालीन घोषणा हेतु इस वाद्ययंत्र का प्रयोग होता था। इस समय भी कुछ-कुछ साधु-संन्यासी सींग से निर्मित वाद्ययंत्र का प्रयोग करते हैं।

(9) **राम शिंगा** – यह एक बड़ा शिंगा होता है, जो पीतल या ताँबे धातु से निर्मित होता है। बाढ़ अंचल में विवाह-यात्रा में ढाक-ढोल के साथ यह यंत्र आज भी उत्साहपूर्वक बजाया जाता है। इस यंत्र का दाम ज्यादा होता है तथा बजाने में काफी दम लगता है, अतः इसका प्रयोग क्रमशः कम होने लगा है।

(10) **तुरी** – यह 'तूर्य' शब्द से उत्पन्न है। इसका प्रयोग कम होने पर भी प्रचलित है। लोक एवं ध्रुवपद दोनों में इसका प्रयोग होता था। शिंगा की तरह यह टेढ़ा नहीं होता। सीधा होता

है। धातु निर्मित होता है तथा राम शिंगा से छोटा होता है।

(11) **मुहरि** – अभिधान में इसका अर्थ – 'वाद्य विशेष', 'बाँसी का जो अंश बजे, वाँसी का मुख' आदि है। यह वंशी जाति का लोकवाद्य है। उत्तर बंग के मुखा बाँशी के साथ इसका विशेष मेल है।

(12) **विषाण** – इसका अर्थ है पशु का सींग। यह भी शिंगा जातीय लोकवाद्य है। यह प्रकृति प्रदत्त एवं स्वाभाविक रूप में ही आदिम फुत्कार वाद्य माना गया है।

(13) **शंख** – सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वप्राचीन मांगलिक एवं रण-वाद्य के रूप में प्रसिद्ध है। इस यंत्र का प्रभाव गम्भीर एवं स्थायी है। आर्य देवी-देव के व्यवहार तथा आचार-अनुष्ठान के प्रसंग में शंख का व्यापक प्रयोग होता है। इसमें अनार्य प्रभाव ही ज्यादा महत्वपूर्ण रहा है। इस प्रकृति-प्रसूत यंत्र को मनुष्य ने सबसे पहले वाद्ययंत्र के रूप में प्रयोग किया। संस्कृत में इसे 'कम्बु' कहा जाता है। महाभारत में विभिन्न शंखों का प्रयोग हुआ है, जैसे- पांचजन्य, देवदत्त, अनन्त-विजय, पौण्ड्र आदि। प्रत्येक रथी-महारथियों का अपना-अपना शंख था। वैसे भी शंख के कई प्रकार हैं, जैसे- गोमुख शंख, गौरी शंख, पंचमुखी शंख, धवल शंख, पाणिशंख आदि प्रसिद्ध हैं।

(14) **तुबड़ी-वाँशी** – यह द्विनल वाद्ययंत्र के अन्तर्गत आता है। यह आज भी प्रचलित है। इस यंत्र के नीचे की ओर सछिद्र दो नल आपस में बराबर जुड़े होते हैं और ऊपरी भाग एक तिल-लौकी के खोल से संयुक्त होता है। इसी खोल को वायुकोष कहते हैं। उसका ऊपरी भाग नलाकार एवं थोड़ा वक्र होता है। उसी नलाकार भाग में एक छिद्र रहता है, उसे फुत्कार यंत्र कहते हैं। इस यंत्र में नौ रन्ध्र होते हैं। यह तुबड़ी कभी-कभी नासिका द्वारा बजायी जाती है, अतः इसे नासा-वंशी भी कहते हैं।

प्राचीन काल में कहीं-कहीं हिरण के चमड़े से भी खोल बनायी जाती थी। यह वंशी काठ रहित सिंगापुरी बाँस से निर्मित होती है। इसमें गाल फुलाकर एक मुख भर वायु से क्रमशः बजाया जाता है। इसमें प्रकार भेद भी हैं। सपेरे इसका प्रयोग करते हैं। हिन्दी में इसे बीन या नागिन बीन कहा जाता है। इसे पुंगी भी कहा जाता है।

(15) **भेंपू (भोंपू)** – यह हिन्दी का भोंपू ही है। यह तुरी की तरह एक प्रकार का बाँसी है। यह काहाल जातीय एक

प्रकार का वंशी है। यह मेले में बिकता है। यह ताड़ पत्ते से बनाया जाता है। इसके मुख पर ताल पत्ता की एक जीभ लगी होती है। कुछ लोग मानते हैं कि इस भोंपू से ही काहाल जातीय सभी वंशी की उत्पत्ति हुई है।

(16) **पाव या पाविका** – एक वंशी जातीय प्राचीन वाद्य है। अँगूठे के बराबर मोटे बाँस की वंशी चौदह अँगुल लम्बी होती है। इसमें आठ से पाँच तक छिद्र रहते हैं। वंशी बाँस के पत्ते से जड़ी होती है। इसके दोनों सिरे मुक्त रहते तथा छिद्र का व्यास कनिष्ठा अँगुली के माप से किया जाता। आजकल यह कम प्रयुक्त होता है।

(17) **भेरी** – कुछ लोग इसे चमड़े से आच्छादित आनन्द श्रेणी का वाद्य मानते हैं। कुछ लोग इसे वायुरन्ध्र श्रेणी का वाद्य मानते हैं। दूरवीक्षण यंत्र की तरह इसमें एक नली में एक और नली खण्ड-खण्ड करके इस प्रकार रखी रहती है कि बजाने के समय एक-एक करके बाहर करना पड़ता है। पहले इसका प्रयोग युद्ध के समय किया जाता था, किन्तु अब नौबत में इसका व्यवहार होता है। सम्भवतः भुरंग या भड़ंग को ही भेरी के रूप में जाना जाता है।

(18) **मोचंग** – यह यंत्र त्रिशूल के अग्रभाग की तरह देखने में लगता है। Jews Harp के साथ इसकी तुलना की जा सकती है। यह विशुद्ध लोहे से निर्मित होता है। यंत्र के मोटे भाग को बायें हाथ की बीच की अँगुली और अँगूठे के बीच दबाकर पकड़ते हैं एवं पतला भाग दाँत के फाँक में दबाकर दाहिने हाथ की तर्जनी से बीच में रखे लोहे की पत्ती से आघातपूर्वक बजाया जाता है। इससे एकतारे की तरह स्वर उत्पन्न होता है। आघात के समय श्वास-प्रश्वास निक्षेप द्वारा दीर्घता और ह्रस्वता लाई जाती है। यंत्र के बीच में स्वर बाँधने के लिए मोम या गूँथे मैदे का प्रयोग किया जाता है।

(ग) घन श्रेणी के लोकवाद्य

अभिधान कोष में कहा गया है कि 'कांस्यतालादि कांस्यनिर्मित वाद्य, करताल काँसी, जयघण्टिका, क्षुद्रघण्टिका, घर्घर, घण्टा, नपुरादि त्रयोदश विध' वाद्य इस श्रेणी में अन्तर्भुक्त हैं। इनके निर्माण में बहुत ज्यादा कलात्मकता एवं निपुणता की आवश्यकता नहीं होती। इसकी स्वभाव स्थूलता के कारण ही इसे लोकवाद्य के अन्तर्गत माना जाता है। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

(1) **करताल** – इसे 'कताल' या खंजनी भी कहा जाता है। हाथ की ताली की तरह काँसे के दो प्लेट बनाकर उसके बीच में छेद कर देते हैं। उसमें रस्सी डालकर सिरे पर कपड़ा आदि बाँधकर हाथ में पकड़कर बजाते हैं। हाथ के तालु के चाप के आधार पर आवाज में उच्चता एवं मृदुता पैदा की जाती है।

(2) **काँस (श) र** : काँसे निर्मित एक विशेष वाद्य है। कुछ लोग इसे अंग्रेजी में gong कहते हैं। वस्तुतः gong को पाकेट घड़ी समझा जाता है। यह अत्यन्त प्रसिद्ध मंगलीय वाद्य है। प्रायः पूजा के समय इसे बजाया जाता है। इस यंत्र के ऊपरी भाग में दो छेद होते हैं। उसमें डोरी डालकर उस डोरी को बायें हाथ से पकड़कर दाहिने हाथ से एक मोटी लकड़ी द्वारा बजाया जाता है। प्राचीनकाल में इसे बजाकर दूर-दूरान्त तक संवाद भेजा जाता है।

(3) **काँसि** – काँसर से छोटा होता है तथा काँसे से ही निर्मित होता है। इसकी आवाज कुछ तीव्र होती है। कवि-गान के समय ढोल के साथ इसका बजना आवश्यक होता है।

(4) **घड़ि (पेटा)** – बारी रहित थाली की तरह काँसे से निर्मित यह वाद्य खूब प्रसिद्ध है। गोलाकार इस यंत्र के सिर पर एक छिद्र होता है, जिसमें रस्सी बाँध दी जाती है। बायें हाथ में लटकाकर दायें हाथ के हथौड़े से आघात किया जाता है।

(5) **घुडुर** – नृत्य ताल के छन्द रचना हेतु यह चरण वाद्य निर्मित होता है। ग्राम्य पांचाली, गायक या नृत्य शिल्पी पाँव में बाँधकर ताल की रक्षा करते हैं। संस्कृत 'घर्घरा' से इसकी व्युत्पत्ति हुई है।

(6) **झाँझ** – इसे झंझा भी कहा जाता है। इसका आकार दो बड़े करताल की तरह होता है। इसे एक प्रकार का करताल वाद्य eymbals कहा जाता है। दोनों हाथों में लेकर बजाने से झमझम आवाज होती है।

(7) **नपुर** – काँसा या पीतल या ताँबे से निर्मित खोखली नली को टेढ़ा करके पाँव के पंजे के चारों ओर बेड़ी की तरह पहनाया जाता है। इसीलिए इसे पाँव का अंगद कहते हैं। यह अत्यन्त प्राचीन यंत्र है।

(8) **मन्दिरा** – काँसे का निर्मित एक प्रकार का छोटा करताल है। यह मधुर ध्वनि युक्त छोटी काँसे की कटोरी का करताल है। यह सभा, वाहिद्वारिक एवं ग्राम्य तीनों श्रेणी में प्रयुक्त

होता है। मणिपुरी नृत्य में मन्दिरा का प्रयोग आवश्यक समझा जाता है। उत्तर बंग के भाओया गान में मन्दिरा भी बजायी जाती है। काली कीर्तन में, यात्रा के जुड़ी गान में, मांगलिक पाल गान में एवं सामूहिक भक्तिमूलक गान में इसका प्रयोग होता है।

(9) **झाँझर** - यह अति प्राचीन घन जातीय यंत्र है। प्राचीनकाल में यह लोहे से निर्मित होता था। इससे इसकी आवाज झनझन होती है। अतः इसे झाँझर कहा जाता है। आज कल यह काँसे से निर्मित होता है। यह बड़े माप का गोलाकार होता है। इसका किनारा उठा और कुछ मुड़ा रहता है। इसकी पीठ कुछ उत्तम होती है और उसके बीचोबीच एक गोल अंश कुब्जा की तरह उठा रहता है। इसे काँसरेर की तरह बजाया जाता है। यह ग्राम्य एवं मांगल्य वाद्ययंत्र है।

(10) **घण्टा** - इसका प्रयोग पूजा-अर्चन में मांगल्य वाद्य के रूप में होता है।

(घ) आनद्ध श्रेणी के लोकवाद्य

अभिधानकार बताते हैं- 'पटह, मर्दल, लुडुक, करट, अधर, रंजा, डमरू, ढक्का, ढुक्करी, त्रिबली, दुदुभि, भेरी, निःश्वान, तुम्बकी, कम्बुज, पणव, कुण्डली, शर्कर, टमकि, मण्ड, भट्ट, डिण्डिम, मृदंग, उपांग और दरी आदि कई आनद्ध वाद्य हैं। सभ्य (सभा में बजाने योग्य), वहिद्वारिक (शोभा यात्रा में बजाने वाले), ग्राम्य, सामरिक एवं मांगल्य ये पाँच प्रकार के आनद्ध वाद्य होते हैं- (1) सभ्य - मृदंग, तबला, ढोलक (2) वहिद्वारिक - ढाक, ढोल, नहवत् नगारा (3) ग्राम्य - मादल, जोड़खाइ, डुगडुगी, डमरू, खंजनी, खोर्दक, लुडुका, घुटक (4) सामरिक - जगछप्प, दामामा, काड़ा, ढक्का, तासा (5) मांगल्य - टिकारा, काड़ा नागरा, डम्फ, खोल।

(1) **काड़ा** - यह एक उल्लेखनीय वाद्य है। प्राचीन काल में युद्धयात्रा में प्रयुक्त होता था। इसका काठ का खोल बारी रहित बटुली की तरह होता है। कमर के पास बाँधकर और गले में एक लटकने से लटकाकर पेट के पास रखकर बजाया जाता है। दोनों हाथ में दो लकड़ी लेकर बजाया जाता है। यह नगारा की तरह होता है। इसे कोई डगर या दगड़ भी कहते हैं। इसके बजाने से कड़-कड़ की आवाज होती है, अतः इसे काड़ा कहते हैं।

(2) **टेमटेमि** - यह टम-टम बजने वाला छोटा वाद्ययंत्र

है। नगारे के साथ यह प्रायः बजता है। कुछ लोग इसे शिशु खेल का वाद्य कहते हैं। हिन्दी में इसे डुग्गी कहते हैं।

(3) **डम्फ** - यह अति प्रसिद्ध बंगाल का प्रिय वाद्य है। आज भी इसका काफी प्रचलन है। मुर्शिदाबाद जिले के किसी-किसी क्षेत्र में डम्फ बजाकर सामूहिक नृत्य किया जाता है। यह यंत्र छिद्रहीन एक बड़ी चलनी की तरह होता है। एक गोलाकार काठ के फ्रेम पर एकदम पतले चमड़े का आच्छादन होता है। हिन्दी में इसे दफला या डफला कहा जाता है। इससे छोटे वाद्य को खंजरि या खंजड़ी कहा जाता है।

(4) **डुगडुगि** - डुग-डुग शब्द से बजने के कारण इसे डुगडुगि कहा जाता है। इसे डमरू भी कहा जाता है। हिन्दी में इसे डुग्गी कहते हैं। सपेरा या मदारी के हाथ में यह देखा जाता है। यह बीच में पतला होता है। बीच में दो डोरियाँ बँधी होती हैं। डोरी के सिरे पर दो गाँठ जैसी रचना होती है। कमर पकड़कर घुमाने से इन घुण्डियों के आघात से डुगडुग आवाज होती है।

(5) **ढाक** - यह भी एक प्रिय वाद्य है। आकार की छोटाई और बड़ाई के आधार पर यह जयढाक और वीर ढाक आदि नाम से जाना जाता है। यह लगभग तीन-साढ़े तीन फीट लम्बा होता है। इसके दोनों मुखों का व्यास प्रायः समान होता है और बारह से चौदह इंच तक होता है। मालदह में गभीरा नाच के समय यह बजता है। वादक एक व्यक्ति के कन्धे पर इसे लटका देता है और दो पतले एवं सख्त लकड़ी से दोनों हाथों द्वारा नीचे की ओर आघात करके ताल-शब्द रचना करता है। ऊपरी मुख अनाहत रहता है।

(6) **ढोल** - अति प्राचीन, प्रिय और प्रसिद्ध यंत्र है। समान व्यास में बकरे के चमड़े से दोनों मुख आच्छादित रहते हैं। एक मुख पर हाथ रखकर दूसरे मुख पर आधे हाथ लम्बे डण्डे से आघात करके बजाया जाता है। कई सूतों की सरल डोरी से दोनों मुख को तानकर बाँध दिया जाता है। इसके बीच-बीच में पीतल की मुँदरी रहती है। इसका पेट साधारणतः मोटा होता है। किसी-किसी ढोल में ऊपर खोल सरल भी होता है। पूजा-उत्सव, कविगान में, छऊ नाच में, नाना प्रकार के लोक संगीत एवं नृत्य के समय ढोल अति आवश्यक है।

(7) **दुन्दुभि** - यह भी अति प्राचीन वाद्ययंत्र है। यह एकमुखी चमड़े से आच्छादित वाद्ययंत्र है। इसका खोल आम या

इसी जाति के किसी सख्त काठ से निर्मित होता है। चमड़े की डोरी से आच्छादित मुख तना रहता है। हरिण की सींग या चमड़े को काठ में लगाकर बजाया जाता है। पहले युद्ध के समय इस वृहत् ढाक को बजाकर सेना में उन्माद पैदा किया जाता था।

(8) **धामसा** – इसे नाकड़ा या नागरा भी कहते हैं। इसके वादक को नागर्चि कहते हैं। पश्चिम सीमान्त बंग में पुरुलिया झाड़ग्राम आदि के आदिवासी इलाके में इस वाद्ययंत्र का काफी प्रचलन है। एक बहुत बड़े गमले पर यदि चमड़े से आच्छादन कर दिया जाये तो वही आकार धामसा का होता है। इसका मुख महिष के चमड़े से आच्छादित रहता है। मृत प्राणी की तंत्री से इस चमड़े को नीचे की ओर तानकर बाँधा जाता है। खोल शीशम की लकड़ी या पतले लोहे के पत्र से निर्मित होता है। प्रायः इसे जमीन पर रखकर एक मोढ़े पर बैठकर एक हाथ लम्बे दो लकड़ी के टुकड़े से बजाया जाता है। छऊ नाच में इसका प्रयोग आवश्यक है।

(9) **विषम ढाकि** – पश्चिम बंग के बाँकुड़ा जिले में प्रायः मनसा मंगल या झाँपान गानों के साथ यह विषम ढाकि बजायी जाती है। यह काफी बड़े आकार की डुगडुगी या डमरू है। बकरी के पेट को सुखाकर छाया जाता है। प्रायः दायें हाथ की तर्जनी और मध्यमा के आघात से बजाया जाता है। बारह-तेरह इंच लम्बे और छः इंच अर्धव्यास के इस ढाकि के दोनों मुख को सोलह सूतों से बाँधकर ताना जाता है। पतले कमर के बीच से ऊपर ही तान वाले सूते होते हैं। एक चौड़ा सूते का बेल्ट बीच में होता है। इस बेल्ट को दबाकर तीन प्रकार के बोल निकाले जाते हैं – चड़ा, खाद एवं गमक। एक घुटने पर रखकर दूसरे घुटने को टेक कर विचित्र भंगी में इसे बजाया जाता है।

(10) **मृदंग** – मिट्टी से निर्मित होने के कारण इसे मृदंग कहा जाता है। यह बंगाल का अतिप्रिय वाद्य है। कीर्तन गान के साथ इसका प्रयोग अनिवार्य है। कीर्तन और मृदंग समानार्थक हैं। आजकल इसकी खोल काठ द्वारा निर्मित होती है। साधारणतः मृत्तिका खोल को श्रीखोल कहा जाता है। इस लम्बे यंत्र के दो मुख पर चमड़ा छाया होता है। बायें हाथ के मुख की परिधि दायें हाथ के मुख की परिधि से चौड़ी होती है। पेट गोल और मोटा होता है। छोटे मुख स्वल्प वृत्ताकार, मोटा तथा बड़े मुख पर काले रंग का पतला गाभ या किरण लगा होता है। यह गाभ लकड़ी के कोयले के चूरे, गलेभात एवं गुड़ से बना होता है। वैष्णव भक्त खड़े होकर या बैठकर इस तालवाद्य को बजाते हैं।

(11) **मादल** – अत्यन्त सरल साधारण वाद्ययंत्र है। इसे संधाल प्रमुख रूप से तथा अन्य आदिवासी बजाते हैं। यह ग्राम्य श्रेणी वाद्य है। यह पखावज श्रेणी का नहीं है और संस्कृत में वर्णित मृदंग भी नहीं है।

(12) **बाँया** – तबला एवं बाँया आजकल भारतीय संगीत-ध्रुवपदी क्या लोक सबमें परिचित वाद्य है। इस तबला और बाँया के जन्म स्थान को लेकर विवाद है। यह युग्म-वाद्ययंत्र पश्चिम एशियाई देश से आया है और अनेक परिवर्तन के साथ हमारे संगीत में घुसा है। बंगला लोक संगीत में तबला या बाँया आगन्तुक वाद्ययंत्र है। यहाँ जिस बाँया का विवेचन करना है, उसे प्रधानतः बाउल ही प्रयोग करते हैं। इसका ध्वनि कोष मिट्टी से निर्मित होता है और तबले के बाँये से काफी छोटा होता है। बाउल बाँये कमर पर कपड़े से सख्ती से बाँध लेते हैं और गोपीयंत्र के साथ लाऊ के स्वर में इससे संगति करते हैं। इसे ही बाँया कहा जाता है।

सन्दर्भ

1. पश्चिम बंगेर लोक वाद्य, श्री सनतकुमार मित्र, पुस्तक विपणि। 127 बेनिया टोला लेन, कोलकत्ता-9, प्रथम प्रकाशन 23 मार्च, 1985
2. यंत्रकोष, शौरीन्द्र मोहन ठाकुर
3. लोक साहित्य, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, ग्रन्थम् विभाग, कोलकाता।
4. बंगाल : लोक संस्कृति और साहित्य, आशुतोष भट्टाचार्य (अनुवाद), नरेन्द्र सिन्हा, नेशनल बुक ट्रस्ट, ऑफ इण्डिया।
5. बांग्लार आंचलिक साहित्य : आशुतोष भट्टाचार्य,
6. बांग्ला लोकसंगीत लोकजगत् ओ लोकमानस, डॉ. चित्तरंजन माइति, सुमन प्रकाशन, अमलेन्दुमण्डल, 160 मसाजिद बाड़ी स्ट्रीट, कोलकाता-6.
7. बांग्ला लोकनाट्य समीक्षा, डॉ. गौरीशंकर भट्टाचार्य, रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय, कोलकत्ता-7
8. बांग्लार लोकनाट्य आलकाप, डॉ. दिलीप घोष, प्रकाशक, ए. साहा, शुधपत्र, 9 ऐण्टन बागान लेन, कोलकत्ता-9

जनजातीय चित्रकला एवं नृत्य

डॉ. आदित्य प्रसाद सिन्हा

झारखण्ड शब्द की सार्थकता इस प्रदेश के सुविस्तृत सघन वनों से आच्छादित होने के कारण स्वतः सिद्ध है। इस शब्द का पहले भौगोलिक महत्त्व था, जो बाद में राजनीति पहचान बन गया। इस प्रदेश की पहचान अनादि काल से विभिन्न आर्ष ग्रन्थों में प्रस्तुत की गई है। ऋग्वेद में भी इसका प्रसंग आया है और इस क्षेत्र के वनों में 'द्रविड़' जातियों के बसने का उल्लेख मिलता है। स्कन्द पुराण के 'नारी खण्ड' में भी झारखण्ड का उल्लेख सघन वनाच्छादित प्रदेश के रूप में मिलता है, जहाँ सफेद हाथी, गैंडा आदि पाये जाते थे। पूर्व में इस क्षेत्र का नाम अर्कखंड, कर्कखंड, कोकरा या खुकरा भी रहा था। मलिक मुहम्मद जायसी के 'पद्मावत' काव्य ग्रन्थ में भी झारखण्ड का उल्लेख राजा रत्नसेन (पद्मावती के प्रेमी) की राजधानी के सन्दर्भ में उल्लिखित है-

दक्खिन दहिने रहे तेलंगा, उत्तर मांझ होय कार कहांगा।

माह रतनपुर सोह दुआरा, झारखण्ड ये बोय पहारा ॥

इसके क्षेत्र विस्तार के सन्दर्भ में फ्रांसिस बुकानन (1813) ने इस भू-खण्ड का विस्तार काशी से लेकर बीरभूम (प. बंगाल) तक माना था। आजादी के 56 वर्षों के बाद झारखण्ड राज्य का गठन नवम्बर 2000 में हुआ और इसकी पहचान एक जनजातीय बहुल राज्य के रूप में हुई। झारखण्ड की धरती विश्व के प्राचीनतम भू-खण्डों में से एक है, जहाँ पाषाण काल से लेकर आधुनिक काल तक की मानव की विकास यात्रा के क्रमबद्ध पुरातात्विक अवशेष पाये गये हैं। सिंहभूम, राजमहल (साहेबगंज), हजारीबाग, पलामू आदि में की गई पुरातात्विक खुदाई में पाषाण काल के अस्त्र-शस्त्र, ताम्रयुग के सिक्के, लौह काल की असुरों की धमन भट्टियों के अवशेष मिले हैं। आदिकाल से झारखण्ड अनुसूचित जनजातियों की विभिन्न प्रजातियों का निवास स्थल रहा है। इनमें प्रोटो ऑस्टोलायड (प्राक् ऑस्ट्रिक) प्रजाति के मुंडा, हो, खड़िया, असुर, बिरहोर, कोरवा, परहिया आदि जनजातियाँ आती हैं, तो द्रविड़ मूल के उरांव, संथाल, माल पहाड़िया, सौरिया पहाड़िया, खरवार आदि जनजातियाँ प्रमुख हैं। इनमें प्रायः अधिकांश जनजातियाँ 1500 से 2000 वर्ष पूर्व में सिन्धु घाटी एवं इसके आस-पास बसी हुई थीं, जहाँ उनकी सभ्यता और संस्कृति काफी विकसित थी। जल प्लावन (जल प्रलय) तथा आर्यों के हमले के बाद उन्हें इस क्षेत्र से पलायन करना पड़ा था। इस क्षेत्र में 'असुरों' की सभ्यता और संस्कृति काफी विकसित थी और वे 'लोह काल' के उन्नायक माने जाते थे। झारखण्ड में भी उनका प्रथम आगमन हुआ था। जहाँ असुर संस्कृति के प्राचीनतम अवशेष और लौह उद्योग की धमन भट्टियाँ, पुरातन अस्त्र-शस्त्र, बर्तन आदि पुरातात्विक अवशेष के रूप में पाये गये हैं।

टांगीनाथ (गुमला जिला) के प्राचीनतम मन्दिर में लोहा (कास्ट आयरन) का खंडित त्रिशूल आज भी विद्यमान है। मुंडा जनजाति के छोटा नागपुर में प्रवेश के बाद उनसे पराजित होकर असुर नेतरहाट के दुर्गम पहाड़ी क्षेत्र में जाकर बस गये। प्रायः झारखण्ड की अधिकांश जनजातियों के प्रजनन का प्रवास काल कैमूर पहाड़ एवं उसकी तराई (सोन नदी की घाटी) में बीता था, जैसा कि इतिहासकारों की पुस्तकों एवं जनजातीय लोक कथाओं, उनके आख्यानों और लोकगीतों में मिलता है।

झारखण्ड में आने के बाद उन्होंने अपनी कला और संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने का कार्य किया। उनकी सामाजिक व्यवस्था सामूहिक एवं पारम्परिक पंचायतों से नियंत्रित होती थी। इस क्षेत्र में सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक संक्रमण काल का इतिहास काफी लम्बा और रक्तंजित रहा है। अंग्रेज शासकों के विरुद्ध 1772 में सर्वप्रथम संधाल परगना में 'पहाड़िया विद्रोह' हुआ था। उसके बाद चरो-खखार विद्रोह (1774), भूमिज विद्रोह (1795), कोल विद्रोह (1831), संधाल विद्रोह (1855) तथा बिरसा आन्दोलन (1899) के अन्तिम चरण के रूप में समाप्त हुआ। इन आन्दोलनों के पीछे उद्देश्य था - 'जल, जमीन, जंगल के साथ-साथ अपनी भाषा और संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखना। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी जल, जंगल, जमीन और संस्कृति की स्वायत्तता एवं संरक्षण के लिए झारखण्ड का जनजातीय समुदाय आज भी संघर्षरत है।

जनजातीय लोक साहित्य और लोक कथा के क्षेत्र में भी झारखण्ड प्रदेश काफी सम्पन्न रहा है। यहाँ प्रागैतिहासिक युग के भी कई अवशेष 'फोसिल' तथा गुफा शैल चित्रों के रूप में मिले हैं। यहाँ की सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक धरोहरों को सुरक्षित रखने और उनके अभिलेखीकरण का कार्य कुछ वर्षों से झारखण्ड सरकार ने प्रारम्भ किया है। साथ-ही, विभिन्न जनजातियों के जीवन से सम्बन्धित उनकी मृण्मूर्तियाँ, उनके वस्त्र, गहने, अस्त्र-शस्त्र, वाद्य-यंत्र आदि संग्रहालय में रखे गये हैं। श्री बुलु इमाम द्वारा 'सांस्कृतिकी' नामक संस्था के माध्यम से हजारीबाग में एक कला दीर्घा का निर्माण किया गया है, जिसमें इस क्षेत्र में पाये गये प्रागैतिहासिक काल के अवशेषों के साथ-साथ जनजातीय चित्र कला की विभिन्न शैलियों के चित्र प्राकृतिक रंगों के माध्यम से कपड़ा, दीवाल, कैनवास आदि पर स्थानीय लोक कलाकारों द्वारा बनाये गये हैं। उन्होंने 'ट्राइबल वीमेन आर्टिस्ट्स कोऑपरेटिव' के माध्यम से महिला कलाकारों द्वारा जनजातीय चित्रकला, वास्तुकला,

खेंदरा कला आदि को प्रस्तुत करने के साथ-साथ उन्हें रोजगार से जोड़कर स्वावलम्बी बनाने का कार्य किया है। उनकी कला दीर्घा में कोहबर चित्रकला के विविध चित्र कैनवास पर बनाये गये हैं। 'सोहराय चित्र' के रूप में जनजातीय समुदाय द्वारा धार्मिक अनुष्ठानों के साथ-साथ उनके सामूहिक नृत्य की भी प्रस्तुति की गई है।

हजारीबाग के पहाड़ी गाँवों - जोड़ाखाट, चपरी, सहेदा, बड़का गाँव, खराती, बारहमनियाँ आदि में, जहाँ कुरमी और गंडू (भोगता) की आबादी अधिक है, वहाँ सोहराई और कोहबर कला के साथ-साथ गुफा चित्रों (शैल चित्रों) की भी बहुलता है। बड़कागाँव में दामोदर नदी घाटी की सती पहाड़ी की गुफाओं में 'सिन्धु घाटी' में पाये गये शैल चित्रों की तरह के शैलचित्रों की खोज श्री इमाम ने की है और उनको कैमरे में कैदकर उनके अभिलेखन का भी कार्य किया है। उनके अनुसार 'भुइया' मोटिफ आज भी हजारीबाग के क्षेत्र में प्रचलित है, और मध्य पाषाण कालीन प्रस्तरकला से हूबहू मिलती है। भुइयां प्रोटो ऑस्ट्रोलायड कोल जनजाति से जुड़े हुए हैं।

'कोहबर चित्रकला' के अन्तर्गत मुख्यतः प्राकृतिक तत्त्वों के विभिन्न प्रतीकों-अग्नि, जल, धरती, वायु के साथ-साथ कमल फूल, आम, खजूर, नारियल, पीपल आदि वृक्षों के चित्र भी दीवारों पर उकेरे जाते हैं।

इसी प्रकार 'सोहराय' के चित्रों में प्रजनन के कई प्रतीक प्रस्तुत किये जाते हैं - जिनमें जीवन-वृक्ष, सांड, पशुपति का घोड़ा आदि प्रमुख हैं। ये चित्र मोहनजोदड़ो की पशुचक्र आकृतियों से मेल खाते हैं।

जहाँ तक शैलचित्रों का प्रश्न है, उनमें अनेक प्रकार के धार्मिक एवं आनुष्ठानिक प्रतीक, सिन्धु घाटी के लिपिचित्र या चित्र लिपि, पर्यावरणीय चित्र आदि बनाये गये हैं। एक अध्ययन के अनुसार संधाल जनजातियों का पलायन जब सिन्धु घाटी से हुआ तो उनकी एक शाखा ने दामोदर घाटी को अपना आश्रय प्रवासकाल के मध्य बनाया। इसी कालावधि में सम्भवतः इन गुफा या शैलचित्रों का निर्माण या अंकन किया गया होगा। संधाल आज भी 'गोढ़ोन' के नाम से इस तरह के चित्र बनाते हैं, जिन्हें धार्मिक अवसरों पर बनाया जाता है। इस तरह के शैलचित्र बराबर नदी के आस-पास भी मिले हैं। परन्तु इन शैलचित्रों के संरक्षण की दिशा में कोई कारगर कार्यवाही नहीं की जा रही है, जिससे इनके विलुप्त होने का खतरा बढ़ गया। ऐसे शैलचित्रों के क्षेत्र में कोयले के उत्खनन

से भी इस दुर्लभ कलाकृति के नष्ट होने की सम्भावना बढ़ गई है।

संथाल जनजाति में 'जादू पटिया या जादू पटवा' नामक चित्रकला का भी प्रचलन काफी पुराना है। इसे 'पट्टचित्र कला' भी कहते हैं। इसे कपड़े पर बनाया जाता है, जिसे 'स्करोल पेंटिंग' भी कहते हैं। इसका प्रसंग पतंजलि के विवरणों तथा बाणभट्ट के 'हर्षचरित' में इसे 'यमपट्टक' कहा गया। संथाल परगना में इसे बनाने वाले 'जदु' कहलाते हैं, जो मुख्यतः बंगाल के निवासी या बंगाल भाषा-भाषी होते हैं। इस चित्रकला का मुख्य विषय यम या जम का साम्राज्य होता है, जो यमराज के नरकलोक के मिथक पर आधारित होता है। इसमें यह दर्शाया जाता है कि मृत्यु के बाद मृतक की आत्मा को यमदूत किस प्रकार यमलोक ले जाते हैं और इसके द्वारा किये गये कार्यों के आधार पर किस प्रकार की सजा देते हैं। 'जदु' इस पट्टचित्र को लेकर संथालों के घर जाकर दिखाते हैं और इससे सम्बन्धित मिथक की कथा सुनाते हैं। उन्हें दक्षिणा के रूप में कुछ राशि या चावल आदि मिलता है।

इसके अतिरिक्त 'जदुपटिया चित्र' का अंकन दीवारों पर भी संथाल चित्रकारों द्वारा किया जाता है। इन चित्रों का आधार उत्पत्ति कथा, बाहा पर्व, शिकार, वैवाहिक अनुष्ठान, अतिथि सत्कार आदि के चित्र होते हैं। वे अपने गोत्र प्रतीक हंस, मोर आदि का भी चित्र बनाते हैं, जो संथाल ईसाई धर्म को अपना लिए हैं, उनके घरों में 'क्रॉस' का चित्र भी देखने को मिलता है।

संथालों द्वारा धार्मिक अनुष्ठान के समय जमीन पर 'अरिपन' के रूप में कई प्रतीक चित्र बनाये जाते हैं। सोहराय या सोहाराय पर्व के अवसर पर गोहाल देवता के साथ-साथ गुपिकोड़ा (चरवाहा) का प्रतीक चित्र बनाकर पूजा की जाती है। विवाह के अवसर पर मड़वा में भी पुजारी द्वारा प्रतीक चित्र बनाये जाते हैं।

प्रतीक चित्रों का प्रचलन बिरहोर आदिम जनजातियों में भी काफी प्रचलित है। वे इन चित्रों को 'खोंड' कहते हैं। उनके प्रतीक विभिन्न देवी-देवताओं के लिए बनाये जाते हैं। उनके प्रतीकों का नामकरण अलग-अलग देवी-देवता एवं प्रेत के आधार पर किया गया है। 'लुगु पहाड़ के लिये तक चड़ही', शादी विवाह के लिये बानासाना, हनुमान बीर का प्रतीक 'त्रिशूल', दुधवा भाई (तीर) आदि का प्रतीक चित्र वे विभिन्न अवसरों पर बनाते हैं और पूजा कर बलि देते हैं। परन्तु जो बिरहोर ईसाई धर्म को अपना लिये हैं, वे अब केवल ईसाई धर्म का प्रतीक 'क्रॉस' अपना लिये हैं और वे अपनी आदिम संस्कृति और लोक परम्परा को छोड़ते जा रहे हैं।

झारखण्ड के लोकजीवन में नृत्यगीत और संगीत की परम्परा

भी आदिकाल से चली आ रही है। उनके सभी पर्व कृषि चक्र से जुड़े हुए हैं और तदानुसार उनके गीत-नृत्य कृषि कार्यों पर आधारित हैं। उनका गीत-नृत्य सामूहिक होता है और 'अखड़ा' उनका खुला रंग मंच होता है। उनके गीतों में प्रकृति वर्णन, व्यंग्य-विनोद, विरह-मिलन, गोवारी (प्रार्थना) आदि मुख्य विषय होते हैं। अन्य जनजातियों के साथ-साथ 'हो' जनजाति (सिंहभूम) अपनी प्राचीन संस्कृति और लोक परम्परा को बनाये हुए है। इसका एक मुख्य कारण है - ईसाई धर्म से दूर रहकर अपने जीववादी या सरना धर्म का कठोरता से पालन करना। उनका मुख्य आवास क्षेत्र 'कोल्हान' के नाम से प्रख्यात है। हो जनजाति मुंडा जनजाति की ही एक शाखा है और उनकी भाषा 'हो' ऑस्ट्रिक भाषा की एक शाखा है। इन अवसरों से सम्बन्धित गीत-नृत्य भी उन पर्वों से जुड़े हुए हैं-

हो गीत के कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं

माधे (दुरड्)

काका सकाम तिंजार बोंजर,
चिकान किली ताना जाम दिंडा नापानुम ॥ कों ॥
किली काम जागार रेदो,
नाया किली तें किली मिसा मेह ॥ कों ॥

ऐ सुन्दरी! तुम कावा (काका) वृक्ष के पत्ते की तरह चिकनी (चिक्कम) और कोमल लग रही हो। ऐ कुँआरी कन्या! बताओ, तुम किस गोत्र की हो? अगर तुम अपना गोत्र नहीं बताओगी तो मैं तुम्हें अपने गोत्र में मिला लूँगा (अथवा तुमसे शादी कर लूँगा)।

कालकत्ता कोयते, सोआन साबोन,
राँची कोयते दिरींग नाकी,
दिकु दिसुम सोहानाह, जोका नूठान मेह ॥ कों ॥
मायां रेदो बांगाली धोती, काठा रेदो सायोब जूता
येना मेनतेह जूड़ी जोका नूसान मेह ॥ कों ॥

प्रेमिका अपने प्रेमी से कहती है- 'तुम कलकत्ता गये थे और वहाँ से सुगन्धित साबुन लाकर बाल धोते हो। तुम राँची शहर से कंघी लाकर केश सँवारते हो। तुम जो साबुन और कंघी का उपयोग करते हो, उससे तुम दिक्कू की तरह लग रहे हो। इसलिए तुम मुझसे दूर ही रहो।'

तुम बंगाली धोती और अंग्रेजी (साहबी) जूता पहनते हो,

इसलिए तुम हमसे दूर ही रहो। इन पंक्तियों में शहरी सभ्यता और संस्कृति के प्रति अश्रद्धा का भाव व्यक्त किया गया है। साथ ही स्वदेशी के प्रति आदर का भाव भी झलकता है।

चिमिन चिमिनेगोम, डांगुड़ा केना,
रातां जोजो लेकाम रेपो, चाबा जाना ॥
गेले बार सिरमागोम, डिंडा केना,
रातां जोजो लेकाम रेपो चाबा जाना ॥

युवक एक क्षीणकाय युवती से पूछता है- 'बताओ तुम कितने वर्षों से कुँआरी हो कि इमली के सूखे फल की तरह पतली और सूखी लगती हो, जवान होने के बाद तुम 12 वर्षों से कुँआरी हो और कोरकोटा के पत्ते की तरह मुरझा कर सूख गई हो। लगता है कि तुम 20 वर्षों से कुँआरी हो, इसलिए पके इमली के सूखे फल की तरह सूख गई हो।'

सारजोम दिशुमेरे दादा, नालो रेम गोंहीहा दादा।
माधुकाम दिसूमेरे दादा, नालोरेम, चालीहा दादा।
सार जोम दिशूम दोया दादा।
सिंगी लाया, लाया दादा।
माधुकाम दिशूम दोया दादा।
निदा रावां रूवूहा दादा।

बहन अपने भाई से कहती है- 'हे भाई! तुम मेरी शादी सालवृक्षों वाले क्षेत्र में या महुआ के वृक्षों वाले क्षेत्र में नहीं करना। सालवृक्ष वाले क्षेत्र में दिन भर साल या सखुआ का फल चुनना पड़ता है। महुआ वाले क्षेत्र में शादी होने पर रात में जगकर महुआ की रखवाली करना और महुआ चुनना पड़ता है।'

विवाह गीत

सिम जिलू ताना ची रून्डा, मेरोम जिलू ताना ची रून्डा।
गान्दूरेम टो टो ताना रून्डा, दीरि रेय टे टे ताना रून्डा।

बारात वाले सराती (कन्या पक्ष) से पूछ रहे हैं कि तुम लोग मुर्गे का मांस खिलाओगे या बकरे का। तुम लोग पीढ़े पर रखकर जो मुर्गा मार रहे हो, वह क्या बूढ़ा मुर्गा है? तुम लोग पत्थर पर रखकर जो बकरा काट रहे हो, वह क्या बूढ़ा बकरा है? क्योंकि दोनों को काटते समय बहुत आवाज आ रही है।

दाना बालानेरा नाजी नानर डीहं
दाना बानानेरा जगादाआ डीहं,

नाजी नानर डीह कामनेमेरे
जगादाआ डीह कामनेमेरे।
मालची रेहोले मालची मीसाईहा
बुलु रेहोले बुलुं मिसाई,
पाकड़ मान्डीले चाहाकातीह।

बारात में आये युवक कन्या (वधू) के घरवालों से कहते हैं - 'बड़ी बहन के नाम से जो डियडू (हंडिया) बना है, उसे तो हम लोगों को दे दें। साथ ही आपके उपजाऊ खेत के चावल से जो डियडू बना है, उसे भी हम लोगों को दे दें।

अगर आप लोग उन दोनों प्रकार के डियडू को नहीं दे सकते हैं तो लड़की (वधू) की छोटी बहन को ही दे दीजिए, जिसे ले जाकर नमक-मिर्चा लगाकर चखेंगे। (इस गीत में शादी में प्रचलित व्यंग्य-विनोद की पुट मिलती है।)

नामची वारें पासेलेडा पासे पासे।
बुड़ी दिदी नाटा लेना नाटा नाटा,
बुड़ी दिली पासे लेना पासे पासे।

बहन अपने भाई से कहती है- 'हे दादा (भैया)! तुम जंगल में झरने के पास और खेत में भरे पानी के पास लस्सा (लाठा) लगाकर सुन्दर चिड़िया फँसाने के लिए जो लाठी या बाँस रखे थे, और जाल भी लगाये थे, उनमें एक बूढ़ा गीध फंस गया है।'

नीरा रेयाना रेकेड़े कुदा नाटिया रेयाना पान्डु साराजोम
नोयो लेरे नापी लेरे गासारा तुम गेतेना माई रे।

एक मित्र या सखी दूसरे से कहती है- 'रास्ते के किनारे एक सूखा और मरियल जामुन का पेड़ है। साथ ही, वैसा ही मरियल एक सखुआ का भी पेड़ है। दोनों हवा के एक झोंके से गिर जायेंगे। अर्थात् तुम अपने जीवन साथी का चुनाव सोच-समझ कर करना।'

हेरो गीत

'हेरो दूरंग' या हेरो पर्व धान बुवाई के अवसर पर गाने वाला गीत है। इस गीत में 'हो' धर्म और संस्कृति की रक्षा का सन्देश दिया गया है। गीत के कुछ अंश अवलोकनीय हैं-

छोटानागपुर मुण्डा दिशुम,
सोना-चाँदी ते पेरेयकना।

निमिन बुगिन दिशूम ताबु बियुरेनतान ।
 राजताबु राम-राज, नुतुमजाना भारतवर्ष,
 निमिन बुगिन दिशूम रेबु सेनेजा इनुंगतान ।
 चेतान पायते नोयो टोडा
 लतार पायते गामा लेडा,
 नाबु धरम दिशूम नोयोर नातुतान ।
 बालेय सिंगी तुरेयना,
 पुनाई चान्डु मुलुयाना
 हायरे तांज आदिवासीय गिनी गोयाकाना ।
 मरबु उटाना हागाञ्ज, मरबु उटाना मिसिंग
 अबु धोरोम दिशुमाबु तेलां रूड़ाया ।

अर्थात् छोटा नागपुर की यह धरती सोना-चाँदी से भरी हुई है, जहाँ मुंडा का राज्य है। हम लोगों का यह प्रदेश अत्यन्त रमणीक और सुन्दर है, जहाँ हम विचरण कर रहे हैं। यह क्षेत्र उसी भारत वर्ष में है, जहाँ रामराज्य की कल्पना की जाती है अथवा जहाँ कभी 'राम राज' था। परन्तु यहाँ ऐसी हवा और वर्षा हुई कि हमारा अपना धर्म बहा जा रहा है। अथवा विधर्मी विचार और उसके प्रचार से हमारा आदि धर्म नष्ट हो गया है।

देखो, अब प्रभातकाल का सूर्य उदित हो चुका है और रात्रि के आकाश में पूर्णिमा का चाँद डूब चुका है। परन्तु प्रकृति के इस

सुन्दर परिवर्तन और आमंत्रण के अवसर पर भी तुम सोये हुए हो। अब तुम जाग जाओ। ऐ मेरे भाई-बहन! हम लोगों का देश और अपना धर्म बहा जा रहा है अथवा नष्ट होते जा रहे हैं, आओ उसकी रक्षा करें। इन गीतों का प्रचलन आदिकाल से चला आ रहा है और वर्तमान में भी इनकी मौलिकता बनी हुई है।

मुख्य जनजातीय नृत्य

पड़का- यह पुरुष प्रधान 'मार्शल' या युद्ध नृत्य है, जिसमें ढाल-तलवार का भी प्रयोग किया जाता है।

लुझरी- यह नृत्य झूमर गीत पर पुरुष और औरत दोनों के समूह द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

माठा एवं सोहराय- यह सोहराई के अवसर का नृत्य है।

जदुरा- यह प्रायः 'जतरा' मेला के अवसर पर प्रस्तुत किया जाता है।

जरगा- यह माघ लोहार का नृत्य है।

हरियो- यह खड़िया जनजाति के युवा वर्ग का नृत्य है।

फगु खद्दी- यह सरहुल पर्व के अवसर का नृत्य है।

करम- यह करम पर्व के अवसर का नृत्य है, जो माघ में करम पर्व के अवसर पर प्रस्तुत किया जाता है।

अब इन सभी गीत-नृत्य पर आधुनिकता एवं बाजारवाद का असर देखा जाता है। इसका दुष्प्रभाव जनजातीय लोक संस्कृति पर पड़ रहा है।

महाराष्ट्र की चित्रकथी

डॉ. कहानी भानावत

भारतीय लोकजीवन में चित्रकला के कई रूप प्रचलित हैं। उन रूपों में कुछ तो कोरे चित्र ही से सम्बन्धित हैं, जबकि कुछ रूप ऐसे हैं जिनके साथ विशेष वाचन, कथन तथा गाथा गायिकी के रूप विद्यमान हैं। पड़ का रूप गाथा-गायिकी लिये है, तो कावड़ का स्वरूप वाचन तथा चित्र-कथन को ही प्रधानता दिये है। चित्रकथी भी कावड़ की ही तरह का एक विशिष्ट रूप है, जो किसी समय महाराष्ट्र के आदिवासी समाज में ख्यात रहा। अब इसका वह रूप लोक प्रचलन में प्रभावी रूप में नहीं रहा, किन्तु एकाध कलाकार परिवार इसे संरक्षित किये हुए हैं।

चित्रकथी कला चित्रों के माध्यम से कथा-कथन का एक विशिष्ट प्रकार है, जिसे पींगुली के परशुराम गंगावणे संरक्षित किये हुए है। परशुराम के पुत्र एकनाथ ने बताया कि इनके पूर्वजों ने यह कला अन्य उत्तराधिकारियों को बताना मुनासिब नहीं समझा। ऐसी स्थिति अन्य प्रान्तों के कलाकारों एवं कलाविधाओं के साथ भी हुई। राजस्थान के प्रतापगढ़ में थेवा कला की भी यही स्थिति रही। जिस कलाकार के पास जो कला बची रही, उसने किसी अन्य को इसलिए नहीं सिखाया कि उसका महत्त्व कम हो जायेगा और स्वयं का व्यवसाय ठण्डा पड़ जायेगा। ऐसी स्थिति में पारम्परिक कलाओं का जो विकास पीढ़ी-दर-पीढ़ी होना चाहिए, वह नहीं हो सका। अपनी कला को छिपाये रखना, किसी अन्य को नहीं बताना, कोई दूसरा कलाकार तैयार नहीं करना, जैसी भावना से कई कलाकार अपने साथ ही उस कला-विधा को समाप्ति के कगार पर ले गये।

चित्रकथी का भी यही हश्र हुआ, इसलिए वर्षों तक यह कला कागज में ही दफन रही। एकनाथ ने बताया कि ऐसे कई पुराने कागजी चित्र उसके पिता के पास सँभाले हुए हैं, किन्तु उनका कागज जीर्ण-शीर्ण हो गया है और रंग भी धूमिल हो गये हैं। ऐसी स्थिति में यह भावना प्रबल हुई कि किसी तरह इन चित्रों की सुरक्षा करनी चाहिए। अतः उन्होंने उस चित्र शैली में नये चित्र बनाना प्रारम्भ किया और इस कला को न केवल संरक्षण दिया अपितु बड़े उत्साह और जोश के साथ पुनर्जीवन दिया।

चित्रकार परशुराम अकेले ऐसे कलाकार हैं, जो इस पूरे आदिवासी ठाक जमात की इस पारम्परिक धरोहर के सिद्ध कलाकार के रूप में चर्चित हैं। देश की कुछ सांस्कृतिक संस्थाओं ने इस चित्रकला को संरक्षित करने एवं पुनर्जीवन देने के उद्देश्य से गुरु-शिष्य परम्परा प्रारम्भ की है। इसी क्रम परशुराम ने गुरु का दायित्व ग्रहण करते हुए अपने यहाँ कुछ बाल शिष्यों को इस कला में शिक्षण-प्रशिक्षण देना प्रारम्भ किया है।

एकनाथ ने रामायण से सम्बन्धित एक प्रभावी चित्र दिखाया, जो राम दरबार, कैकेयी तथा सीता एवं रावण से सम्बन्धित था। इस चित्र का विश्लेषण करते हुए एकनाथ ने जो संक्षिप्त कथा बताई, वह इस प्रकार थी- भगवान राम, सीता व लक्ष्मण के साथ वनवास पूरा करके अयोध्या लौटते हैं। तब कैकेयी के मस्तिष्क में एक नई योजना का सूत्रपात होता है। वह सोचती है कि अब भरत की जगह राम राजा बनेंगे। कैकेयी सीता के पास जाती है और उनसे पूछती है कि रावण दिखने में कैसा था? सीता ने उत्तर दिया कि मैंने तो रावण को देखा नहीं, केवल उसका अँगूठा नीचे गिरता नजर आया। इस पर कैकेयी ने दीवाल पर सीता से वह अँगूठा बनाने के लिये कहा। सीता ने केवल अँगूठा बना दिया, किन्तु कैकेयी ने ईर्ष्या एवं छल से उस चित्र में पूरे रावण का अंकन कर सीता के चरित्र को पतित एवं लांछनयुक्त बनाने का दुष्कृत्य किया।

यही नहीं, आग में घी डालने का कार्य करने के प्रयास से कैकेयी तत्काल राम के दरबार पहुँची और बोली- आप तो यहाँ दरबार में बैठे हैं, किन्तु उधर सीता ने दीवाल पर रावण का चित्र बनाया है, जिससे लगता है कि अभी भी रावण उसके दिल में बसा हुआ है। यह सुन राम भरे दरबार से उठकर कैकेयी के साथ चल पड़े।

एकनाथ का निवास महाराष्ट्र के सींद दुर्ग जिले का पींगुली, ताल-कुदाल गाँव है। यहाँ की स्थानीय भाषा ठाकरी है, जो मराठी भाषा से अलग है। ये आदिवासी लोग हैं और इन्हीं को ठाक जमात (घराना) कहते हैं। वर्तमान में ठाक जमात के लगभग 100-150 घर हैं। इनकी जमात में गंगावणे, सिंगनाथ, आटक, गरुड़ और महसगे आदि प्रमुख हैं।

चित्रकथी से तात्पर्य कथात्मक चित्र से हैं। जिन चित्रों का अंकन किया जाता है, वे प्रतीकात्मक रूप में अपने साथ पारम्परिक कथा, किस्सा अथवा कोई महत्वपूर्ण घटना लिये होते हैं। यह चित्र परम्परा लगभग 500 वर्ष पुरानी है। पहले ये चित्र ताड़ पत्र पर बनते थे। उसके बाद हाथ से बने कागज पर इनका सृजन होने लगा। चित्रकथी को 'दाईती' भी कहते हैं। चित्रकथी में रामायण व महाभारत से जुड़े वृत्तान्तों का समावेश मिलता है। जैसे- राम का दरबार, राम-सीता विवाह, सीता स्वयंवर, बाल-खण्ड, पाताल-खण्ड, वत्सलाहरण, इन्द्रजीत वध, वनवास, जंगल व प्रकृति आदि के चित्र प्रमुखता लिये होते हैं।

दर्शकों को बताते समय ये चित्र पलटकर दिखाये जाते हैं।

ये चित्र कई होते हैं, जिन्हें 'पोथी' कहते हैं। इनके साथ उन चित्रों का भाव एवं अर्थ वाचन भी करते, जिसे 'पोथी बांचना' कहा जाता है। इस चित्रपोथी को 12" X 18" आकार के कपड़े में सुरक्षित बाँधकर रखते और चलते समय कन्धे पर लटका देते। जब कहीं स्थिरवास करते, तब इसे जमीन पर नहीं रखकर दीवाल के सहारे खूँटी पर लटका देते, ताकि इसकी पवित्रता बनी रहे।

एक चित्र के पीछे दूसरा चित्र चिपका दिया जाता। दोनों चित्रों का वह पृष्ठभाग चिपका हुआ रहता है, जिस पर चित्रकारी नहीं की होती है। इस चित्र-विधा का प्रदर्शन पूर्व में किसी मूर्ति के समक्ष ही किया जाता था, इसीलिए मन्दिर से जुड़े उत्सव पर इनके प्रदर्शन बड़ी सरलतापूर्वक किये जाते थे, जहाँ प्रतिमा के साथ-साथ भक्तों की आवाजाही भी बनी रहती थी। ये प्रदर्शन प्रायः रात्रि के होते थे, जो देर तक चलते थे। इनके प्रदर्शनकर्ता ठाकर आदिवासी ही होते थे, जो चित्र भी बनाते और प्रदर्शन भी देते। प्रदर्शन के समय एक सूत्रधार एवं तीन अन्य सहायक व्यक्ति होते थे। सूत्रधार का कार्य प्रमुखता लिये रहता था, जो तीन तार वाली वीणा बजाता, वाचन करता, गेय बोल गाता तथा चित्र दिखाता।

इनमें से एक हुडूक (डमरू) एवं दूसरा मीणा (वाद्य विशेष) बजाता, जबकि तीसरा ताल देने का काम करता। प्रदर्शन के समय धोती एवं कुरता इनका मुख्य पहनावा रहता। सिर पर सफेद रंग का फेंटा बाँधा रहता। अब फेंटे की जगह सफेद टोपी ने ले ली है।

प्रदर्शनोपरान्त ये प्रत्येक घर जाते और चित्र बताते। गृहिणियों उस चित्र को नमन करती हुई इन्हें अनाज, कोकम, चावल, नारियल तथा साबत मिर्ची देती। वर्ष में वर्षा ऋतु के चार महीने छोड़कर शेष आठ महीने ये अपने यजमानों के गाँव में भ्रमणशील रहते। इस दौरान जो कुछ अर्जित होता, वही उनकी आजीविका का साधन बनता। इनका भ्रमण क्षेत्र गोवा से हुबड़ी - धारवाड़ अर्थात् कर्नाटक सीमा तक रहता। पोथी वाचन का यह काम आज भी एकनाथ के परिजन कर रहे हैं।

कागज पर अंकित की जाने वाली चित्रकथी का आधार पीला रंग लिये होता है। यह रंग शुचिता एवं पवित्रता का सूचक है। राजस्थान, मध्यप्रदेश आदि प्रान्तों के आदिवासियों के चित्रांकन में भी यह रंग बखूबी प्रयुक्त होता है। इसे हल्दी रंग कहते हैं, जो हल्दी से बनाया जाता है। इनके चित्रों में कहीं भी रंगों का मिश्रण

नहीं मिलता है। अधिकतर गाढ़े रंगों का प्रयोग होता है। इन रंगों में लाल, नीला, काला, हरा, पीला रंग मुख्य है। चित्रों में आकृतियों की रेखाओं का वैविध्य नहीं पाकर सपाट एवं सहज रूप प्रदर्शित होता है। स्त्री आकारों के चित्रों में साड़ी बंधन का तरीका महाराष्ट्रीयन महिला के अनुरूप होता है। साड़ी के किनार में रंग से मेल खाती हल्की-फुल्की भाँत भी रहती है।

उल्लेखनीय पक्ष यह है कि जो भी चित्र बनाया जाता है, उसका सीमांकन (बाउण्ड्री) काले रंग से किया जाता है। अन्य कोई भी रंग वर्जित रहता है। चित्रकथी केवल चित्रांकन ही नहीं, अपितु एक विशिष्ट पद्धति याकि शैली है, जिसे चित्रकथी शैली कहना उचित होगा। इस शैली में प्रत्येक चित्र के ऊपर व नीचे हाशिया अवश्य चित्रित किया जाता है। हाशिया उस चित्र के रूप को निखारने और उसे भव्यता प्रदान करने में बड़ा सहायक होता है। इसे विभिन्न फूलों, पत्तियों एवं बेलों से सजाया जाता है। विभिन्न तरह की आड़ी, तिरछी, सीधी, खड़ी, पड़ी तथा एक-दूसरे को काटती हुई रेखाएँ भी हाशिये को चार चाँद देती हैं।

बदले हुए परिवेश में अब इन चित्रों की निर्माण पद्धति में भी बदलाव आया है। अब पत्थर और वनस्पति के रंग प्रयोग में नहीं लाकर बाजार के बने-बनाये रंग और ब्रश काम में लिये जाते

हैं। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि चित्रों की विषय-वस्तु तथा उनकी निर्माण शैली में अभी कोई बदलाव नहीं आया है। चित्रकार आज भी अपनी पारम्परिक, पूर्वजों द्वारा चली आ रही शैली से आस्थामूलक बँधे हुए हैं और उसी में अपना सुख-मंगल समझते हैं।

एकनाथ के पिताश्री परशुराम विश्राम गंगावणे ने भोपाल, दिल्ली, पंजाब, हरियाणा, चैन्नई, बँगलूर, बैलारी (कर्नाटक) एवं दक्षिण महाराष्ट्र में चित्रकथी का प्रभावी प्रस्तुतीकरण दिया है।

मन्दिर-संस्कृति से जुड़े कुदाल गाँव के केलबाई तथा लक्ष्मी मन्दिर एवं साल गाँव के भैरों मन्दिर में पोथीचित्र का प्रदर्शन आज भी नियमित रूप से होता आ रहा है।

परशुराम को यह उम्मीद बँधी है कि उनके परिवार में बरसों से चली आ रही इस चित्रकला-परम्परा की सुध ली गई और अब इसे अनाम होने से बचाया जा सकेगा। इस दृष्टि से वे पूर्णतः आशावादी बने हुए हैं। एकनाथ के मन में भी यह दृढ़ धारणा बनी है कि वह अपनी उच्च स्तरीय पढ़ाई पूरी कर अपने पिता एवं पितामहों की तरह इस कला को नये-नये आयाम एवं क्षितिज देकर इसे जगजाहिर करने में कोई कसर नहीं रखेगा।

किशनगढ़ के लघुचित्रों में रामायण

डॉ. नीरू

राजस्थान अपनी वीरता और शौर्य के लिये सदैव से ही प्रसिद्ध रहा है, साथ ही अपने कलापूर्ण जीवन में भी विशेष ख्याति को प्राप्त है। चित्रकला के क्षेत्र में यह प्रान्त किसी से पीछे नहीं है। यहाँ के अधिकतर राजाओं ने कलाकारों को आश्रय दिया, जिनकी छत्रछाया में कला पल्लवित और विकसित हुई। अतः इन कलाकारों ने राजाओं की रूचि के अनुसार ही रागरंग, विलास, वीरता, शौर्य, आखेट और साहित्य सम्बंधी चित्रों का अंकन किया। सामन्तवादी पद्धति ने प्रतिभा सम्पन्न कलाकारों को विशेष प्रोत्साहन दिया। फलतः कलाओं को निर्द्वन्द्व पनपने और फलने-फूलने का अवसर मिला।

मध्यकाल में धार्मिक आन्दोलन के प्रभाव से साहित्य एवं चित्रकला के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुये तथा चित्रकला की परिष्कृत और परिमार्जित शैली के रूप में राजस्थानी शैली का अभ्युदय हुआ। लगभग बारहवीं शताब्दी से ही राजस्थानी शैली का विकास प्रारम्भ हो गया था। धीरे-धीरे राजस्थानी चित्रकला का बहुरंगी, बहुविध विकास होता गया, जिससे इस शैली का एक समन्वित रूप प्रकाश में आया और इसके विस्तृत परिवेश में अनेक शाखाएँ और उप शाखाएँ समाविष्ट हो गयी।

15वीं शताब्दी का समय भारत में सांस्कृतिक पुनरूत्थान का समय रहा है। अपभ्रंश शैली का ह्रास होने पर राजपूत राजाओं ने चित्रकारों को संरक्षण देकर चित्रकला का भरपूर विकास किया, जिसे राजपूतकालीन या राजस्थानी शैली के नाम से पुकारा गया। इसका चित्रण काल सन् 1400 ई0 से 1800 ई0 माना गया है।¹ इस समय संस्कृति का प्रभाव सर्वत्र फैल रहा था। संगीत, भक्ति, साहित्य, कला में नयी चेतनाएँ जाग्रत हो रही थी, लेकिन राजनीति में उथल-पुथल का माहौल था।

अरबों के आक्रमण ने भारत के पश्चिमी भाग को आक्रान्त कर दिया था। इन आक्रमणों के प्रभाव से बचने के लिये अनेक कलाकार अपने निवास स्थान (गुजरात, लाट) आदि प्रान्तों को छोड़कर भारत के अन्य भागों में जाकर बसने लगे थे।² राजस्थानी कलाकारों पर इस राजनैतिक उथल-पुथल का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। बल्कि इस युग में हिन्दी साहित्य के रीति ग्रन्थ लिखे गये। विद्यानुरागी व कला के प्रेमी कवि व साहित्यकार, जो शासकों पर आश्रित थे, उन्होंने अत्यन्त उत्कृष्ट साहित्य और कला का सृजन किया।

राजस्थानी शैली में रामकथा के जिन चित्रों की रचना हुयी, उनका मूल आधार वाल्मीकि रामायण रहा है। राजस्थानी शैली में रामचरित मानस की खण्डित प्रति के रूप में बालकाण्ड की सचित्र प्रति मिली है, जिसमें लगभग 158 चित्र पाये गये हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्पूर्ण रामायण की सचित्र प्रति का आकार कितना विशाल रहा होगा। रामायण विषयक इन चित्रों में चित्रकारों ने श्रृंगार और दरबारी वैभव का चित्रण भी किया है। इसमें उन्होंने धनुष भंग, सेतु बन्ध, राक्षस वध आदि के अनेक चित्र बनाये हैं। एक-एक चित्र में सैकड़ों आकृतियों का अंकन दर्शनीय है।

राजस्थान की विभिन्न उपशैलियों (मेवाड़, जयपुर, जोधपुर, किशनगढ़, कोटा, बूंदी तथा बीकानेर आदि) में रामायण विषयक चित्रण हुआ है। किन्तु इनमें किशनगढ़ शैली को जो स्थान प्राप्त है, वह अन्य किसी और शैली को प्राप्त नहीं हुआ है।

जयपुर और अजमेर के मध्य एक छोटा, सुन्दर प्राकृतिक छटा का धनी किशनगढ़ नगर 1609 ई० में स्थापित हुआ। किशनगढ़ राज्य की नींव जोधपुर राज्य के राठौर वंशी राजा उदयसिंह के आठवें पुत्र किशनसिंह ने डाली। जोधपुर एवं मुगल दरबार से सम्बंधित होने के कारण यहाँ के राजा राजसी वैभव और कलात्मक जीवन से पूर्ण परिचित थे। मारवाड़ शैली की उन्नत शाखा किशनगढ़ शैली ने एक शतक उपरान्त तो (राजा सावन्त सिंह 1699-1764 ई० के समय में) अपने उत्कर्ष पर पहुँचकर राजस्थानी चित्रकला में अपना मौलिक एवं उत्कृष्ट स्थान बना लिया था।¹

किशनगढ़ शैली को विशिष्टता प्रदान करने में और उसको ख्याति के मार्ग पर लाने के लिये जिन कलाकारों ने कार्य किया और जिनके नाम अब तक मिल पाये हैं, उनमें निहालचन्द, ऊमरचंद तथा सीताराम का नाम उल्लेखनीय है। ये तीनों चित्रकार 18वीं

शताब्दी के मध्य में हुये और ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि अंतिम दो चित्रकार उस्ताद निहालचंद के सहयोगी थे।² किशनगढ़ शैली के अन्य चित्रकारों में अमीरचन्द, भवानीदास, धन्ना, भंवरलाल, छोटू सूर्यध्वज तथा मोरध्वज के नाम विशेष उल्लेखनीय रहे हैं।³ कलाकारों की अद्वितीय चित्रांकन प्रतिभा के परिणामस्वरूप ही किशनगढ़ शैली में अंकित चित्रों में जादुई प्रभाव सम्भव हो सका। अंकन की विशिष्टता और रंग संयोजन की प्रखर अभिव्यक्ति के लिये किशनगढ़ के लघुचित्र सर्वप्रसिद्ध है। किशनगढ़ की चित्रशैली के इतिहास में महाराजा सामंत सिंह और उनके चित्रकार निहालचंद का वही स्थान है, जो कांगड़ा शैली में संसारचंद और उनकी कला का है।⁴



किशनगढ़ शैली के रामायण विषयक चित्रों में नारी व पुरुषाकृति को लम्बा व छरहरा बनाया गया है। कानों तक खिंचे नेत्र, लम्बी नासिका, नुकीली चिबुक, कोमल अधर, पतली व लम्बी भुजायें अन्य अंग-प्रत्यंगों का सुन्दर व आकर्षक अंकन इस शैली के रामायण विषयक सभी चित्रों में देखने को मिलता है। नारी आकृति में सीता जी को लज्जायुक्त, गौरवर्णी, आभूषणों से सुसज्जित, ऊँची चोली, पारदर्शक ओढ़नी में बड़ी कुशलता पूर्वक चित्रित किया है। पुरुष आकृति में राम का चित्रण अधिकांशतः नीलवर्ण में किया गया है।

इस शैली के एक अन्य चित्र में श्रीराम वनगमन का दृश्य है। इस चित्र के बीच में श्यामवर्णी राम खड़े हैं। सम्भवतः राम व लक्ष्मण परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं। दोनों भाईयों के सिर पर स्वर्णिम रत्नजड़ित मुकुट शोभायमान है। पीताम्बरधारी श्रीराम कन्धे पर धनुष, हाथ में तीर, गले में मोतियों के आभूषण व पुष्पमाला, कानों में कुण्डल, पीले वर्ण की धोती व पटका पहने शोभायमान हो रहे हैं। सामने की ओर लक्ष्मण भी लाल नारंगी रंग की धोती व स्वर्णिम पटका पहने हैं। कानों में व गले में मोतियों के आभूषण,

कन्धे पर धनुष व तरकश, कमर में तलवार धारण किये हैं। सीता जी भी लहंगा, चोली व बेलबूटों से युक्त पारदर्शक ओढ़नी में, हाथ में कमल पुष्प लिये, माथे पर टीका, बालों में झूमर, गले में आभूषण पहने शांत भाव से श्रीराम जी के पीछे खड़ी हैं। राम, सीता व लक्ष्मण के मुखमण्डल पर सौम्यता का भाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। चित्र की पृष्ठभूमि में श्वेत महल का अंकन है। महल के बीच-बीच में से झाँकते सुन्दर वृक्षों का अंकन है। श्वेत महल में स्वर्णिम रंग के दरवाजे व छज्जों पर अलंकृत अलंकरण हैं। सपाट अग्रभूमि व सुन्दर बेल-बूटों से युक्त हाशिये का अंकन है। आकर्षक रंग योजना व गतिमय रेखांकन चित्र की सुन्दरता को बढ़ा रहे हैं। इस चित्र पर मुगलिया प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। (चित्र सं0-1)

वस्तुतः किशनगढ़ शैली में कुशल चित्रकार के चित्रों में खंजन पक्षी के आकार वाले नेत्र, धनुषाकार भौंहे, लंबी नुकीली नाक, लचकदार छरहरे बदन रूप यौवन से परिपूर्ण दिखते हैं। कोमल व बारीक रेखायें कलाकार के अद्भुत कौशल का परिचय देती हैं।^१

एक अन्य चित्र में राम के वनवासी जीवन का दृश्य है। इस चित्र की अग्रभूमि में दाहिनी ओर वनवासी रूप में राम, सीता व लक्ष्मण बैठे हुये हैं। प्रभु राम, सीता जी से सम्भवतः कुछ परामर्श कर रहे हैं। श्रीराम के मुखमण्डल के पीछे हल्के नीले रंग का प्रकाश पुंज बनाया गया है। आभूषणों से सुसज्जित दोनों भाई कमर में कमल पुष्प के साथ स्वर्णिम मूठ की तलवार बाँधे हैं। श्रीराम हाथ में माला लिये हैं, उनका धनुष सामने रखा है, जबकि लक्ष्मण जी धनुष को कन्धे पर धारण किये हैं। सीता जी दोनों के बीच में गुलाबी रंग की ओढ़नी ओढ़े सिर को झुकाये बैठी हैं। सुंदर वस्त्रों व आभूषणों को धारण किये सीता जी श्रीराम के साथ शोभायमान हो रही हैं। इन मानवाकृतियों के रेखांकन व चित्रण में किशनगढ़ शैली की सभी विशेषताएँ स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही हैं। चित्र की

अग्रभूमि में कमल पुष्प व पत्रों का अंकन है। पृष्ठभूमि में ऊँची-ऊँची हल्के हरे रंग की पहाड़ियों पर कतारबद्ध वृक्षों का सुन्दर चित्रण है। झील के किनारे श्वेत भवनों का भी मनोहारी चित्रण है। झील में बगुलों का अंकन, आकाश को हल्की लालिमा लिये हुये चित्रित किया है, जो चित्र की सुंदरता को बढ़ाने में सहायक है। चित्र में आकर्षक रंग योजना है। सफेद रंग के प्रयोग से अन्य रंगों में कोमलता आ गयी है। चित्र का एक तिहाई भाग प्राकृतिक चित्रण से युक्त है। मानवाकृतियाँ व प्राकृतिक अंकन इस चित्र में विशेष दर्शनीय है। (चित्र सं0-2)



किशनगढ़ शैली के इस चित्र में श्रीराम स्वर्णिम हिरण का पीछा करते हुये अंकित हैं। चित्र में बाईं ओर राम धनुष -बाण चलाने की मुद्रा में अंकित हैं। चित्र में दाहिनी ओर स्वर्ण हिरण त्वरित गति से भाग रहा है। राम वनवासी रूप में हैं। परन्तु उनके मुखमण्डल के पीछे गहरे रंग का प्रकाश पुंज अंकित है, जो उनके देवपुरुष होने को इंगित करता है। कमर में तरकश, कमल पुष्प व तलवार बाँधे हैं। अग्रभूमि में एक छज्जे के नीचे सीता जी बैठी हैं। उनके मुख के पीछे भी प्रकाश पुंज बनाया गया है। इस चित्र पर अपभ्रंश शैली का प्रभाव दिखायी देता है। सीता जी का चेहरा शरीर के अनुपात में अधिक बड़ा चित्रित किया गया है। उनके

सामने रावण ब्राह्मण वेश में श्वेत वस्त्र पहने हाथ में कमण्डल लिये चित्रित है। अग्रभूमि में कमल पुष्पों व पत्रों से सुसज्जित एक कुण्ड का अंकन है। सम्पूर्ण चित्र में प्राकृतिक चित्रण अत्यधिक है। चित्र की सुन्दरता देखते ही बनती है। (चित्र सं0-3)

किशनगढ़ शैली में मुगल प्रभाव सर्वत्र देखने को मिलता है। कहीं-कहीं अपभ्रंश शैली का भी प्रभाव देखने को मिलता है। इस शैली में राम के साथ कमल पुष्प का अंकन सर्वत्र दर्शनीय है। मोतियों के आभूषण भी इस शैली की अपनी निजी विशेषता है।

इस शैली के रामायण विषयक चित्रों में खुला और सुन्दर आकाश, झीलों, पहाड़ियों, हरे वृक्षों से आच्छादित वन-प्रान्तर व बगीचे तथा पक्षियों की चहचहाट वाला वातावरण प्रस्तुत किया गया है। इन चित्रों में कदली वृक्षों का अंकन विशेष है। आसमान में नीले व लाल दोनों रंगों का मिश्रित प्रयोग किया गया है। श्वेत व गुलाबी रंगों का मिश्रण किशनगढ़ के चित्रों में अद्भुत एवं आकर्षक प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ हुआ है।

एक अन्य चित्र में उस समय का अंकन है, जब राम-रावण का युद्ध समाप्त हो चुका था। राम, सीता, लक्ष्मण और हनुमान जी अयोध्या जाने के लिये पुष्पक विमान में बैठ गये हैं। अग्रभूमि में चित्र के दाहिनी ओर ऋषि-मुनि उपहार लिये खड़े हैं। राम व सीता जी के सिर के पीछे प्रकाश पुंज दर्शनीय है।

श्रीराम व लक्ष्मण के सिर जटा बंधी है। उसमें मोतियों की माला बंधी हुयी है। राम व सीता पुष्पक विमान के आगे वाले भाग में बैठे हैं। श्रीराम एक हाथ में कमल पुष्प पकड़े हैं, आभूषणों व शस्त्रों से सुसज्जित हैं। साथ ही सीता जी भी सुन्दर वस्त्राभूषणों से सजी-सँवरी श्रीराम जी के साथ सुशोभित हो रही हैं। पीछे लक्ष्मण व हनुमान सेवक रूप में खड़े हैं। हनुमान जी चंवर लिये राम सेवा में तत्पर खड़े हैं। पीले रंग की पृष्ठभूमि व नीले रंग से आकाश का



चित्रण है, जिसमें गोल-गोल छल्लेनुमा बादलों का अंकन है। चित्र में दाहिनी ओर लंका का चित्रण है। उसके पीछे व पृष्ठभूमि में पहाड़ियों का चित्रण किया गया है। लाल रंग की सीमा रेखा द्वारा चित्र को बाँधा गया है। चित्र सुन्दर व आकर्षक बना है। (चित्र सं0-4)

रामायण विषयक इन चित्रों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि किशनगढ़ शैली अपनी मौलिकता एवं प्रभावशीलता के कारण एक स्वतन्त्र चित्र शैली के रूप में स्थापित हुयी।

रामायण का चित्रण लघुचित्र शैलियों का प्रमुख विषय रहा है। किशनगढ़ शैली में निर्मित रामायण के चित्र कलात्मक दृष्टि से इतने समर्थ, सशक्त और आकर्षक हैं कि दर्शकों की दृष्टि को बरबस ही बाँध लेते हैं। अपनी रसमय मनोहारी रंग योजना, आकर्षक एवं गतिमान रेखा सौन्दर्य व लावण्यमय-संयोजन वैशिष्ट्य के कारण किशनगढ़ शैली में चित्रित रामायण विषयक चित्र न केवल भारत में ही अपितु विश्वभर में प्रसिद्ध हैं। वर्तमान में भी समय-समय पर अनेक संग्रहालयों व कला दीर्घाओं में भारतीय चित्र शैलियों के मध्य इनका प्रदर्शन इन चित्रों व रामायण विषय की लोकप्रियता को दर्शाता है।

सन्दर्भ

1. मावड़ी डॉ. एम0एम0 : भारत की प्रमुख चित्र शैलियाँ, खैरागढ़ (म.प्र.) 1989, पृ0सं0 42
2. डॉ. शर्मा गोपीनाथ : राजस्थान का इतिहास, प्रथम भाग, आगरा, 1973, पृ0सं0 612
3. अग्रवाल डॉ. गिराज किशोर : कला और कलम, अशोक प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़ 1978, पृ0सं0 130
4. चतुर्वेदी डॉ. गोपाल मधुकर : भारतीय चित्रकला : ऐतिहासिक संदर्भ, साहित्य संगम, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1999, पृ0सं0 118
5. गैरोला वाचस्पति : भारतीय चित्रकला, मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1963, पृ0सं0 163
6. गोस्वामी प्रेमचंद : राजस्थान की लघुचित्र शैलियाँ, राजस्थान ललित कला अकादमी, जयपुर, 1972, पृ0सं0 32
7. पूर्वोक्त सं0 5 : पृ0सं0 163
8. बड़ेरिया तारक नाथ : भारतीय चित्रकला का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004, पृ0सं0-67

सृष्टि निर्माण : गालो अवधारणा

डॉ. शिवानन्द झा

विविध मानव सभ्यताओं के विकास क्रम का सबसे कौतूहलपूर्ण पक्ष है - सृष्टि निर्माण से सम्बन्धित उनकी भिन्न-भिन्न अवधारणाएँ। महत्वपूर्ण वैज्ञानिक विकास के बावजूद भिन्न-भिन्न धर्मों में सृष्टि निर्माण एवं विकास से सम्बन्धित पौराणिक धारणाएँ, लोक कथा-गीतों के रूप में चर्चित रही हैं। लोकगीत, लोकनाट्य, लोकोक्तियाँ, लोककथा और मिथक आदि के समग्र स्वरूप से हमारा लोक साहित्य निर्मित होता है। स्वभावतः जन सामान्य की आशा-आकांक्षा, जय-पराजय, हर्ष-विस्मय तथा सम्पूर्ण सामाजिक सौष्ठव वास्तविक रूप से लोक साहित्य में ही प्रतिबिम्बित होते हैं। ज्ञातव्य है कि लोक साहित्य प्रायः वाचिक परम्परा में ही जीवित रहता रहा है और दीर्घकालीन अनुभवसिद्धता इसे विशेष महत्व प्रदान करती है। लोक साहित्य खासकर लोककथाओं का महत्व प्रस्तुत सन्दर्भ में इसलिए विशेष उल्लेखनीय है कि अरुणाचल प्रदेश की अन्य जनजातियों की भाँति गालो जनजाति की भाषा भी लिपि विहीन है। सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के वाचिक परम्परा से संचालित होने के कारण यहाँ लोक साहित्य के महत्व को सहज ही समझा जा सकता है।

गालो-आदी जनजाति समूह की एक प्रमुख जनजाति है। उल्लेखनीय है कि भारत के पूर्वोत्तर के प्रहरी राज्य अरुणाचल प्रदेश की पहचान एक जनजाति बहुल प्रदेश के रूप में होती है। लगभग 12 लाख की कुल आबादी वाले इस प्रदेश की 64 प्रतिशत से भी अधिक जनसंख्या जनजातियों की ही है। राज्य की जनजातीय संरचना भी अत्यन्त जटिल एवं बहुरंगी है। यहाँ 26 प्रमुख जनजाति एवं सौ से भी अधिक उप जनजातियाँ निवास करती हैं। 'गालो' न केवल अपने 'आदी' जनजाति समूह बल्कि प्रदेश स्तर की सभी जनजातियों में अपने संख्याबल, शैक्षिक स्तर एवं विकास के सभी आयामों में अग्रिम पंक्ति में आता है। गालो जनजाति के लोग मुख्य रूप से सियांग नदी (ब्रह्मपुत्र का मुख्य ऊपरी नदी तंत्र) के पश्चिमी तथा सुबनसिरी नदी के पूर्वी भागों के बीच अरुणाचल प्रदेश के लगभग मध्यभाग में निवास करते हैं। गालो जनजाति के उद्भव, विकास, प्रवजन आदि से सम्बन्धित कई रोचक किस्से हैं, किन्तु यहाँ हमारा अभिप्राय लोककथा के रूप में सृष्टि निर्माण से सम्बन्धित इनकी अवधारणा का प्रस्तुतीकरण मात्र ही है।

इनके यहाँ सृष्टि का आरम्भ 'पाम्बू' और 'पाम्बा' से माना गया है। इनकी मान्यता है कि प्रारम्भ में केवल 'पाम्बू' अर्थात् घने बादल तथा 'पाम्बा' अर्थात् घना कोहरा चारों ओर छाया हुआ था। कालान्तर में ये दोनों क्रमशः घनीभूत होते गये। घनीभूतीकरण की लम्बी प्रक्रिया में 'पाम्बू' और 'पाम्बा' के कुछ हिस्से विशेष रूप से कड़े हो गये। 'पाम्बू' (बादल) का कड़ा हिस्सा उसका पेट बना

और पाम्बा (कुहरा) का कड़ा हिस्सा उसका वीर्य। परम्पर आकर्षण के कारण ये दोनों चिपक गये। इनके संयोग से 'हिंसी' और 'मेदो' (क्रमशः धरती और आकाश) का जन्म हुआ। 'हिंसी' और 'मेदो' का क्रमिक विकास मानव शिशु की तरह ही हुआ और ये दोनों साथ रहते हुए अंडाकार रूप में विकसित होते गये। 'हिंसी' और 'मेदो' की बाहरी परिधि अँधेरे में जुगनू की तरह चमचमाती थी। 'हिंसी' यानी 'पृथ्वी' को पुरुष तथा 'मेदो' यानी 'आकाश' को स्त्री के प्रतीक रूप में माना गया है। 'हिंसी' और 'मेदो' के सम्मिलन से आदि माता और आदि पुरुष का निर्माण हुआ। गालो जनजाति आदि माता 'जीमी आने' और आदि पुरुष 'ओपो ताको' के वंशज के रूप में ही सम्पूर्ण सृष्टि जगत् को मानते हैं।

गालो जनजाति की सृष्टि निर्माण सम्बन्धी अवधारणा का मौलिक पक्ष कई दृष्टियों से वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। सौरमण्डल के निर्माण से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण अवधारणा 'धूल कण एवं गैस के बादल' (ऑटो शिमड का सिद्धान्त) से सम्बन्धित है, जो कुछ हद तक इस जनजातीय अवधारणा को पुष्ट करता है। दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि सृष्टि निर्माण एवं विकास में सीधे तौर पर इनकी मान्यता विषम लिंगीय सहज आकर्षण को स्वीकारती है। 'पृथ्वी गोल है' (अंडाकार) की वैज्ञानिक अवधारणा इनकी लोककथात्मक वैज्ञानिकता को सबल बनाती है। इतना ही नहीं, पृथ्वी पर जीव-जन्तुओं के विकास क्रम को ये अन्य ग्रहीय पिण्डों खासकर सूर्य और चन्द्रमा से सह-सम्बन्धित भी करते हैं। ये सभी तथ्य गालो जनजाति के लोककथा में वैज्ञानिक सूझ के निरूपण के परिचायक हैं।

गालो की मान्यतानुसार आदि माता 'जीमी आने' आज के स्त्री जैसी नहीं थी। उनका सिर और मुँह के नीचे का जबड़ा हार्नविल (धनेस पक्षी) के सिर और जबड़े जैसा था, मस्तक हिरण जैसा, रीढ़ बन्दर जैसी तथा बाल मुर्गी के बच्चे (चूजों) की तरह थे। इनका ये वर्णन डार्विन के विकास सिद्धान्त से कुछ अर्थों में साम्य रखता है। इसके विपरीत आदि पुरुष 'ओपो ताको' एक सुन्दर नौजवान के रूप में विकसित हुए। 'जीमी आने' और 'ओपो ताको' भाई-बहन की तरह बड़े हुए, किन्तु युवावस्था में विपरीत लिंगीय आकर्षण से वशीभूत वे शारीरिक सम्बन्ध स्थापित कर बैठे। 'जीमी आने' गर्भवती हो गई। शारीरिक सम्बन्ध का क्रम चलता रहा, फलस्वरूप कालक्रम में 'जीमी आने' के गर्भ से क्रमशः 'न्यीते' (सूर्य), 'काते' (चन्द्रमा), 'मुगली' (पानी का देवता), 'पोते और मानी' (पुरुष और नारी), 'होते-होन्यी' (सिंह

और चीते), 'तामुप-तारूक' (कीड़े-मकोड़े) तथा अन्य जीव-जन्तुओं का आविर्भाव हुआ। इतना ही नहीं मौसमों का निर्माण भी 'जीमी आने' के द्वारा ही हुआ। 'दिवोर' और 'दीको' (क्रमशः गर्मी और सर्दी) दो प्रमुख मौसमों की निर्मात्री 'जीमी आने' ही थी। यद्यपि गालो जनजाति में भाई-बहन का रिश्ता शारीरिक सम्बन्ध को बिल्कुल अमर्यादित एवं निषिद्ध मानता है, फिर भी अपने उद्गम को इन्होंने इसी अमर्यादित सम्बन्ध से जोड़ रखा है। इनका तर्क है कि आदि माता और आदि पुरुष की अनभिज्ञता इसका कारण है। जाने-अनजाने ऐसे रिश्ते अनभिज्ञतावश विकसित हो सकते हैं, ऐसी सम्भावना की स्वीकृति इनके सहज जैविक नियम की मान्यता को रेखांकित करती है, जो वैज्ञानिक दृष्टि से यथार्थपरक है।

सृष्टि निर्माण की इस लोककथा के अनुसार प्रारम्भ में धरती और आकाश एक दूसरे से सटे हुए थे। 'हिंसी' और 'मेदो' और आकाश एक दूसरे से सटे हुए थे। 'हिंसी' और 'मेदो' यानी धरती और आकाश की सन्निकटता आदि माता 'जीमी आने' के संतति विकास में अवरोधक था। इस अवरोध को दूर करने हेतु आदि माता ने प्रथमतः एक परी का निर्माण किया। परी का नाम 'मीपो' था। उल्लेखनीय है कि अन्य मानवीय समुदायों की तरह गालो जनजाति के लोग भी परीकथा में रुचि एवं विश्वास रखते हैं। यही बात अरुणाचल की अन्य जनजातियों की लोककथाओं में भी देखने को मिलती है। कथा क्रम को बढ़ाते हुए गालो लोग मानते हैं कि आदि माता 'जीमी आने' के निर्देश पर 'मीपो' देवताओं एवं पवित्र आत्माओं से मिलने गई। 'मीपो' की प्रार्थना से प्रसन्न होकर देवताओं ने जीमी आने की संततियों की वृद्धि एवं सुरक्षा का आश्वासन प्रदान किया। देवताओं ने अहितकारी शक्तियों को खास सीमा में प्रतिबंधित करने का वचन भी दिया। अपने उद्देश्य में सफल होकर 'मीपो' लौट आई। अब 'जीमी आने' अपनी संततियों की वृद्धि एवं सुरक्षा से सुखी-सन्तुष्ट थी। संततियों के क्रमिक विकास को ध्यान में रखते हुए आदि माता 'जीमी आने' ने 'मेदा' यानी आकाश से निवेदन किया कि वह पृथ्वी से काफी ऊपर उठ जाए। यद्यपि धरती और आकाश एक दूसरे से अति स्नेहवश दूर नहीं होना चाहते थे, किन्तु जीमी आने को देवताओं से मिले आश्वासन को ध्यान में रखते हुए उन्होंने एक दूसरे से अलग होने का फैसला कर लिया।

आदि माता जीमी आने उनकी विरह-वेदना को समझ रही थी। उनके विरह को कम करने के लिए आदि माता ने सांत्वना

स्वरूप इस घड़ी को यादगार बनाये रखने हेतु अपने प्रिय मिथुनों 'सितु सोबो' और 'दोत सोबो' की बलि चढ़ाकर एक शानदार भोज का आयोजन किया। अपने विदाई भोज के उपरान्त आकाश ने धरती को कुछ दिनों तक नियमपूर्वक पूजा करने का निर्देश दिया। पूजावधि में पृथ्वी को कहीं भी आने-जाने से परहेज बरतने को भी कहा गया। गालो जनजाति की मान्यता है कि आकाश द्वारा दिये गये निर्देश का पालन पृथ्वी द्वारा नहीं किये जाने के कारण ही भूतल के पहाड़ों, घाटियों, कँटीले पेड़-पौधों आदि अनेक विषमताओं से युक्त है। इसके विपरीत आकाश ने पूजा एवं पूजावधि में वर्जित सभी बातों का ध्यानपूर्वक पालन किया। इसी नियम पालन के पुरस्कार स्वरूप आकाश के धरातल समतल एवं चमकदार दिखलाई देते हैं। ज्ञातव्य है कि अरुणाचल की जनजातियाँ, खासकर गालो जनजाति, आज भी अपनी पूजावधि के पहले और कुछ दिनों बाद तक घर से बाहर नहीं निकलते। इस प्रकार के नियमों को 'ताबू' कहते हैं। अरुणाचल के जनजातीय समुदाय में 'ताबू' नियम का पालन जनजीवन का एक स्वाभाविक किन्तु अनिवार्य हिस्सा बना हुआ है। ताबू नियम का उल्लंघन अनिष्ट की आशंका का द्योतक माना जाता है।

आदि माता 'जीमी आने' ने आकाश को और भी सुन्दर बनाने के उद्देश्य से 'देकार' नामक चमकदार तारे का निर्माण कर उसे मध्य आकाश में रख दिया। 'देकार' एक स्त्री थी और पूरे आकाश में अकेली। एक दिन 'देकार' ने आकाश में एक चमकते पिण्ड को देखा। यह चमचमाता पिण्ड एक पुरुष 'यई काशी' था। वह काम विह्वल 'देकार' 'यई काशी' के पास पहुँच गई। 'यई काशी' ने 'देकार' के खुले प्रेम आमंत्रण को स्वीकार किया। अपनी काम पिपासा मिटाने के बाद सुखी-सन्तुष्ट 'देकार' अपने मूल स्थान पर लौट आयी, किन्तु वह गर्भधारण कर चुकी थी। समय आने पर 'देकार' ने अनेक छोटे-छोटे मनोहर तारों को जन्म देकर उन्हें आकाश में फैला दिया। ये सुन्दर तारे आकाश में अपनी मनोहारी चमक बिखेरने लगे।

आकाश की रमणीयता और पृथ्वी की आकर्षणहीनता ने 'जीमी आने' को फिर से चिन्ता में डाल दिया। आदि माता पृथ्वी को भी उतना ही मनोहारी बनाना चाहती थी। पृथ्वी को मनोरम बनाने पर विचार-विमर्श करने हेतु आदि माता ने अपनी तमाम संततियों की एक 'केबा' (पंचायत) बुलाई। इस 'केबा' में एक बड़े ही सुन्दर स्वस्थ चूहे ने भी भाग लिया। चूहे की मूँछों पर कुछ चमकदार बूँदें थीं। समस्त जीव-जन्तु इस चूहे की ओर आकर्षित

हुए। सब जानने को उत्सुक थे कि चूहे की सुन्दरता, स्वच्छता और मूँछों की चमकदार बूँदों का आखिर क्या रहस्य है? 'जीमी आने' की आज्ञा से चूहे ने बताना शुरू किया कि उसके मूँछों की चमकदार बूँदें वस्तुतः पानी हैं। उसके सुन्दर स्वस्थ शरीर का रहस्य भी पानी ही है। चूहे ने विस्तारपूर्वक पानी के उपयोग के बारे में बताया। इस तरह जलस्रोत की खोज का श्रेय चूहे को मिला। अन्य जीवों के आग्रह पर चूहे ने उन्हें मिट्टी खोदकर जल प्राप्त करने की विधि से अवगत कराया। प्रथमतः उस चूहे ने पृथ्वी छेदकर उन सबों के लिए जल उपलब्ध कराया। जलस्रोत से चारों तरफ जल फैलाव हुआ और क्रमशः सारी धरती हरी-भरी हो गई। आदि माता वसुधा की हरीतिमा एवं सौन्दर्य से अभिभूत हो गई, क्योंकि धरातल का बंजर रूप अब हरित-फलित रूप में उनके सामने था। कालान्तर में आदि माता ने नए जीवोत्पत्ति के साथ-साथ कई जीवों के आकार-प्रकार में भी बदलाव किए।

गालो जनजाति के लोग सृष्टि की हर निर्माण प्रक्रिया में स्त्री सहभागिता के प्रबल पक्षधर माने जा सकते हैं। यही कारण है कि उनकी लोक कथाओं में सम्पूर्ण लौकिक-अलौकिक शक्तियों एवं सृष्टि विकास के चक्रों को आदि माता से जोड़ा गया है। ये इस तथ्य में भी विश्वास रखते हैं कि एक जीव का रूपान्तरण दूसरे जीव के रूप में भी हो सकता है। उदाहरण के तौर पर इनका दृढ़ विश्वास है कि बाघ मानव जाति के ही वंशज हैं। गालो समाज में आज भी मिथक के तौर पर मनुष्य द्वारा बाघ का रूप धारण करने की अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। ऐसी ही एक कथा के अनुसार आदि पुरुष 'तानी' और 'ताइन्यो' सगे भाई थे। आदि माता की प्रेरणा से बड़ा भाई 'ताइन्यो' कच्ची वस्तुओं को खाने में अधिक रुचि लेने लगा। 'तानी' के पूछने पर उसने बताया कि कुछ दिनों से वह महसूस कर रहा है कि उसमें जैविक परिवर्तन होने लगे हैं। एक दिन जब दोनों भाई जंगल की ओर जा रहे थे, तो अचानक 'ताइन्यो' तेजी से घनघोर जंगल की ओर दौड़ने लगा। 'तानी' के जोर-जोर से पुकारने पर प्रत्युत्तर में ताइन्यो की आवाज एक चिंघाड़ के रूप में क्रमशः बदल गई। तानी को समझने में देर नहीं लगी कि उसका भाई अब बाघ के रूप में बदल गया है। इसी मान्यता के आलोक में उल्लेखनीय है कि गालो जनजाति ने बाघ के शिकार को निषिद्ध तो नहीं, किन्तु बहुत दूर तक प्रतिबन्धित कर रखा है। यदि किसी व्यक्ति या समुदाय द्वारा बाघ का शिकार जाने-अनजाने हो भी जाए तो लम्बे समय तक कठोर 'ताबू' का निर्वाह करना पड़ता है। यह कठोर नियम पालन कमोबेश अरुणाचल की सभी जनजातियों में प्रचलित है।

सृष्टि निर्माण एवं विकास की इस लोककथा यात्रा में वैज्ञानिकता का पुष्ट धरातल भले ही न हो, लेकिन उसकी छाप काफी गहरी अवश्य प्रतीत होती है। सृष्टि की उत्पत्ति एवं जैविक विकास की क्रमबद्धता की दृष्टि से विविध भाषाओं में रचित धर्मग्रन्थों एवं उनकी लोककथाओं से किसी भी दृष्टि से गालो जनजाति की सृष्टिमूलक अवधारणा कम रोचक और कम प्रासंगिक नहीं है। पूरे अरुणाचली समाज में संसार, पृथ्वी-आकाश, सूर्य-चन्द्र, स्वर्ग-नरक, देवता-राक्षस, मनुष्य, जल, थल, जैव एवं वनस्पति, सदाचार, शिष्टाचार आदि विविध तथ्यों से सम्बन्धित अनेक कथाएँ एवं मिथक प्रचलित हैं। ये कथाएँ सामूहिक सभाओं, पंचायतों (केबा), युवा एवं युवतियों के सामूहिक निवास गृहों (क्रमशः 'डेरे' एवं 'रासिंग') तथा घर-घर के बैठक स्थलों पर रोचक ढंग से सुनाई जाती हैं। बच्चे इन कथाओं को सुनते-सुनते

ही बड़े होते हैं, जिससे उनमें वाचिक परम्परा का क्रमबद्ध विकास एवं लोकाचार तथा शिष्टाचार के गुणों का समावेश होता है। लगभग पूरे प्रदेश की जनजातियों की अपने परम्परागत नियमों, संस्कारों एवं रीतिरिवाजों पर अटूट श्रद्धा है। यह श्रद्धाभाव आज के पढ़े-लिखे युवावर्ग में भी उसी अक्षुण्ण रूप में देखने को मिलता है। परम्परागत विरासतों के प्रति इनके सकारात्मक दृष्टिकोण निश्चय ही अनुकरणीय है। यदि विकासोन्मुख समाज में पारम्परिक मर्यादा से बँधे समाज की व्यवस्था देखनी हो तो अरुणाचल से उपयुक्त कोई जगह नहीं। अरुणाचली जनजाति समूहों में भी गालो जनजाति की लोककथात्मक पृष्ठभूमि सबसे उर्वर है। पारम्परिक मूल्यों के अनुरक्षण के साथ-साथ गालो जनजाति पर्याप्त विकासोन्मुख भी है। ये विशेषताएँ इनके कथा-क्षेत्र के औचित्य को निरूपित करने में मदद करती है।

त्योहारों की भूमि : अरुणाचल

जमुना बीनी

भारत के पूर्वोत्तर सीमांत में बसा है अरुणाचल प्रदेश। प्रायः इस राज्य को 'द लैण्ड ऑफ राइजिंग सन' अर्थात् 'अरुणोदय की भूमि' कहा जाता है। मैं अपने इस रमणीय प्रदेश को 'द लैण्ड ऑफ फेस्टिवल्स' अर्थात् 'त्योहारों की भूमि' कहने के नितांत पक्ष में हूँ। जिस प्रकार भारत में वर्ष भर कोई न कोई त्योहार मनाया जाता है, ठीक उसी भाँति इस राज्य में भी वर्ष भर त्योहारों का आना-जाना लगा है। अरुणाचल प्रदेश पूरी तरह एक जनजातीय राज्य है। इस राज्य में लगभग छब्बीस प्रमुख जनजातियाँ हैं। और एक सौ से भी अधिक उपजातियाँ हैं। इन जनजातियों के खान-पान, रहन-सहन, सोच-विचार में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। किंतु इन विविधता या भिन्नता में भी एक सौन्दर्य झलकता है। विविध संस्कृतियों से सम्पन्न अरुणाचल प्रदेश वास्तव में बाहरी व्यक्तियों को एक अद्भुत लोक प्रतीत होगा। अतः पर्वो-त्योहारों की चर्चा हम वर्ष के आरंभ यानी जनवरी के महीने से करेंगे।

जनवरी

सी-दोन्यी - सुबन्सिरी नदी के ऊपरी भाग में बसे 'तागिन जनजाति' का मुख्य त्योहार है - 'सी-दोन्यी'। 'सी-दोन्यी' का शब्दार्थ है- 'पृथ्वी और सूर्य'। पृथ्वी और सूर्य ही इस जगत के सृष्टिकर्ता हैं, ऐसा मानना है इस जनजाति का। फसल काटने के उपरांत पूरे गाँव वाले मिलकर सामूहिक रूप से इस त्योहार को मनाते हैं। यह त्योहार कब, कहाँ और कैसे मनाया जाये? इसका निर्धारण इनके धर्मगुरु करते हैं, जिन्हें स्थानीय भाषा में 'न्यूबू' कहते हैं।

इस त्योहार में मिथुन की बलि चढ़ाकर जगत के सृष्टिकर्ता 'सी-दोन्यी' को प्रसन्न किया जाता है। ये लोग मानते हैं कि 'सी-दोन्यी' को प्रसन्न करने से फसल की अच्छी पैदावार होगी, नाना प्रकार के रोगों और दुर्भाग्यों से इनकी रक्षा करेंगे। कुटे हुए चावल में मदिरा मिलाकर महिला एवं पुरुष एक-दूसरे के गालों पर मलते हैं। 'अपोंग' नामक मदिरा का सेवन भी करते हैं।

तोर्जा - बौद्ध धर्म की अनुयायी 'मोम्पा जनजाति' इस त्योहार को मनाती है। यह त्योहार तीन दिनों तक मनाया जाता है। पहले दिन के पूजा को 'तोर्मा' कहते हैं। 'तोर्जा' दरअसल जौ के आटे, गुड़, दूध और घी के सम्मिश्रण से बनी एक आकृति होती है, जिसे

सोडू कापा नामक लामा का प्रतीक माना जाता है। 'मेचाड' अर्थात् बाँस के पत्तियों के ढेर को गोम्पा (मंदिर) के मुख्य पुजारी जलाते हैं। इसी 'मेचाड' में तोर्मा' को लाकर मुख्य पुजारी द्वारा स्पर्श करवाकर जला दिया जाता है। जब 'तोर्मा' को जलाने के लिए ला रहे होते हैं, तब कुछ लामा ढोल, नगाड़ा बजाते हैं, कुछ तलवारें लहराते-घुमाते साथ के अन्य लामाओं के साथ चलते हैं। 'तोर्मा' के अग्नि-विसर्जन के उपरांत मुख्य पुजारी गोम्पा (मंदिर) के लिए और आम जन घरों के लिए प्रस्थान करते हैं।

दूसरे दिन कुछ अधिक कार्य नहीं होता। लोग जमकर नाच-गाकर, खा-पीकर खुशियाँ बाँटते हैं। यह दिन केवल मौज-मस्ती का होता है। देर रात चलने वाले इस आनंद उत्सव में बौद्ध भिक्षुणियाँ भी शरीक होती हैं।

तीसरे दिन गोम्पा में विशेष पूजा का आयोजन होता है। यह 'बाड' के नाम से जाना जाता है। विशेष लड्डू जिसे 'सेरिल' कहते हैं और 'से-चाड' नामक मदिरा, इन दोनों का वितरण पुजारी ईश्वर के प्रसाद के रूप में लोगों में करते हैं। यह त्योहार मुख्यतः दीर्घायु तथा सुखमय जीवन के लिए मनाया जाता है।

फरवरी

रेह - हर वर्ष फरवरी महीने की एक तारीख को दिवांग घाटी के निचले भाग में बसने वाले 'ईदू मिशमी जनजाति' इस त्योहार को अत्यंत धूमधाम से मनाते हैं। इस जनजाति का मानना है कि सूर्य हमारी माँ है और इसी ने सृष्टि का निर्माण किया है। सूर्य माता को प्रसन्न करने के लिए ये लोग मिथुन, बकरी, सुअर, मुर्गा आदि की बलि चढ़ाते हैं। इस दिन माँस, चावल के साथ चावल की मदिरा जिसे 'यू' कहते हैं, उसका खूब सेवन किया जाता है। त्योहार वाले दिन गाँव के मुख्य बाहरी मार्ग पर बेंत, बाँस और लकड़ी आदि से एक फाटक बनाया जाता है। इस फाटक के निर्माण के पीछे तर्क यह है कि जो भी अपवित्र और दुष्ट आत्माएँ हैं, वे इसके भीतर प्रवेश करने में असक्षम होती हैं।

बूरी-बूत - 'हिलमीरी जनजाति' का प्रमुख त्योहार है बूरीबूत। लगभग एक महीने पहले से ही इस त्योहार की तैयारियाँ शुरू हो जाती हैं। महिलाएँ अपने-अपने घरों में चावल और मडुआ (कोदो) की मदिरा बनाने में व्यस्त हो जाती हैं। ताकि बूरी-बूत त्योहार आने तक ये मदिराएँ पककर पीने लायक हो जाये।

पूजा वाले दिन प्रातः काल ही महिलाएँ पारम्परिक परिधानों में सज-धज कर माँस, भात, मदिरा को टोकरियों में डालकर और एक बड़े से थाल, जिसमें कुटा हुआ चावल रखा होता है, उस थाल को सिर पर रखकर पूजा वाले स्थान की ओर झुंडों में चल पड़ती हैं, जिसे 'दुरूम-रूमनाम' कहते हैं। ये महिलाएँ अपनी टोकरियों में रखे माँस, भात, मदिरा आदि को प्रधान पुजारी से सेवन/ग्रहण करने के लिए आग्रह करती हैं।

बूरी-बूत - अर्थ है- एकता। समाज में भाईचारा और आपसी सामंजस्य बना रहे, यही कामना प्रत्येक हिलमीरी स्त्री-पुरुष करते हैं। इस दिन मिथुन की बलि चढ़ाई जाती है, ताकि 'बूरी-आबो' अर्थात् 'बूरी-पिता' प्रसन्न हों और अपनी संतानों को आशीर्वाद दें, जिससे फसल अच्छी हो, प्राकृतिक आपदाओं से बचाव हो तथा गाँव में महामारी न फैले। 'जाजीन' इस त्योहार का प्रमुख नृत्य है। इस नृत्य को युवक-युवतियाँ अपना अलग-अलग समूह बनाकर पूजा वाले स्थान का गोल चक्कर लगाते हुए नाचते हैं। पुरुष और स्त्री चावल का लेप एक-दूसरे के गालों पर मलते हैं तथा 'ओप्पो' नामक मदिरा का सेवन करते हैं।

लोसर - 'मोम्पा', 'शेरदुकपेन', 'मेम्बा', 'खाम्बा' ये चारों जन-जातियाँ बौद्ध धर्म के महायानी सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। ये जनजातियाँ प्रदेश के अलग-अलग भागों में बसी हुई हैं। 'लोसर' इन चारों जनजातियों का मुख्य त्योहार है। 'लोसर' का शब्दार्थ है- 'नया साल'। नव वर्ष आनंदमय तथा मंगलमय हो, इसी कामना के साथ इस त्योहार को बड़े उत्साह के साथ मनाते हैं।

त्योहार से पहले ही खाब्जे, चामर, चांगफुल नामक व्यंजनों को पकाया जाता है। त्योहार में ये सारे व्यंजन सर्वशक्तिमान ईश्वर को चढ़ाये जाते हैं। ईश्वर को चढ़ाने के बाद बचे हुए व्यंजनों को आपस में बाँटकर खाते हैं। सबसे रोचक बात यह है कि दीपों के त्योहार 'दीपावली' की तरह 'लोसर' त्योहार आरंभ होने से कुछ दिन पूर्व ही लोग अपने-अपने घरों की सफाई में लग जाते हैं। ये लोग अपने घरों, गोम्पा (मंदिर) तथा गाँव की खूब सफाई करते हैं। इस सफाई अभियान के पीछे धारणा यह है कि गंदगी मानसिक तथा शरीरिक अस्वस्थता का प्रतीक होता है, जो ईश्वर-प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा है, क्योंकि स्वस्थ मन में ही ईश्वर का निवास होता है।

न्योकुम - न्यीशी जनजाति का प्रमुख त्योहार है- 'न्योकुम'। यह त्योहार अच्छी खेतीबाड़ी, महामारी से बचाव तथा सम्पूर्ण

मानवता के कल्याण के लिए मनाया जाता है। 'न्योकुम' दो शब्दों से मिलकर बना है - 'न्योक' अर्थात् पृथ्वी एवं 'उम' अर्थात् सारी वस्तुओं को एक स्थान पर एकत्र करना। यानि पृथ्वी के समस्त देवी-देवताओं को एक साथ एक स्थान पर 'न्योकुम देवी' के समक्ष आमंत्रित कर देवी-देवताओं की आराधना करना।

मिथुन, सुअर, बकरी आदि की बलि देकर 'न्योकुम देवी' को प्रसन्न किया जाता है। इस त्योहार के दो प्रमुख नृत्य हैं - 'बुया' तथा 'रिखामपादा'। पारम्परिक वेशभूषा से सुसज्जित पुरुष 'बुया' नृत्य करते हैं तथा महिलाएँ रिखामपादा नृत्य करती हैं। ये सारे नृत्य बलिवेदी के चारों ओर घूमकर प्रस्तुत किये जाते हैं।

मार्च

ताम्लाडू - 'ताम्लाडू' त्योहार प्रत्येक वर्ष मार्च के महीने में आयोजित किया जाता है। लोहित नदी के किनारे रहने वाली 'दिगारू मिशमी' एवं 'मिजू मिशमी' जनजातियाँ इस त्योहार को हर्षोल्लास से मनाती हैं। इस त्योहार से इन जनजातियों का नया साल शुरू होता है। इस त्योहार में पृथ्वी माँ और पानी के देवता की पूजा-अर्चना की जाती है। साथ ही अपने ईष्ट देव 'जेब्मालू' का भी पूजन होता है

फसल अच्छी हो और मवेशी रोग मुक्त हों, इसके लिए यह त्योहार मनाया जाता है। सूर्य देवता को प्रसन्न करने लिए पुजारी एक समूह बनाकर एक विशेष प्रकार का नृत्य करते हैं। त्योहार के अंतिम दिन ये लोग केवल विश्राम करते हैं तथा जीव हत्या नहीं करते एवं हरी वनस्पतियों को क्षति नहीं पहुँचाते हैं।

अप्रैल

मोपिन - अप्रैल के महीने में गालो जनजाति का त्योहार मोपिन पड़ता है। इस त्योहार में 'पिंकू-पिंटे' नामक मोपिन देवियों की पूजा होती है। मिथुन की बलि चढ़ाकर मोपिन देवी को अर्पण करते हैं। इस पूजा का आयोजन भी अच्छी फसल एवं सुख-समृद्धि के लिए किया जाता है। गालो जनजाति अपने पूर्वजों का बहुत सम्मान करते हैं। अतः पूजा के दिन जब ये लोग अपने अतिथियों को 'ओपो' अर्थात् मदिरा-पान इस आशा के साथ कराते हैं, मानों वे सारे पूर्वज अतिथियों के रूप में वहाँ उपस्थित हों।

स्त्रियाँ सफेद रंग के पारम्परिक वस्त्र पहनकर 'पोपीर' नृत्य करती हैं। 'पोपीर' का अर्थ है - तितली। ऐसी मान्यता है कि तितलियों में मोपिन देवी बसती हैं। अतः मोपिन देवी को प्रसन्न

करने लिए पोपीर गीत और नृत्य किया जाता है। त्योहार के अंतिम दिन ये लोग अपने खेतों में जाते हैं और नया बीज रोपने का कार्य शुरू कर देते हैं।

सांगकेन - 'खामती' तथा 'सिंगफो' जनजातियाँ बौद्ध धर्म के हीनयानी शाखा के अनुयायी हैं। इस त्योहार में भगवान गौतम बुद्ध की प्रतिमा को नहलाया जाता है। तीन दिनों तक लोग इस प्रतिमा पर जल चढ़ाते हैं। उत्तर भारत में मनाये जाने वाले 'होली' त्योहार की ही तरह इस त्योहार में लोग एक-दूसरे के ऊपर रंगीन पानी उड़ेलते हैं, साथ ही साथ एक-दूसरे के ऊपर कीचड़ फेंके जाते हैं। इस त्योहार के दौरान मदिरापान, जीव हत्या आदि वर्जित होते हैं। तन एवं मन की शुद्धिकरण के लिए बड़ों का आशीर्वाद लेना अनिवार्य माना जाता है, फलस्वरूप लोग अपने बुजुर्गों तथा बौद्ध लामाओं के चरणों पर सिर नवाकर आशीर्वाद लेते हैं।

इस त्योहार में बेसन एवं मैदा से कई प्रकार की स्वादिष्ट मिठाईयाँ बनाई जाती हैं और बड़े चाव से स्वयं भी खाते हैं, मेहमानों को भी खिलाते हैं। त्योहार के अंतिम दिन में 'पूंग' नामक नाटक खेला जाता है।

जून

मोल - जून के महीने में पड़ने वाला यह त्योहार 'तांगसा' जनजाति के लोग मनाते हैं। मडुआ (कोदो) के फसल कटने से पूर्व तथा धान बोने के उपरांत इस त्योहार का आयोजन होता है। तमाम मृत आत्माओं की शांति तथा अच्छी खेती बाड़ी के लिए यह त्योहार मनाते हैं। तांगसा समाज में नृत्य एवं गायन का अपना महत्व है। अतः इस पूजा में महिला एवं पुरुष नृत्य-गायन में ढोल और अन्य वाद्य यंत्रों का प्रयोग करते हैं। मडुआ की मदिरा की मादकता में अपनी सारी पीड़ा, व्यथा, विषाद को भुलाकर सारी रात ये लोग झूमते हैं।

जुलाई

द्री - 'आपातानी' जनजाति का 'द्री' त्योहार जुलाई महीने में मनाया जाता है। यह जनजाति सीढ़ीनुमा खेती (टेरेस कल्टीवेसन) करने के लिए अधिक प्रसिद्ध है। इन लोगों की यह मान्यता है कि संसार में बुरी शक्तियों का प्रकोप फसलों को नष्ट करता है। ये बुरी शक्तियाँ फसलों में रोग पैदा करती हैं तथा कीड़ों से आक्रमण करवाती हैं। इसलिए 'द्री' त्योहार में पुशओं की बलि चढ़ाकर

कृषि-देवी की पूजा की जाती है। ताकि कृषि-देवी प्रसन्न होकर इन बुरी शक्तियों से फसलों को बचा लें।

त्योहार के आयोजन के लिए समिति का गठन किया जाता है। यह समिति त्योहार की तैयारियाँ बहुत पहले से आरंभ कर देती है। मसलन चावल की मदिरा 'ओह' बनाना इत्यादि। आपातानी महिलाएँ समूह में 'दामिन दा' नामक अपना प्रमुख नृत्य इस त्योहार में करती हैं।

सितम्बर

सोलुंग - प्रत्येक वर्ष 'आदी' जनजाति के लोग इस त्योहार को सितम्बर के महीने में मनाते हैं। 'सोलुंग' शब्द का अर्थ है - मिथुनों का झुंड। इस त्योहार को लेकर एक किंवदंती प्रसिद्ध है। कहते हैं कि बहुत समय पहले एक बार आदी गाँवों में भयंकर महामारी फैल गई थी। बच्चे, बूढ़े, जवान सब इस महामारी के चपेट में आ गए तथा प्रत्येक दिन लोग काल के मुँह में समा रहे थे। चारों ओर महामारी का हाहाकार मचा हुआ था। इस महामारी से बचने के लिए लोगों को कुछ उपाय नहीं सूझ रहे थे। अंत में सबने यह निर्णय लिया कि जब मृत्यु निश्चित ही है तो क्यों न अपने-अपने मिथुनों को काटकर खाया जाए। हमारे बाद इन मिथुनों की देख भाल कौन करेगा? इसलिए बेहतर यही है कि इन्हें काट कर खाया जायें। जब सबने सारे मिथुन काटकर खाया, तभी एक चमत्कार हो गया। गाँवों से महामारी एकदम खत्म हो गई। तब से प्रत्येक वर्ष मिथुन की बलि चढ़ाकर आदी लोग इस दिन को धूमधाम से मनाते हैं।

किन्तु अधिकतर 'आदी' जनजाति के लोग यह मानते हैं कि इस त्योहार को मनाने का एक मुख्य कारण है - कृषि देवी 'कीने नाने' तथा धन और वैभव के देवता 'दोइंग बोते' को प्रसन्न करना। कृषि देवी अगर प्रसन्न होंगी तो खेतीबाड़ी अच्छी होगी और दोइंग बोते के प्रसन्न होने से धन एवं सुख समृद्धि प्राप्त होगी। इस त्योहार का मुख्य नृत्य है - 'पोनुँग'। इस नृत्य में नवयुवतियाँ नाचती हैं, जिसका नेतृत्व 'मीरी' अर्थात् धर्मगुरु गीत गाते हुए करते हैं।

नवम्बर

चालो-लोको - तिराप नदी के किनारे बसने वाली 'नोक्ते' जनजाति नवम्बर के महीने में इस त्योहार को मनाती है। यह त्योहार फसल कट जाने की खुशी में मनाया जाता है। पूजा के दिन सामूहिक भोज का आयोजन किया जाता है, जिसमें बलि चढ़ाए गए मिथुन, सुअर आदि का मांस बड़े चाव से खाया जाता है।

इस त्योहार में ये लोग एक विशेष प्रकार के गीत गाते हैं, जिसमें अपने पूर्वजों की वीरतापूर्ण लड़ाईयों का वर्णन किया जाता है। त्योहार के समापन के बाद अगली सुबह सब गाँव वाले मिलकर शिकार के लिए घने जंगल की ओर प्रस्थान करते हैं। इन लोगों की यह मान्यता है कि इस शिकार से दुष्ट आत्माएँ, बुरी शक्तियाँ तथा आलस्यता भाग जायेगी।

जनजातीय पर्व-त्योहारों में जो बातें समान रूप से लगभग सभी त्योहारों में देखने को मिलती हैं, वह है- पशु बलि। केवल बुद्धिस्त पर्वों को छोड़कर। इस पशु-बलि के पीछे तर्क यह दिया जाता है कि जिस पशु का बलिदान हुआ, उसकी आत्मा को सर्वशक्तिमान ईश्वर मोक्ष प्रदान कर देते हैं। परन्तु आज शिक्षा के प्रसार से लोगों में यह जागरूकता आई है कि पशु-बलि कम हो और इस पशु-बलि के विकल्प खोजने के लिए हमें प्रयासरत होना चाहिए। इस तरह धार्मिक सुधारवादी दृष्टि का विकास लोगों में हो रहा है।

यह बताते हुए पीड़ा होती है कि हमारी जनजातीय संस्कृति, परम्परा, रीति-रिवाज तथा आस्था बड़ी तेजी से लुप्त हो रही है, मानो इन पर किसी की बुरी नजर लग गई हो। इस जनजातीय प्रदेश में धर्मांतरण की अग्नि ऐसी फैली हुई है कि इसकी लपटों में जनजातीय संस्कृति होम हो रही है। कई बार यह देखा गया है कि पूरा गाँव का गाँव धर्मांतरित हो जाता है और फिर उस गाँव में दोबारा कोई स्थानीय पर्व-त्योहार नहीं मनाया जाता। धर्मांतरण के इस प्रचलन ने प्रदेश के प्रबुद्ध जनों को चिंता में डाल दिया। अतः स्थानीय धर्म एवं संस्कृति के संरक्षण के लिए 'इन्डीजीनस फैथ एंड कल्चरल सोसायटी' नामक संस्था का गठन हुआ है। इस संस्था के कार्यकर्ता प्रदेश भर में फैले हुए हैं तथा लोगों में अपनी जनजातीय संस्कृति एवं धर्म के संरक्षण के महत्त्व के संदेश को फैला रहे हैं।

पंजाबी लोकधारा में गालियाँ

अमृतपाल कौर

भाषा के विविध रूप हैं, जिनमें एक रूप है—‘अपभावा’ जिसे अंग्रेजी में स्लैंग (Slang) कहा जाता है। जिसका कोशगत अर्थ है—अश्लील भाषा, गँवारू बोचला, गाली देना। हम यहाँ ‘अपभाव’ के संदर्भ में ही ‘गाली’ शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। सामाजिक दृष्टि से ‘गाली’ को भी दो हिस्सों में विभक्त कर सकते हैं— समाज द्वारा अस्वीकृत और स्वीकृत गाली।

पहले प्रकार की गालियाँ क्रोध आदि की अवस्था में दी जाती हैं, जो लड़ाई-झगड़े में अग्नि में घी डालने का कार्य करती हैं। दूसरे प्रकार की गालियाँ प्रायः विवाह के अवसर पर ‘गाली-गीत’ के रूप में दी जाती हैं। ‘विवाह के समय ससदी (भांवर पड़ना) की विधि समाप्त हो जाने पर या पहले समस्त बारातियों को भोजन कराया जाता है, जिसे ‘जेवनार’ कहते हैं। जेवनार के समय कन्या पक्ष की स्त्रियाँ अपने मधुर कंठ से गीत गाकर समधी अर्थात् वर के पिता का मनोरंजन करती हैं। इस मंगलमय अवसर पर जो गीत गाये जाते हैं, उन्हें ‘गाली’ कहते हैं।’ समधी इन गालियों को सुनने के लिए बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करता है। समधी के अतिरिक्त समधिन, दूल्हा, दूल्हा के जीजा-फूफा इत्यादि गालियों के विशेष निशाने पर होते हैं। गालियाँ बारातियों पर पड़ती हैं, मगर हल्की। कन्या-पक्ष की स्त्रियाँ समधी-समधिन, ननद, जीजा, फूफा, देवरानी तथा जेठानी सभी का पृथक-पृथक नामोल्लेख करके गाली गाती हैं। मुस्कुरा-मुस्कुरा कर बाराती इसका आनन्द लेते हैं।

यह गीत स्वर-लहरी का प्रताप होता है या इन विशिष्ट अवसरों पर हँसी-ठिठोली करने के लिए मिली उदार छूट का, कुछ भी कारण हो, परन्तु इन गालियों में शयन-कक्ष की क्रियाएँ, माँ-बहन के अनुचित वर्ज्य संबंध, एकदम नंगी अश्लील भाषा में गालियों में उखाड़े जाते हैं। इसकी सीमा में सब कुछ सीमातीत है, मगर फिर भी दोनों पक्षों की घूँघट-पगड़ी की मान मरजाद बरकरार, न कोई बुरा मानता है, न शिकायत करता है।

गालियों की प्राचीनता

ऐसा लगता है कि गाली गीत परम्परा उतनी ही प्राचीन है, जितनी विवाह प्रथा। वाल्मीकि रामायण में श्रीराम के जन्मोत्सव पर गीत गाने का उल्लेख है। महाकवि कालिदास के ‘रघुवंश’ में रघु के जन्म के समय नृत्य करने तथा मांगलिक बाजों के बजाने का वर्णन किया गया है।

गोस्वामी तुलसीदास का तो इस मांगलिक वेला में गाली गीतों के साथ खूब मन रमा है। 'राम विवाह में ज्योनार (जेवनार) के अवसर जहाँ स्वादिष्ट व्यंजनों का रस तथा महक है, वहीं कोकिल कंठ से फूटी गाली गीतों की मधुर ध्वनियाँ कानों में रस घोल रही हैं। ऐसा लगता है तुलसी ने लोक की आत्मा को उड़ेल दिया है।'

गोस्वामी जी लोक परम्परा से पूर्णतः परिचित हैं-

जैवत देहिं मधुर धुनि गारी। लै लै नाम पुरुष अरु नारी।।

बूढ़े-बाबा राजा दशरथ इन गालियों को सुनकर आनन्द मग्न हो रहे हैं-

समय सुहाविन गारि विराजा। हँसत राउ सुनि सहित समाजा।।

इन गालियों की गीत-गंगा की परम्परा थोड़े बहुत अन्तर के साथ पूरे भारत में देखने को मिलती है। पंजाब प्रांत भी इसका अपवाद नहीं है। जहाँ पंजाबियों का जीवन के अन्य पक्षों में परिचय है, वहाँ गाली-गीतों में भी पीछे नहीं है।

अपभाषा के जिस रूप को सामाज में स्वीकृत दी गई है। उनमें आखान, बोलियाँ और सिठणी आती हैं। यहाँ हम सिठणी के विषय में बात करेंगे। सिठणी एक ऐसी गाली है, जो है तो कडुवा नीम, किन्तु उसका स्वाद मधु जैसा होता है। इस प्रकार की गालियाँ अधिकतर विवाह के अवसर पर ही दी जाती हैं। इन मीठी गालियों की परम्परा प्राचीन ग्रंथों में भी पाई जाती है। रामायण काल से ही इन गाली गीतों का प्रयोग चला आ रहा है।

सभी स्थानों पर इन गाली गीतों का प्रयोग अपनी प्रांतीय भाषा में होता है, इसलिए इनको विभिन्न नामों से जाना जाता है। पंजाबी में इन गाली-गीतों को हम सिठणियाँ कहते हैं। इनका बाह्य ढांचा क्षेत्र-विशेष के हिसाब से भले अलग-अलग हो, पर मूलतत्त्व एक ही है।

सिठणी विवाह के समय दी जाने वाले घी की तरह लगने वाली गाली है, जो नये संबंधी और खासतौर पर 'नानके' (ननिहाल) वालों के लिए होती है।

सगुनों के गीतों की भाँति सिठणी विवाह से संबंधित स्त्रियों की ओर से गाया जाने वाला गीत का रूप है, जिसमें दूसरे पक्ष को आर्थिक, शारीरिक और चारित्रिक सभी पक्षों से हीन बनाया और बताया जाता है। इससे सिठणी देने वाले को-दूसरे पक्ष को ठिठोली

करके 'सकून' मिलता है। सिठणी एक पोली सी गाली है। सिठणी देने की जो रीति है वो गाली और दुआ से संबंधित है।

डॉ. बणजारा बेदी ने सिठणी के लोक धारक महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा है- 'प्रेत रूहां दे करूर प्रभाव तो बचन लई जन्झ दे दुकाव वेले गाली गलोच, अयोग बचन जा भण्डी भरे बोलां नूं प्रयोग करन दा रिवाज सी..... बोल कबोल और ठिठ करन दी रीत किसे आदिम रीत दा सहज विकास है।'

भाव कि सिठणी के माध्यम से जो बोल-कबोल और गाली दी जाती है, वो सब वर पक्ष को बुरी आत्माओं से बचाने के लिए किया जाता है। लोक का विश्वास है कि ऐसा करने से बुरी आत्मा और बुरी नजरों से बचाव होता है।

पंजाबी लोक गीतों में गालियों के माध्यम से पंजाबी लोगों के खून में गर्मी का प्रमाण मिलता है। पंजाबी गुस्से के साथ-साथ प्यार में भी गाली देते हैं। कुछ लोग तो अपनी बात गाली के बिना अधूरी मानते हैं, उनका लोक व्यवहार गालियों के साथ चलता है। प्यार से दी गाली मलाई और लड़ाई में दी गाली गोली की भाँति लगती है। जैसे किसी पर व्यंग्य किया जाता है, जिसमें सामने वाले को बुरा भी नहीं लगता। पंजाब में बहुत सी गालियाँ लोक प्रिय हैं, जिनमें सबसे अधिक प्रिय गाली 'साला' है।

सिठणी के विषय में डॉ. बणजारा बेदी का कथन है कि - 'जन्न दे दुकाअ वेले कन्या पख्य वाले सिठणिआं बोलदे हन। इनां गीतां बिच हास रस ते व्यंग्य हुंदा है ते लाड़े, उस दे अंगां साका ते बरातिआं दा हासा उड़ाइआं जांदा है। पर इनां गीतां दा कोई बुरा नहीं मनांदा।'

साधारण शब्दों में हम सिठणियों को विवाह के अवसर पर वर पक्ष को गीत के रूप में दी जाने वाली मीठी गाली कह सकते हैं, जिसमें वर पक्ष पर व्यंग्य है और मजाक किया जाता है, जिसका कोई बुरा नहीं मानता। इनमें वर पक्ष को नीचा दिखाने की कोशिश की जाती है, क्योंकि वर पक्ष का दबाव हमेशा अधिक होता है। भले ही इनका कोई मनोवैज्ञानिक आधार हो, परन्तु यहाँ उस विषय में कहना संभव नहीं है।

सिठणी से भाव- सिठणी विवाह के समय लड़की वालों की ओर से वर पक्ष पर व्यंग्य और शरारत से भरपूर गीत है, जिसमें दूसरे पक्ष को नीचा दिखाने की चेष्टा की जाती है। सिठणी में प्रहार करने के मुख्य बिन्दु हैं- शरीरिक बनावट, आर्थिक स्थिति

और परिवार की औरतों के चरित्र। मुख्य रूप से सिठणियों में इन तीन बिन्दुओं की प्रधानता रहती है। सिठणी को माध्यम बनाकर स्त्रियाँ अपने भीतर की भड़ास को निकाल लेती हैं। सिठणियाँ देते समय वर को भी छोड़ा नहीं जाता। उसके माता-पिता और बहनों सबको सिठणियाँ दी जाती हैं। विवाह के समय लड़की और लड़के के घर में नानके (ननिहाल) वालों का स्वागत सिठणियों से ही किया जाता है। आगे हम सिठणियों के विषय में बात करेंगे-

की गाल पुछां लाडेआं वे, की गल्ल पुछां वे,
न तेरे दाढ़ी भाऊंदूआं वे, न तेरे मुछां वे,
बोक दी ला लै दाढ़ी, चूहे दीआं मुछां वे।

इस गीत में लड़की की सखियाँ वर की शारीरिक बनावट पर सिठणी के माध्यम से उसे कहती हैं कि न तो तेरे मुख पे दाढ़ी है और न मूँछ है। वे उसको बोक की दाढ़ी और चूहे की मूँछ लगा लेने का सुझाव देती हैं।

कदे न बाहिआं लाडेआं बोदिआं,
वे कोई कदे न लाएआं वे तेल।
तेरे वरगे बौरीए वे कोई साढ़े मैलीं बेचदे,
वे गुस्सा जरा मत करीवे बेर।

इसमें वर की जुलफों के विषय में कहती हैं कि उसने कभी सिर के बालों को न तेल लगाया और न ही कंघी की है। उसके जैसे भोंदू उनके महलों में बेर बेचते फिरते हैं।

विवाह के अवसर पर जहाँ वर की तारीफ में कोई कमी नहीं छोड़ी जाती, वहीं वर के पिता की ऐसी तारीफ की जाती है जैसी किसी ने कभी की नहीं हो-

टके तां कुडमां घर बिच भुलिआं,
ते गहणे भुल गया बिच बाजार,
हुण जोरू दी घघरी बेच के,
साढे करदे पूरे विहार।

लड़के अथवा वर के पिता को पंजाबी में कुडम कहते हैं। इस सिठणी में कहा गया है कि बेटे के विवाह पर पैसे लेकर आना भूल गया और जेवर बाजार में भूल आया। अब उसे व्यवहार तथा रस्में निभानी हैं। उनको पूरा करने के लिए उसको अपनी पत्नी की घघरी अर्थात् घाघरा (लहंगा) बेच देना पड़ेगा। तब जाकर वो रस्मों और व्यवहारों को निभा सकेगा। सिठणी के द्वारा कुडम

(समधी) की बुद्धि पर तीखा व्यंग्य कसा है। साथ ही व्यंजना के माध्यम से कुडमिनी (समधिन) को मीठी सी गाली भी दे दी है।

कुडमां खड़ा वे खलोता तेरा लक थक्कजू,
गैल जोरो नूं खड़ां लै वे अडोकन लग जू।

इस सिठणी में कुडम की शारीरिक हालत कमजोर बताकर उसको कहा गया है कि अकेले खड़ा होने से उसकी कमर में दर्द होने लग जाएगा। उसको अपनी जोरू अथवा पत्नी का सहारा लगा लेने की सलाह दी गई है।

इस सिठजी में कुडम की शारीरिक दुर्बलता पर ही चुभती चुटकी नहीं है, बल्कि कुडमिनी (समधिन) के मोटेपन का उपहास है। इनमें अधिकांश मार व्यंजना के द्वारा पड़ रही है।

इन गालियों की श्रेणियाँ भी हैं-जैसे अच्छी गाली, बुरी गाली, बकनी गाली और कुफर बकनी गाली होती है। बकनी गालियों में तो कुछ भाषा का संयम होता भी है, कुफर बकनी गालियों में हँसी-ठिठोली के साथ कानों में उंगली लगानी पड़ती है। निम्न सिठजी बकनी गाली का अच्छा उदाहरण है-

कटोरा कांसी दा बनदा, कटोरा कांसी दा बनदा,
लाडा बड़ा 'लड़ाकेदार, मां दा खसम भैण दा यार
पुत मरासी दा बनदा, धगड़ा चाची दा बनदा
कटोरा कांसी दा बनदा, कटोरा कांसी दा बनदा।

इसमें गालियाँ दे-देकर दूसरे पक्ष के पवित्र रिश्तों पर प्रहार किया गया है, उनकी पवित्रता पर वार कर उनको अपवित्र बताया गया है। इस सिठणी में वर को लड़ाई करने वाला लड़ाका, माँ का खसम, बहन का यार, मरासी का पुत्र और चाची का धगड़ा इत्यादि गालियाँ दी गई हैं। वर पक्ष का उपहास उड़ाया गया है। ये गालियाँ केवल दूल्हा को ही अपनी लपेट में नहीं लेती, बल्कि इनका गहरा सेक (तपस) माँ, बहन और चाची को भी लगता है।

विवाह के अवसर पर सिठणियों के रूप में गाली-गलोज भरपूर दिल खोलकर किया जाता है, इससे पंजाबी लोगों के जीवन के खुलेपन को देखा जा सकता है। पंजाबी स्त्रियाँ भी ऐसे समय पीछे नहीं रहती-

लाडेआं कल्लडां क्योँ आएआं वे तू अज्ज दी घड़ी,
नाल अम्मां नूं न ले आएआं वे अज्ज दी घड़ी,
तेरी बेबे साढ़ा बापू, जोड़ी अबज बनी।

वर को इस दिन चाहकर लिया जाता है। उसकी अपनी प्रशंसा के साथ-साथ उसके परिवार की भी खूब खिंचाई की जाती है। जैसाकि कहा गया है कि वर आज अकेला क्यों आ गया? साथ में अपनी माँ को लेकर क्यों नहीं आया? उसकी माँ के साथ लड़की का पिता खूब जंचता, बड़ी अच्छी जोड़ी बनती।

वर पक्ष को सिठणियाँ देने की परम्परा बहुत प्राचीन है। इसका एक कारण तो वर को बुरी नजरों से दूर रखने के लिए हमारी सीमा के बाहर की बातें बोली जाती है।

दूसरा कारण ये हो सकता है कि लड़की वालों को सारी जिन्दगी झुक कर काटनी पड़ती है, उनके पास एक विवाह का दिन होता है, जब लड़की वाले वर और उसके परिवार को नीचा दिखा सकते हैं, उनकी आर्थिक स्थिति और चरित्र पर व्यंग्य कर सकते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक पहलू है।

तैनु जन्झ छुटाउणी न आई
कच्चा हो के वह वे गया
तैनुं भैण देनी न आई
कच्चा हो के वह वे गया
तैनुं लाड़ेआं शर्म न आई
बन्ही रोटी खा वे गया।

कुछ समय पहले विवाह के समय जब वर पक्ष के लोग भोजन के लिए आते थे, तो एक रस्म होती थी - जिसको पंजाबी में जन्झ बन्ना कहा जाता है। इसमें लड़की वालों की ओर से भोजन को कुछ मंत्रों द्वारा बांध दिया जाता था और वर अथवा उसके नाते वालों को इस भोजन को खोलना होता था, फिर भोजन ग्रहण करना होता था। इसको लेकर लोक का विश्वास था कि बांधा भोजन ग्रहण करना बुरा होता है। इसलिए वर की सिठणी दी गई है। दूल्हा स्वयं तो किसी की बहन-बेटी ब्याहने आया है, लेकिन यहाँ गाली के रूप में उसे कहा जा रहा है कि तुझे अपनी बहन देनी नहीं आई।

विवाह के अवसर पर जहाँ वर पक्ष को अपनी प्रशंसा सुनने को मिलती है, वैसे ही नानके मेल (ननिहाल के लोगों का आना) की स्थिति होती है। वर के आंगन में पाँव रखते ही उनका जो स्वागत किया जाता है, उसको भूला नहीं जा सकता। इसमें कभी-कभी मुकाबला भी हो जाता है, उस समय सबको आनन्द की अनुभूति होती है। विवाह में नानकों का स्वागत सिठणी के माध्यम से किया जाता है-

उठ नी बीबी सुत्तीए, नी मामे तेरड़े आए,
मामियां चुनियां चुनियां, मामे सूरु दे जाए।

इसमें ननिहाल वालों के आने की सूचना विवाह वाली लड़की को दी जाती है, जिसमें उसके मामे, मामियों की सुन्दरता के विषय में बताकर उनकी हँसी उड़ाई जाती है।

छज्ज ओहले छालनी परात ओहले तवा वे
नानिकां दा मेल आएआ
सूरियां दा रवां वे।

कहीं नानको (ननिहाल वाले) को सूरु की भाँति कुरूप बताया जाता है और कहीं उन सबको बेचजे कहा गया है।

मामी कंजरी दा ढोला
साढ़े दर पर नूं जावे
जीता हाकां मारे मुडियां रन्ने बदकारे
ओह तां मोडी न मुडदी
जांदी मुन्दिआं दे नाले।

इसमें मामी के चरित्र पर चोट की गई है, उसको चरित्रहीन तक कह दिया गया है। वह अपने ऊपर लगाए झूठे इलजामों का कोई बुरा नहीं मानती, क्योंकि उसकी ननाण के बेटे अथवा बेटे का विवाह है, उसको खुशी ही इतनी है कि उसे किसी बात का बुरा नहीं।

हुण किधर गईआं नी
बीबी तेरीआं नानिकां
खाधे सी लड्डू जम्मे सी डड्डू हुण
छपडां ते गईआं नी
बीबी तेरीआं नानिकां।

नानके मेल को खाते समय भी ताने सुनने पड़ते हैं। अगर लड्डू खा लिए तो उनके लड्डू (मेढक) पैदा कर दिए गए। उनको छोड़ने के लिए उन्हें छपडों में भेज दिया गया।

अंत में कह सकते हैं कि हमारे समाज में न गाली देना भलमनसाहत में शामिल है और न गाली खाना चरित्र का प्रमाण पत्र ही है। गालियाँ कोई मेल-मिलाप की भाषा भी नहीं, ये लड़ाई-झगड़े और बादलों की गर्जना हैं। ये वाक् युद्ध के हथ गोले हैं। आपसी झगड़े-टंटों के समय तो ये गालियाँ धधकते अग्नि कुण्डों में घी की आहुति हैं। कोई देकर तो देखे मुँह पर गाली सुनने वाला सात पुशतों की खबर ले डालेगा।

मगर हमारे भारतीय समाज में ब्याह-शादी के अवसर पर वर पक्ष अकसर उकसाकर गालियाँ खाना चाहता है। यदि गालियाँ न दी जाए तो स्त्रियों पर फबतियाँ जड़ दी जाती हैं। बिना गालियों के छप्पन प्रकार के व्यंजन फीके लगते हैं। इनका कोई बुरा नहीं मानता। गाली-गीतों के व्यंग्य, व्यंजना और अचरज भाव गालियों

की अभिव्यक्ति को सक्षम, गोपनीय तथा मनोरंजक बनाते हैं। बेटा ब्याहने आये समधी का स्वागत ही गालियों से होता है। इन गाली-गीतों का अपना आचार शास्त्र ही नहीं, सौन्दर्य शास्त्र, कला और शब्दावली भी है। ये गाली-गीत लोक मानस की सम्पूर्ण सहज बेरोक अभिव्यक्ति हैं।

सन्दर्भ -

1. डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, लोक गीतों में गाली की परम्परा तथा अश्लील प्रसंग (आलेख) (सम्पा.-जगदीश पीयूष) लोक साहित्य सरस प्रसंग, पृ-9
2. मालती शर्मा, गालियों की गीत गंगा (आलेख) लोक साहित्य सरस प्रसंग (सम्पा.-जगदीश पीयूष) पृ. 75
3. डॉ. रामनिवास शर्मा, लोक साहित्य का लोकतत्त्व, पृ. 79
4. रामचरितमानस-1/328/4,1/325/3
5. नानके (ननिहाल) वाले विवाह के अवसर पर जो शगुन रूप में सामान लेकर आते हैं, उसे पंजाब में 'नानक छक' कहा जाता है। उत्तर प्रदेश में इस रस्म को 'भात' कहते हैं।

रागनी का उद्भव और विकास

डॉ. राजेन्द्र गौतम

हरियाणवी साहित्य का व्यापक अध्ययन-विश्लेषण बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही आरंभ हो गया था। इसके बावजूद इसके प्रमुख घटक रागनी-काव्य का सम्यक् मूल्यांकन नहीं हो पाया है। हरियाणवी साहित्य के आलोचकों ने तत्समता के मोह में प्रायः 'रागिनी' शब्द का प्रयोग किया है, पर जैसा कि आगे स्पष्ट होगा- हरियाणवी काव्य के संदर्भ में 'रागनी' शब्द का एक विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ है, जो संस्कृत 'रागिनी' शब्द से अंतर रखता है। इसीलिए हमने यहाँ विशेष पारिभाषिकता से सम्पन्न 'रागनी' शब्द का प्रयोग ही उचित समझा है।

रागनी-काव्य का एक बड़ा अंश हरियाणवी साहित्य की प्रमुख नाट्य-विधा सांग में उपलब्ध होता है। कुछ नायक एवं नायिकाओं से जुड़ी लोकगाथाएँ कई बार इतनी लोकप्रिय हो जाती हैं कि वे उनके नामों से ही जानी जाने लगती हैं। 'आल्हा' और ढोला इसके एक प्रसिद्ध उदाहरण हैं। यही कारण है कि हरियाणवी सांगों को 'नौटंकी' से अभिन्न मानने की भी एक परम्परा है। इन्हें स्वांग तथा 'सांगीत' भी कहा गया है। एक अन्य प्रसिद्ध नायिका 'सोरठ' के नाम से इस विधा को कई बार सोरठ भी कहा गया है। हरियाणवी सांगों के प्रस्तुति-पक्ष का इतिहास तो कई शोधकर्त्ताओं ने विस्तारपूर्वक लिखा है, पर इसके काव्य-घटक रागनी का क्रमिक इतिहास-लेखन और उसके काव्य-वैभव का मूल्यांकन अब तक नहीं के बराबर हुआ है। शिक्षित समुदाय तो लम्बे समय तक रागनी को अश्लील गायन ही मानता रहा। दूसरी ओर कई समीक्षक इसे लोकगीत मात्र बतलाते रहे हैं। ये भ्रांतियाँ जन-साधारण में ही नहीं रही हैं, अपितु अधिकतर शोधकर्त्ता भी इनके शिकार हुए हैं। रोचक यह है कि इन दोनों भ्रांतियों के बीज हरियाणवी काव्य पर हुए शोधकार्य के पुरोधा डॉ. शंकरलाल यादव के कथनों में ही मिल जाते हैं। उनका शोधकार्य 1950-51 में शुरु हुआ था। डॉ. यादव के अनुसार सांगी ('सांग' का रचयिता) का गीत प्रेम और यौवन से ऊपर नहीं उठता। वे मानते हैं कि 'पुरंजन-पुरंजनी' (पं० लखमीचन्द), 'शीला सेठानी' (पं० नेतराम) तथा हरिशचन्द्र (सरूपचंद) सांगों को छोड़कर शेष सभी सांग 'नग्न श्रृंगार की मंजूषा' हैं। उनके अनुसार इन सांगों में इतना खुला श्रृंगारिक एवं विलासितामय वर्णन होने लगा है कि लज्जा भी लजा जाती है।' कहा जा चुका है कि रागनी हरियाणवी सांगों का प्रमुखतम घटक है, अधिकतर सांगों का तो प्रामाणिक अंश भी वही है। अतः डॉ. यादव का सांग-विषयक मंतव्य उनके रागनी-विषयक मंतव्य का भी व्यंजक है। यह सही है कि लंबे समय से मेले-ठेलों में अश्लील रागनियों का भी प्रचलन रहा है और गत तीन दशकों से

इलैक्ट्रॉनिक मीडिया में भी द्वयर्थक अश्लील रागनियों का ही बाजार गर्म है, लेकिन इस आधार पर रागनी विधा को ही अश्लील घोषित नहीं किया जा सकता। पटरी पर पिन लगी बहुत-सी पुस्तकें उपन्यास के नाम से बिकती हैं। क्या इससे प्रेमचंद के उपन्यास भी उन्हीं की कोटि में चले जाएँगे?

रागनी को लोकगीत मानना भी एक भ्रान्त स्थापना है। डॉ. यादव मानते हैं कि 'रागनी एक लोक गीत है, जो कुछ पंक्तियों में समाप्त हो जाता है'।^१ 'हरियाणा-संवाद' के 1 सितम्बर, 1980 के अंक में प्रकाशित अपने लेख 'हरियाणवी रागनी काव्य के मूल्यांकन की समस्याएँ' में हमने रागनी को लोकगीत मानने की भ्रान्ति के निवारण का प्रयास किया है। डॉ. यादव का हरियाणवी लोक-साहित्य में ऐतिहासिक योगदान है, परन्तु निष्पक्ष अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि हरियाणवी रागनी के संबंध में उनकी उपर्युक्त दोनों धारणाएँ सही नहीं हैं और ये इसके अध्ययन को दिग्भ्रमित करती हैं।

रागनी का अर्थ

रागनी संज्ञा का प्रयोग दीर्घकाल तक बहुत लचीलेपन के साथ अनेक संदर्भों एवं अनेक रूपों में होता रहा है। हरियाणवी में प्रचलित यह शब्द रागिनी का तद्भव रूप है। हरियाणवी में इसका 'रागणी' रूप भी मिलता है। रागनी के अर्थ को जानने के लिए हमें तत्सम 'रागिनी' का अर्थ जानना होगा। 'संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ' के अनुसार रागिनी शब्द की व्युत्पत्ति रज् धातु से हुई है। इस कोश के अनुसार 'रज्+घिनुण्' वा 'रागो स्य अस्ति,' राग+इनि। 'इस प्रकार रागिनि में डीप् प्रत्यय लगने से रागनी शब्द बना है। 'नालन्दा शब्द सागर' में रागनी के गान-भेद, संगीत में किसी राग की पत्नी, जयश्री नाम की लक्ष्मी, विदग्ध स्त्री और मेना की बड़ी कन्या - ये पाँच अर्थ दिए गए हैं। स्पष्टतः हमारा सम्बन्ध प्रथम दो से ही है। राग एवं रागनियों का सम्बन्ध हरियाणवी कवि शंकरदास ने अपनी 'होली' में यों दिखलाया है -

होली सुण के अर्थ लगा रे

तीस रागनी छः रागों की हमें बताओ उतपत्ती

सप्त सुरों के जीवन मैं बसणा इक्कीस मूर्छन शुभ मती

राग से उत्पन्न रागिनी शब्द संगीतमय आलाप का व्यंजक रहा अवश्य है, पर हरियाणवी काव्य में रागनी के रूप में आरंभ से ही इसका अर्थ 'गीतमय काव्य-रूप' लिया जाता रहा है।^१ डॉ. हरिश्चन्द्र बन्धु ने स्पष्ट किया है कि 'रागिनी राग शब्द का स्त्रीलिंग

रूप है। संगीत-शास्त्र के अनुसार समस्त गायन-कला का विकास भैरव, मालकोस, दीपक, मेघ, हिंडोला और श्री - इन छः रागों से हुआ है। संगीत-शास्त्र में रागिनी संगीतमय आलाप का अर्थ देती है। लोक में मूलतः इसी अर्थ का ग्रहण है, परन्तु एक काव्य-रूप के संदर्भ में हरियाणवी कवि ने उसे एक अतिरिक्त अर्थ भी प्रदान किया है। मूल अर्थ में रागनी निश्चित संख्या के विभिन्न सरगमों में बंधे अनिश्चित संख्या के अक्षरों एवं मात्राओं से निर्मित 'बोलों' का आलाप है।^{१५}

लोक-प्रचलन और अर्थ-वैशिष्ट्य के आधार पर हम यहाँ 'रागनी' शब्द का ही प्रयोग कर रहे हैं, पर उद्धरणदि में 'रागिनी' का प्रयोग भी इसी अर्थ में हुआ है।

रागनी का स्वरूप

रागनी के स्वरूप की व्याख्या इसके स्थिरीकृत रूप के आधार पर करना ही उचित है। रागनी एक गीत-रचना है। यह संदर्भ-विनिर्मुक्त रूप में स्वतः पूर्ण भी हो सकती है और किसी प्रबंधाख्यान की भावपूर्ण प्रस्तुति का माध्यम भी। परन्तु प्रबंधांश होने की स्थिति में भी इसका एक निश्चित आद्यन्त स्वरूप है। बीसवीं शताब्दी से पूर्व गौण रूप में और बीसवीं शताब्दी से अब तक मुख्य रूप से यह सांगों का संरचनात्मक ढाँचा तैयार करती रही है। रागनी की रचना सांगों से अलग स्वतन्त्र रूप में तो हुई ही है, सांगों में अन्तर्भुक्त रागनियाँ निरन्तर स्वतन्त्र आस्वादन का विषय भी रही हैं। डॉ० पूर्णचन्द्र शर्मा ने रागनी को एक छन्द कहा है।^{१६} पर यह सही और तर्कसंगत नहीं है। रागनी को छंद कहने की एक रूढ़ि रही जरूर है, पर वस्तुतः रागनी एक काव्य-रूप है। इसमें ताटक, सार, चौपाई आदि अनेक छन्दों का प्रयोग तो है, पर स्वयं में यह कोई एक निश्चित छन्द नहीं है। कुछ कवियों ने एक या दो विशिष्ट छन्दों का ही प्रयोग रागनी में किया है, परन्तु वे ही छन्द समूचे रागनी-काव्य में व्यवहृत नहीं हुए हैं। शायद 'सांग राजा रत्नसेन का' की रागनियों में कुछ विशिष्ट छन्दों का ही प्रयोग पाकर पं० स्थाणुदत्त जी ने भी रागनी को छंद कहा है।^{१७} रागनी को छंद मानने की परिपाटी का कारण यह है कि काव्य-रूप और छन्द का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुछ छन्द तो काव्य-रूप का ही पद पा लेते हैं। यथा - हरियाणवी में दोहा और सवैया। यहाँ तक कि अनेक ऐसे पद जिनमें पिंगलानुसार दोहा और सवैया नहीं हैं, उन्हें भी अपने विशिष्ट मुक्त ढाँचे के अंतर्गत हरियाणवी कवियों ने दोहा और सवैया कहा है। हरियाणवी रागनियों का छन्द-विधान लोकपरक है। काव्य-रूप और छन्द की यह मिश्रित एवं अस्पष्ट विभाजन

की स्थिति सन् 1800 से लेकर 1920 तक के हरियाणवी काव्य में चौबोला, कड़ा, बारहमासा, मुखताल, दौड़, काफिया, टप्पा, झूलना, ख्याल, लावनी, झड़ी, रागनी आदि में मिलती है। ऐसा मिश्रण लोकपरक काव्य में स्वाभाविक है। निस्संदेह हरियाणवी रागनी-काव्य का छंद-विधान लोकपरक है।

रागनी की संरचना

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में रागनी ने जो शैलिक परिपक्वता अर्जित की है, उसी के आधार पर रागनी के बहिरंग का निर्धारण करना उचित है और इस आधार पर रागनी के तीन प्रमुख घटक हैं - टेक, कली और तोड़। यहाँ एक रोचक तथ्य हमारे सामने आता है। मध्यकालीन हिन्दी काव्य में गीत-रचना पद शैली में ही हुई है। खड़ी बोली के आगमन एवं छायावाद के साथ गीत की एक नवीन पद्धति जन्म लेती है। आधुनिक कविता के कुछ आलोचकों के द्वारा लोक-साहित्य का अध्ययन किए बिना ही यह निष्कर्ष निकाल लिया जाता है कि गीत की इस शैली का विकास पश्चिमी साहित्य के प्रभाव से हुआ है, जबकि तथ्यों का विश्लेषण प्रमाणित करता है कि आधुनिक गीतिकाव्य में स्थायी एवं अन्तरा की वही शैली प्रमुखता प्राप्त करती है, जिसके चरण-नियोजन एवं पद-संरचना का स्वरूप हरियाणवी रागनी-काव्य ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक अर्जित कर लिया था। इससे संकेत मिलता है कि आधुनिक हिन्दी की भाषा-संरचना पर ही नहीं, काव्य-रूपों के विधान पर भी हरियाणवी काव्य का प्रभाव रहा है।

टेक - रागनी के पूर्वोक्त तीन घटकों में टेक का प्रमुख स्थान है। इसे संगीत-शास्त्र में 'स्थायी' भी कहा गया है। टेक की आवृत्तिमूलकता रागनी को गीतात्मक स्वरूप प्रदान करती है। घटना-व्यापार के चित्रण के संदर्भ में रागनी का स्वरूप जहाँ प्रगीतपरक रहता है, वहाँ भावावेग की तीव्र अभिव्यक्ति उसे शुद्ध गीत-काव्य में ढालती है। दोनों ही स्थितियों में इसमें आरम्भ में एक ध्रुव पंक्ति या टेक रहती है। रचना का मूल कथ्य टेक में घनीभूत रहता है। छन्द के अनुरूप रागनी की टेक में एक अथवा एकाधिक चरण रहते हैं।

अन्तरा - संगीत एवं काव्य में 'अन्तरा' के नाम से जाने जाने-वाले गीतांश को हरियाणवी काव्य में 'कली' कहा गया है। क्रमशः भाव-प्रस्फुटन के कारण ही अनुवर्ती पदों को कली कहा गया होगा। रागनी की विभिन्न शैलियों के अनुरूप कली में दो, तीन, चार या छः चरण रखे जाते हैं। रागनी की कलियों में उत्तरोत्तर

भाव-संघनन के साथ-साथ स्थिति-विशेष में संवादात्मकता अथवा वर्णनात्मकता भी रहती है।

तोड़ - 'तोड़' मूल रूप में अलगाव का परिचायक है, परन्तु उसमें एक भाव-संवेद्य विषय कली-विशेष में चरम तक पहुँचता है। तदनन्तर अन्तरे के बाद स्थायी की आवृत्ति रहती है। रागनी की प्रत्येक कली के साथ तोड़ में उसकी चरम परिणति व्यंजित कर कवि उसकी गीत-शक्ति अक्षुण्ण रखता है। तोड़ का अन्त्यानुप्रास स्थायी से मिलता है। उपर्युक्त तीनों घटकों से सम्पन्न रागनी का स्वरूप निम्न अंश से स्पष्ट होता है -

*टेक : पड़ी बिपत लक्कड़हारे पै, दया करो गोरी म्हारे पै
गंगा जी के कंटारे पै, थहारी क्यूकर रात कटै।*

कली : मैं मरज्याँ गा मार कै दूण, तोड़ कै मोह ममता के जूण।

*तोड़ : कूण करै खाणे-पीणे की, क्यूँ बहू बणी मुझ हीणे की।
मरज्याणी तरे मरणे-जीणे की, आड़ै क्यूकर खबर पटै।*

रागनी का उद्भव

रागनी हरियाणवी काव्य का विशिष्ट अभिव्यक्ति-रूप है। मध्यकाल में हिंदी क्षेत्र में ब्रज और अवधी को काव्य-भाषा के रूप में अधिक स्वीकृति मिली है, तथापि हरियाणवी में काव्य-रचना के प्रमाण तो दसवीं शताब्दी से ही उपलब्ध होते हैं। खुसरो ने पानीपत के आसपास की जिस भाषा को देहलवी कहा, वह हरियाणवी का ही एक रूप है। प्रो. मंजूर एहतेशाम और प्रो. गोपीचंद नारंग जैसे विद्वानों ने ग्यारहवीं से पंद्रहवीं शताब्दी के बीच खड़ी बोली और उर्दू के विकास में 'हरियाणी' (हरियाणवी का ही दूसरा नाम) का महत्वपूर्ण योगदान स्वीकार किया है। प्रो. नारंग ने इस काल में हरियाणवी के अस्तित्व को स्थापित करते हुए लिखा है- 'भाषावैज्ञानिक अनुसंधानों के संदर्भ में यह बात अब निश्चित रूप से जान ली गई है कि उस समय हरियाणा, दिल्ली और पश्चिमी उत्तरप्रदेश में शौरसेनी अपभ्रंश की प्रधानता थी।... निश्चय ही प्रत्येक अपभ्रंश में गौण प्रादेशिक विशेषताएँ भी विद्यमान रही होंगी, जिन्होंने संबंधित प्रदेशों की बोलियों को जन्म दिया होगा। जब हमें भली प्रकार विदित है कि ब्रजभाषा की परम्परा अकबर से भी पहले की है... यही स्थिति दिल्ली और उसके आसपास की बोलियों की भी होगी, जिन्हें आगे चलकर खड़ी बोली और हरियाणी के नाम से अभिहित किया गया।' वह बात दूसरी है कि मध्यकाल तक हरियाणवी में रची गई साहित्यिक सामग्री की उपलब्धता अब

अत्यल्प है। दूसरे, 20वीं शताब्दी तक जहाँ तुलनात्मक रूप में रागनी से इतर काव्य-रूपों का प्रयोग हरियाणवी काव्य में हुआ है, वहाँ सत्रहवीं शताब्दी तक रागनी की उपस्थिति के चिह्न प्रायः प्राप्त ही नहीं होते। सांगों के विकास के संदर्भ में पण्डित मांगेराम की एक बहु-उद्धृत रागनी यह तो प्रमाणित करती है कि हरियाणवी सांगों का इतिहास आज से लगभग 250 वर्ष पुराना है, पर रागनी का इतिहास भी इतना ही पुराना है, यह इससे प्रमाणित नहीं होता, क्योंकि सांग की प्रस्तुति लम्बे समय तक दोहा, कड़ा, चौबोला, काफिया आदि के माध्यम से होती रही है। हाँ, वेशभूषा एवं अभिनय पर की गई टिप्पणियों के अतिरिक्त इसमें गौणतः रागनी के विकास पर टिप्पणी की गई है। इसके अनुसार दीपचन्द के काल में (सन् 1900 के आसपास) 'चौमोलों को भूलने एवं न्यारे छन्द को अपनाने' की चर्चा है। उस न्यारे छन्द को कापिया कहा गया है और दीपचन्द के बाद आने वाली हरदेवा-बाजे की पीढ़ी द्वारा 'तीन कापिये छोड़कर इकहरी रागनी' को अपनाने की बात कही गई है।

श्री मांगेराम की पूर्वोक्त रागनी के अतिरिक्त हरियाणवी साहित्य के अध्येताओं एवं शोधकर्ताओं ने भी रागनी के उद्भव के विषय में टिप्पणियाँ की हैं। डॉ. शंकरलाल यादव, पण्डित लखमीचन्द को रागनी का जन्मदाता मानते हैं।¹⁰ रागनी के वर्तमान रूप के जनक का गौरव श्री रामनारायण अग्रवाल ने भी लखमीचन्द को ही दिया है।¹¹ जबकि सांग के परिप्रेक्ष्य में कई सांगियों ने दीपचन्द को इसका आदि प्रयोक्ता माना है।¹² उधर श्री देवीशंकर प्रभाकर ने हरदेवा को रागनी को प्रथमतः मंच पर लाने का श्रेय दिया। उनका कथन है- 'हरदेवा ने अपने गुरु दीपचन्द की जहाँ चौबोला शैली को निबाहा, वहाँ पहली बार रागनी को मंच पर लाने का श्रेय इन्हीं को जाता है। आगे चलकर रागनी और 'ख्याल शैली' का प्रयोग उनके समकालीन बाजे भगत तथा अन्य लोक गायकों ने भी किया।¹³

रागनी के इतिहास से जुड़ी इन टिप्पणियों का एक ही पक्ष मान्य है कि सांग में रागनी के प्रयोग का प्रचलन दीपचन्द एवं लखमीचन्द के युग में विशेष रूप से हुआ है, परन्तु निःसंदेह ये कवि रागनी के जन्मदाता नहीं हैं और इनका ऐसा दावा भी नहीं है। रागनी का अस्तित्व इनसे बहुत पहले से था। आर.सी. टेम्पल ने 'दी लिजेंड्स ऑफ पंजाब' में जिन सांगों का संग्रह किया है, उनमें रागिनियाँ भी बीच-बीच में गीत रूप में विद्यमान रही हैं। इससे प्रमाणित होता है कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में किशनलाल भाट, बंसीलाल, अम्बाराम तथा अन्य सांगियों ने भी कुछ रागनियों की रचना की है। भले ही इन

सांगों में अन्य रूपों की तुलना में रागनियों की संख्या कम हो, पर सन् 1700 से 1850 तक सांगों की अति समृद्ध मौखिक परम्परा रही है। सन् 1992 में केलिफोर्निया यूनिवर्सिटी से बर्कले की सुश्री कैथरीन हन्सेन की एक पुस्तक "Ground for Play : Nautanki Theatre of North India" प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक की लेखक ने 1984 से 1987 तक भारत में रहकर शोध करते हुए और साथ ही "Indian Office London" तथा "British Museum Library" से तथ्य जुटाते हुए 'सांगीत' एवं 'नौटंकी' के संबंध में कई बहुत महत्वपूर्ण सूचनाएँ दी हैं।

प्रस्तुत लेखक ने सुश्री कैथरीन हन्सेन से संवाद स्थापित कर उनसे उनके द्वारा 'नौटंकी' साहित्य पर किए गए शोधकार्य की पद्धति की जानकारी ली थी। कैथरीन ने यह श्रमपूर्वक शोध क्षेत्रीय सर्वेक्षण, संग्रहालयों में मौजूद पांडुलिपियों के परीक्षण और साक्षात्कारों के माध्यम से संपन्न किया है।

उपलब्ध हरियाणवी सांगों में हीरादास उदासी रचित 'सांग राजा रत्नसैन का' का ऐतिहासिक महत्त्व है। इसकी रचना सन् 1861 से पूर्व हुई थी।¹⁴ भाषा विभाग, हरियाणा द्वारा प्रकाशित इस सांग का संपादन पण्डित स्थाणुदत्त शर्मा ने किया है। इस सांग में तीसियों रागनियों की उपस्थिति प्रमाणित करती है कि उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में इस काव्यरूप का क्रमिक इतिहास बनने लगा है। इसी काल में सांगों का मुद्रित रूप भी उपलब्ध होने लगता है। हन्सेन द्वारा राजस्थान क्षेत्र में उपलब्ध 'ख्याल' और 'खेल' का एक मानने में तो औचित्य नहीं दिखाई देता, क्योंकि 'ख्याल' एक गायन-शैली पर आधारित काव्यरूप है, जबकि 'खेल' शब्द नाटक के लिए प्रयुक्त होता रहा है, पर इन रूपों के माध्यम से वे उत्तर भारत में लोकनाट्य की जिस दीर्घ मौखिक परम्परा के क्रमशः मुद्रण का इतिहास रेखांकित किया है, वह महत्त्वपूर्ण है। विशेष यह है कि वे लक्ष्मण सिंह या लक्ष्मण दास की जिन रचनाओं का प्रकाशन दिल्ली से बतलाते हैं, उनका हरियाणवी होना ही स्वाभाविक है, क्योंकि उनका काव्यरूप 'स्वांग' एवं 'सांगीत' बतलाया गया है और लोकनाट्य की 'सांगीत' संज्ञा हरियाणवी सांगों का ही मूल रूप रही है। हन्सेन की स्पष्ट मान्यता है कि 'ख्याल' और 'स्वांग' की 'सांगीत' के मुद्रित इतिहास से कम से कम सौ वर्ष पुरानी मौखिक परम्परा रही होगी, लेकिन इस दौरान रचे गए सांगों में समाहित रागनियों का पाठ प्रायः अनुपलब्ध है। जबकि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से उत्तर भारत के लोकनाट्यों का मुद्रित पाठ उपलब्ध होने लगता है। समस्त उपलब्ध सामग्री को प्रामाणिक तो

नहीं माना जा सकता, पर कुछ असंदिग्ध रचनाओं के आधार पर हम रागनी के इतिहास का सूत्रपात उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से मान सकते हैं।

हरियाणवी सांगों के अंतर्गत विकसित होने वाले रागनी काव्यरूप के इतिहास को अग्रंकित सोपानों में विभक्त किया जा सकता है -

1. प्रथम सोपान - सन् 1850 ई० से सन् 1900 ई० तक
2. द्वितीय सोपान - सन् 1901 ई० से सन् 1920 ई० तक
3. तृतीय सोपान - सन् 1921 ई० से सन् 1945 ई० तक
4. चतुर्थ सोपान - सन् 1946 ई० से अद्यतन

प्रथम सोपान

मुक्तक काव्य-रचना एवं सांगों के घटक के रूप में रागनी सन् 1850 से सन् 1900 तक क्रमशः लोकप्रियता अर्जित करती है। यह काल शिल्प की दृष्टि से रागनी का प्रायोगिक काल है। वर्तमान हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के अनेक रचनाकारों ने इस काल में रागनी के स्वरूप को सँवारा है। उनमें प्रमुख हैं- हीरादास उदासी, ताऊ सांगी, अलीबख्श, सेदू, गोपाल, शंकरदास, भैयाराम, घीसाराम, आशीराम, चुन्नीलाल, गोवर्धन दास, श्रीराम सारस्वत, गोसाईं राम, पं. किशनलाल, नेतराम, रामलाल, मुवासीनाथ, मानसिंह, फूल, छज्जूराम आदि। इनमें हीरादास, ताऊ सांगी, अलीबख्श, शंकरदास एवं नेतराम का प्रदेश सर्वाधिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व का है।

थानेसरी शैली के सांगों के प्रमुख रचनाकार हीरादास उदासी के 'सांग राजा रत्नसेन का' का प्रकाशन भाषा विभाग, हरियाणा ने पण्डित स्थाणुदत्त शर्मा के सम्पादन में 1975 में किया था। इस सांग को देखकर कहा जा सकता है कि अवश्य ही हीरादास ने और भी सांगों की रचना की होगी, पर उनकी अनुपलब्धि की स्थिति में केवल यही रचना विचारणीय रह जाती है। इस सांग की आंतरिक संरचना हिन्दी गीत की पूर्ववर्ती पद-शैली से रचनागत साम्य रखती है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हरियाणवी रागनी का उद्भव भी सरहपा, विद्यापति, कबीर एवं सूर की गीति-शैली के क्रम में ही हुआ होगा। तदनन्तर इसने क्रमशः नवीन शैलिक कलेवर प्राप्त किया है। हीरादास ने रागनी का प्रयोग अपेक्षाकृत भावात्मकता-प्रधान संदर्भों में किया है, जिससे संकेत मिलता है कि 'कड़ा', 'चौबोला' तथा 'दोहा' में सांगों के वर्णनात्मक कथ्य को स्थान

मिला है और रागनी में गीतिपरक तन्मयता अधिक रही है। इस सांग की रागनियों की छांदसिक संरचना निश्चित है, जो इस तथ्य का उद्घाटन है कि लोक-प्रचलित अन्य छन्दों की भांति आरम्भ में रागनी का भी छन्दपरक वैशिष्ट्य रहा है। हीरादास ने रागनी को दो प्रकार की छन्द-व्यवस्थाएँ दी है। उनकी 15-16 रागनियाँ 14 मात्राओं के ऐसे मात्रिक छन्द में रची गयी हैं, जिनकी मूल लय कुछ-कुछ गीतिका छन्द की है। इन रागनियों में टेक या तोड़ का विभाजन नहीं है। दो-दो समान अन्त्यानुप्रासी पंक्तियों के क्रम से एक रागनी में आठ 'बोल' या चरण हैं। निम्न उदाहरण से ये विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं -

सैर करने चली सारी
संग नित उठ रही प्यारी
महल चंगा बना मंदर
देख कुछ क्या लिखा अंदर
लिखी तस्वीर ये किसकी
देखूँ जीऊँ तरफ जिसकी

परवर्ती रागनियों में इस शैली को ज्यों का त्यों नहीं अपनाया गया, तथापि लय-भिन्नता के साथ 14 मात्राओं के दो या तीन चरणों के 'अन्तरा' के प्रयोग की जो प्रवृत्ति आगे चलकर देवीसिंह आदि में दिखाई देती है, उसका आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में ही हो जाता है।

इस सांग में 10-12 रागनियाँ ऐसी हैं, जिनमें 15 या 16 मात्राओं की एक टेक पंक्ति है। तदनन्तर 16+12 मात्राओं के क्रम में दो चरण हैं और फिर टेक की आवृत्ति है। यह मूलतः पद-शैली है। इस सांग की केवल एक रागनी में टेक के बाद दो की अपेक्षा आठ चरण हैं। इस शैली की रागनी का उदाहरण है-

मुझे मार चला मरती को।
ऊँचा गगन चढ़ूँ कैसे मैं
नहीं रोकी धरती को।।
सकल उमर मैं काट दई है
यह बिपता भरती को।।
मुझे मार चला मरती को।

परवर्ती कवियों ने चौकलिया रागनियों में ही इस छन्द को अन्तर्भुक्त कर लिया है और बाद में कुछ भजनिकों के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से इसका प्रयोग लगभग नहीं किया गया है।

'सांग राजा रत्नसेन का' के पृष्ठ 93 एवं 203 पर दो ऐसी

रागनियाँ उपलब्ध होती हैं, जो उस शैलिक संरचना का इतिहास प्रस्तुत करती हैं, जो बीसवीं शताब्दी में दीपचन्द्र, देवीसिंह एवं लखमीचन्द्र ने विकसित की है। इनमें टेक, कली और तोड़ का तो स्पष्ट विभाजन है ही, लय-संरचना भी परवर्ती रागनियों से मेल खाती है। दादा शंकर की चार बोल की शैली से भिन्न यह पद्धति हरियाणवी रागनी-काव्य में नए प्रयोगों के साथ लोकप्रिय हुई है। इन रागनियों में अन्तिम कली अथवा उसके साथ के तोड़ के बोल में रचनाकार की छाप की बहु-प्रचलित काव्य-रूढ़ि को भी देखा जा सकता है। निम्न अंश इन विशेषताओं को स्पष्ट करता है -

घोड़े सहज-सहज चल भाई
तुमरे कारण सभा लगी
जो तैं उँची मारै छाल
तेरा असवार जागा हाल
उस्तादी को क्या फिर कमाल
मेरी जब क्या रहै चतुराई... घोड़े सहज...
ठा कै चाबक जौं पकड़वै
सारी महफिल को दिखलावै
जब तू चंचल चपल कहावै
तेरी सभी करै बडियाई... घोड़े सहज...
ले मसाल चाँदने का जा
यूँ फिरता है भाज्या-भाज्या
तेरा गुण महफिल को पाज्या
दीखै चेहरे की रुसनाई... घोड़े सहज...
राजा रत्नसेन चल आया
घोड़ा महफिल बीच नचाया
ये रंग हीरा साध सुनाया
हमारे मुरसद की कविताई... घोड़े सहज...

हीरादास सांग की जिस थानेसरी शैली से जुड़े हैं, वह हरियाणा का 'नरदक' क्षेत्र कहलाता है। इस क्षेत्र की भाषा पर पंजाबी के उच्चारण का भी हल्का-सा रंग चढ़ा है। 'सांग राजा रत्नसेन का' की भाषा में 'नरदक' क्षेत्र की रंगत साफ दिखलाई देती है। उपर्युक्त आकलन से स्पष्ट होता है कि हरियाणवी रागनी के विकास में हीरादास की रचनाएँ ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं। इनका काव्य-सौन्दर्य साधारण है, पर इनमें एक नए काव्य-रूप के अभिकल्पन के संकेत निहित हैं। संवाद, कथा-वर्णन, मार्मिक स्थलों के चित्रण एवं द्वन्द्वात्मक मनःस्थितियों के अंकन के लिए रागनी का जो प्रयोग परवर्ती सांगों में हुआ है, उसका मूल रूप हमें यहीं मिलता है।

भाषा-विभाग हरियाणा ने उन्नीसवीं शताब्दी के एक और महत्त्वपूर्ण सांग का प्रकाशन किया है। वह है- ताऊ सांगी कृत 'रुक्मिणी-विवाह'। लेखक का मूल नाम क्या है, यह अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाया है। सन् 1970 में प्रकाशित इस सांग की भूमिका में इसे लगभग सौ वर्ष पुराना बतलाया गया है, अर्थात् भूमिका-लेखक के अनुसार यह रचना 1870 के आसपास की है, परन्तु यदि उसके पाठ का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन किया जाए तो इसकी भाषा 'सांग राजा रत्नसेन का' से पुरानी नजर आती है। अतएव इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि अनुसंधान के आधार पर ताऊ सांगी हीरादास के पूर्ववर्ती सिद्ध हों।

'रुक्मिणी विवाह' में अन्य काव्य-रूपों के साथ-साथ रागनी का भी प्रयोग हुआ है। इसमें 15 रागनियाँ संकलित हैं। इनका शिल्प-विधान हीरादास उदासी की रागनियों से बहुत भिन्न है। इनमें टेक का विभाजन तो स्पष्ट है ही, चरणों की संख्या भी हीरादास उदासी की रागनियों से अधिक है। कई रागनियों में तो 48 चरण हैं। लय अत्यंत गतिशील एवं विधिवतामयी है। भावतन्मयता एवं मार्मिकता भी इन रागनियों में विशेष रूप से देखी जा सकती है। इन विशेषताओं को इस उद्धरण में देखा जा सकता है -

तीन रोज की बात
ताप दिन रात
है रे तन भारि
सब देखो तन का हाल चाल माता रि
परसों से नीर ना पिया
कठन दुख दिया
चढ़ा पाले से
पाला पल पल लगे भस्म डाले से
रूम-रूम मैं रमें जतार्ये हमें तगे ताले से
ताले से टूटन लगे अगन जाले से
जो सखि पास कोई आवै
मुझको कोई ना भावै
निज पापी ताप सतावै
परसों से दिन रात
चढ़ा एक साथ
पकड़ कै हाथ
देखयो रि नारि
सब देखो तन का हाल चाल माता रि

उपर्युक्त अंश में विद्यमान अनुप्रास-योजना ने परवर्ती रागनियों

को भी प्रभावित किया है। रागनी के विकास में ताऊ सांगी का उल्लेखनीय योगदान है। उस काल के सम्पूर्ण साहित्य के उपलब्ध हो जाने पर ही रागनी के विकास के अनेक टूटे हुए सूत्र जुड़ सकते थे।

अंग्रेजी शासन-काल में भारत में पुस्तकों के प्रकाशन के संबंध में एक कानून बना था, जिसके अनुसार प्रत्येक प्रकाशित पुस्तक की एक प्रति सरकार के पास जमा करानी अनिवार्य थी। इसका एक लाभ यह हुआ कि 'इंडिया ऑफिस लंदन' और 'ब्रिटिश म्यूजियम लाइब्रेरी' में उन्नीसवीं शताब्दी में प्रकाशित सांगों की कई प्रतियाँ आज भी उपलब्ध हैं।

कैथरीन हन्सेन का अध्ययन अब तक हुए 'ख्याल', 'स्वांग', 'नौटंकी' और 'सांगीत' के इतिहास के शोध में तो अत्यंत महत्त्वपूर्ण योग देता ही है, प्रकाशित रागनी के इतिहास से भी जुड़ता है, पर दुर्भाग्य से उनका शोधकार्य समग्रतापरक नहीं है। वह उत्तरप्रदेश के लोकनाट्यों से ही अधिक जुड़ा है। अपने वक्तव्यों में हन्सेन ने जिन लेखकों से मिलने एवं सहायता लेने का जिक्र किया है, संयोग से वे भी 'नौटंकी' अथवा स्वांगों की उत्तरप्रदेश में प्रचलित शैली से ही अधिक परिचित थे। इसीलिए उनका अध्ययन नौटंकी की हाथरस एवं कानपुर शैलियों तक ही सीमित होकर रह गया और सांग के थानेसर घराने से वे अधिक नहीं जुड़ पाई। इसी का यह परिणाम है कि अपने श्रमसाध्य शोधकार्य के दौरान वे व्यक्तिगत रूप में सांगों की जो प्रतियाँ संग्रहीत कर पाई हैं, उनमें लखमीचंद जैसे बड़े कवि के केवल दो सांगों का उल्लेख है।¹⁵ जबकि वे स्वयं यह लिखती हैं कि लखमीचंद हरियाणा के प्रसिद्धतम कवि थे और 'इंडिया ऑफिस लंदन' में उनके 1937 से 1939 तक रचित चौदह सांग संग्रहीत हैं। वे अपने व्यक्तिगत संग्रह में लखमीचंद के जिन दो सांगों का उल्लेख करती हैं, उनमें से एक 'नौटंकी' ही है (वह भी शायद इसलिए कि उनका शोधकार्य 'नौटंकी' विधा पर ही केन्द्रित था)। लखमीचंद की दूसरी रचना के रूप में उन्होंने 1937 में अग्रवाल बुक डिपो से प्रकाशित 24 पृष्ठीय सांग 'लैला मजनू-मकतब की यारी' का उल्लेख किया है। इसकी उपस्थिति वे 'इंडिया ऑफिस लंदन' के संग्रह में बतलाती हैं। विचित्र यह है कि लखमीचंद के किसी अन्य अध्ययनकर्ता ने उनके नाम से इस रचना का कभी उल्लेख नहीं किया है। तो क्या यह रचना भी उसी प्रकार काल का ग्रास बन गई, जिस प्रकार अन्य मौखिक परम्परा की रचनाएँ बनती रही हैं?

यहाँ हमने हन्सेन के कथनों के उद्धरण यह दिखलाने के

लिए ही दिए हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी में उत्तर भारत में 'नौटंकी' और 'सांगीत' की अभंग श्रृंखला शुरू हो चुकी थी। हरियाणा में यह नाट्यरूप सांग के रूप में स्थापित हो रहा था। रागनी इन्हीं सांगों के कथानकों की गीतिमयी अभिव्यक्ति के रूप में विकसित हो रही थी।

ताऊ सांगी के बाद दीपचंद युग से पूर्व 'रागनी' विधा में उल्लेखनीय प्रयोग अलीबख्श एवं शंकरदास ने किए हैं। अलीबख्श का रचनाकाल सन् 1845-1899 माना गया है।¹⁶ अलीबख्श रचित लगभग दस सांगों में दोहा और चौबोला को प्रमुखता मिली है, पर उनके द्वारा अनेक रागनियों के रचे जाने का भी अनुमान है। जिन सांगों में उनकी रागिनियाँ उपलब्ध होती हैं, उनमें प्रमुख हैं- 'कृष्ण-लीला', 'पद्मावत', 'नल-दमन-छड़ाव', 'नल-दमन-बगदाव' एवं 'गुलबकावली'। इन सांगों में आई रागनियों में से अधिकांश में 'तोड़े के बोल' की आवृत्ति नहीं है, तो भी हीरादास की तुलना में इनमें प्रयोगशीलता अधिक है। अलीबख्श ने सांगों की अनेक नयी धुनों का आविष्कार किया था। इसका प्रभाव रागनी पर भी पड़ा है। रचनाकार की छाप, संवादपरक 'मिलमा' रागनी और 'त्रिशूल' रागनी जैसे प्रयोग इन्होंने किए हैं। गीति-माधुर्य से सम्पन्न ये रागिनियाँ नाटकीयता से भी संपन्न हैं। एक उदाहरण देखिए -

- नल : ल्या राणी मछली मेरी मैं कर आया असनान
दो तीतर ल्याया पकड़ कै तू कर भूनण का सामान
मछली लाओ सुहागण नार
तीतर बेग करो तैयार
- दमयन्ती : राजा मछली मांगते और नीचे मेरे नैन
भूख सिवा भगवान अब ल्या और दुख देन
जननी क्यों जनमें थी री
करम मैं यही लिखी थी री
- नल : मैं मारे भूख के रानी तन से तजूँ प्राण
तू जवाब देती नहीं ये कोई भेद भगवान
लाओ मछली सुहागण नार
तीतर बेग करो तैयार
- दमयन्ती : राजा रिस मैं मत भरो तुम सुनो सहज सुर ज्ञान
मैं दोनों मछली खा गई मेरा निकस गया ईमान
जननी क्यों जन्मै थी री
करम मैं यही लिखी थी री

इस रागनी की परवर्ती कलियों में पात्र द्वारा क्रमशः पूर्व पदों के अंतिम चरण की आवृत्ति से टेक का निर्माण किया गया है। यह

रागनी इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का भी उद्घाटन करती है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक आते-आते रागनी में कड़ा, चौबोला, ख्याल, दोहा आदि को भी अंतर्भुक्त कर लिया गया है। उपरि-उद्धृत रागनी के अंतरे दोहों के द्वारा निर्मित है। बीसवीं शताब्दी में देवी सिंह ने भी यह प्रयोग किया है। लखमीचन्द के काल में तो शेष सभी काव्य रूपों को रागनी में शक्कर की तरह घोल लेने की प्रवृत्ति मिलती है। अलीबख्श की रागनियों में हीरादास की तुलना में मार्मिकता में भी वृद्धि हुई है। आपद-ग्रस्त नल-दमयन्ती का चित्रण करने वाली यह रागनी इसका उदाहरण है-

नल : सुख-दुख भगवत दिया तूने कैसी कीनी हाय
म्हारे करमों में विपदा लिखी तू क्यों रही दुख पाय
प्यारी जी रोवो मत ना तूने पीहर द्यूँ पहुँचाय

रागनी : विपदा भगवत नै दई निस दिन रोवत जाय
तुम भुगतो हम ऐसे मनावें धृग जीवन जग माँह
मोरे राजा जी छोड़ो मत ना हम दुखियारी नार

नल : हम दुखिया भुगतन को डार दिए करतार
जब दिन सूधे होय हमारे फिर मिलेंगे या
प्यारी जी रोवो मत ना तूने पीहर द्यूँ पहुँचाय

रागनी : सुख में सब साथी भए कोई दुख में करै ना सार
अलीबख्श अब राजा-राणी दर-दर फिरते ख्वार
राजा जी छोड़ो मत ना हम दुखियारी नार

हरियाणवी साहित्य का प्रसार केवल उस क्षेत्र तक ही नहीं रहा है, जिसे आज राजनैतिक विभाजन की इकाई के रूप में हरियाणा कहा जाता है, वरन् यह प्रसार वर्तमान उत्तर प्रदेश के कई पश्चिमी जिलों में भी रहा है। यह क्षेत्र हरियाणवी साहित्य से आस्वादन के धरातल पर ही नहीं जुड़ा है, अपितु रचना-कर्म में भी इसका विशेष योगदान रहा है। जिला मेरठ के गाँव जाठोली के निवासी दादा शंकर को तो आधुनिक सांग का जन्मदाता ही माना जाता है। इस क्षेत्र में गत सौ वर्षों में किशनलाल, शेदू, लछमन, गोपाल, गंगाराम, नत्थू, मानसिंह, चौ. बुधवास, पं. रघुबीर, चन्द्रलाल भाट एवं मनफूल सिंह त्यागी आदि ने हरियाणवी में काव्य रचना की है। इन सबमें दादा शंकर का स्थान सर्वोपरि है।

हरियाणवी काव्य को आधुनिक सोपानों तक लाने में शंकरदास का विशेष योगदान है। उनकी रचनाओं में रागनियों की संख्या में भी बहुत वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त चार बोलों की उन चौकलिया रागनियों की परम्परा भी उन्हीं में विशेष रूप से मिलती है, जिनकी

रचना बीसवीं शताब्दी में प्रचुरता से हुई है। अपने पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख उन्होंने अपनी एक रागनी में यों किया है -

तब सेदू सिंह मुसद को मिला ठिकाना
उनसे पीछे लछमन सिंह हुआ दिवाना
गोपाल लाल नै करकै इश्क पिछाना

पौराणिक एवं वैदिक साहित्य, चिकित्सा, योग एवं पिंगल आदि के ज्ञाता शंकर की प्रमुख रचनाएँ हैं - ब्रह्मज्ञान, बुद्धिप्रकाश, मुक्ति प्रकाश (चार भाग) तथा ज्ञानदीप धर्मप्रकाश। इनमें सैकड़ों रागनियाँ संकलित हैं। उनके काव्य में पांडित्य और लोकभाषा का समन्वय पंडित लखमीचन्द के ज्ञान-मंडित काव्य का प्रेरणास्रोत रहा होगा, इसमें संदेह नहीं। शंकर का अध्यात्मोन्मुखी काव्य हरियाणवी रागनी की एक और प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। हरियाणवी में इस प्रवृत्ति की रचनाओं को 'भजन' कहा गया है। भजन संरचना और अभिव्यक्ति रूप की दृष्टि से रागनी ही है। विषय की दृष्टि से शंकर रागनी में एक और प्रवृत्ति के प्रणेता है। सिद्धों, नाथों, कबीर एवं सूर की जो दृष्टकूट शैली हमें लखमीचन्द में मिलती है, शंकर ने अपने होली काव्य के अन्तर्गत ऐसी अनेक रागनियों की रचना की है।

शिल्प-प्रयोगों की दृष्टि से शंकरदास के काव्य में अधिक विविधता नहीं है। अधिकांश रागनियाँ पद-शैली की टेक-पंक्ति से आरम्भ होती हैं। प्रकाशित संस्करणों में कली या अंतरा से पूर्व लावणी शीर्षक भी मिलता है। लावणी छंद का लोक-माधुर्य इन रागनियों में है भी। शंकरदास ने चार बोलों की रागनी को प्रचलित चौबोला के स्थानापन्न के रूप में प्रस्तुत कर सांगों में वर्णन कौशल का अपेक्षाकृत प्रभावी रास्ता निकाला है। उनकी रागनी-रचना की भिन्न पद्धतियों के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं -

पिता मानो वचन हमारा

जनम लिये का यही धरम है परमारथ हित दान करै
सूरवीर की यह पहचान है कभी ना रण में हार करै
ज्ञानी के पिता! ये लक्षण हैं नहीं कभी मदमान करै
दाना दुश्मन कभी ना राजा घात सतरू की ज्यान करै
सोच समझ पिता दिल के अंदर मैं किस विध खेंचू आरा
जो करोंत धर सिर पै खेंचू मुझ पापी को दोष लगै
मुझे सिंह की भेंट चढ़ा दो, यहाँ से क्या सौ कोस जगह
नालायक ओ बेटा होता जो पिता काज खामोश भगै
धर्मराज कै जाकै सामणै सिर पर तो पापोश लगै

अधर्म आज कराओ मुझसे मैं तो आखिर पुत्र थ्वारा
 हो जग मैं अपकीरत इसमें जो चीरूँ थ्वारी काया
 मेरा होवै नरक में बासा इस खात्यर मन सर माया
 परम धरम परमार्थ हित कर तुमनै आरा मंगवाया
 मैं तो जाणूँ तुम भए अजीरण भूखा शेर कोए चल आया
 मुझको खाय पेट भर लेगा जग छावैगा जस भारा
 इतनी कहकै चुपका ठाड़ा फेर नृप नै समझाया
 अब मत आज्ञा मेरी टारै राज कए मन हरसाणा
 धन दौलत जो बन जग झूठा सब सुपने की है माया
 सिंह अंग मेरा मांगै है द्विज जायन मुझको आया
 शंकर कथै जिठोली वाला जिस नै ऐसा छंद उचारा

शंकर लोक भाषा के ज्ञाता और संगीत के पंडित थे। उपर्युक्त रागनी के अतिरिक्त उनकी कुछ लघु आकार की रागनियों में लय और छंद के नए प्रयोग मिलते हैं। यथा -

इस दुनिया मैं दो दीन हैं
 लगी इन दोनों में बाजी
 इधर हैं मस्जिद उधर शिवाला
 उनकी तस्वी इनकी माला
 सबको एक है देने वाला
 ऐसा चतुर प्रवीण है
 क्यूं झगड़ै पंडित काजी
 वही अलफ और वही कक्के में,
 वही काशी और वही मक्के में,
 वही धीवर और वही वक्के में,
 दोनों में मकर मीन है,
 बता इन मैं कौन-सा पाजी,
 भूल रहा तू बिना खबर में,
 आज तो आज्या सचे घर में,
 वही चिता और कबर में,
 दोनों का दीन जमीन है,
 चाहे संन्यासी हो या हाजी।

हीरादास, अलीबख्श और शंकरदास सन् 1850 से 1900 तक के रागनी-काव्य के प्रमुखतम हस्ताक्षर रहे हैं और ये तीनों कवि रागनी की जिन तीन अलग-अलग शैलियों के प्रयोक्ता रहे हैं, वे शैलियाँ इनके अलग-अलग साँग घरानों का भी निर्माण करती हैं। हीरादास थानेसरी अखाड़े के कवि हैं, अलीबख्श रेवाड़ी शैली के प्रणेता हैं। दीपचंद के साथ जिस रोहतक शैली के साँगों की

रचना आरंभ होती है, उसका काव्यपक्ष एक ओर 'शंकर' परम्परा से प्रभावित है, दूसरी ओर थानेसर शैली को भी उसने आत्मसात् किया है।

शंकर के काल से ही रागनी की अंतिम कली में रचनाकार की छाप के साथ एक और कवि-रूढ़ि का जन्म हुआ था, वह थी गुरु परम्परा का उल्लेख। ऊपर इसका उदाहरण दिया गया है। इस काव्य रूढ़ि का लाभ यह हुआ है कि इस काव्यरूप के इतिहास का रेखांकन अन्तः साक्ष्य के आधार पर संभव हो सका है। गत सौ वर्षों में रची रागनियों में से कुछ उद्धरण इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बन पड़े हैं। उन्हें हम यहाँ दे रहे हैं -

- (क) सेदू, लिछमन, गुरु गोपाल का
 सदा भला हो शंकर लाल का
 नेतराम द्विज कहै इस्माल का
 हमें गाणे से प्यार हुआ
 तेरा बोल कालजै खुभग्या
- (ख) कवि सेदू, लिछमन, गोपाल, शंकर ब्रह्मा चार बण बैठे
 नत्थू, मांगे, जमनादास, वेदों का सार बण बैठे
 बन्दा बनवारी पाकिस्तान इस्लाम के यार बण बैठे
 देसा भगत और धनपत सिंह कई लौंडे नचार बण बैठे

(उपर्युक्त उद्धरण में जिन मांगेराम का उल्लेख है, ये सुनारियाँ गाँव के थे और पंडित लखमीचंद के शिष्य मांगेराम से भिन्न थे तथा लखमी के पूर्ववर्ती थे। जमनादास इनके शिष्य थे, जिनका पूर्ववर्ती नाम जमुआ मीर था-

- (ग) मुवासी नाथ तेरे अंदर छाण कै मिले थे आप
 मानसिंह तेरे अंदर जाण कै मिले थे आप
 लखमीचंद तेरे अंदर आण कै मिले थे आप

 एक दिन माता तेरे अंदर मांगे राम आणे आला

पूर्वोक्त उद्धरणों एवं अन्य प्राप्त प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि सन् 1850 और 1900 के बीच उपरिविवेचित तीन कवियों के अतिरिक्त सेदू, लिछमन, गोपाल, भैया राम, कृष्ण गोस्वामी, घीसा राम, आशा राम, चुन्नी लाल, गोसाई राम, किशन लाल, नेतराम, रामलाल, मुवासी नाथ, मानसिंह, फूल, छज्जूराम आदि कवि रागनी-रचना में अपना योग देते रहे हैं। पं. किशनलाल के 'बारहमासा' में यद्यपि दोहों का भी प्रयोग है, पर इसका मूल ढाँचा रागनी के समीप है।

शंकर के शिष्य पंडित नेतराम उस संक्रमण-बिन्दु पर उपस्थित हैं, जिसके पूर्ववर्ती काल में रागनी प्रायोगिक स्थिति में है और परवर्ती काल में वह अपने चरम विकास को प्राप्त करती है। यद्यपि नेतराम एवं दीपचन्द दोनों का अवसान-काल संवत् 1977 ही है, पर रचनाकाल की दृष्टि से ये दीपचन्द के पूर्ववर्ती थे। उनका अधिकांश काव्य चौबोला छंद में है, पर उन्होंने अनेक रागनियों की भी रचना की है। शंकर की तुलना में इनकी ढाई या तीन बोल की रागनियों की शैली को दीपचन्द आदि ने अधिक ग्रहण किया है। उपदेशात्मकता उनके काव्य का प्रधान स्वर है। माया के विषय में वे लिखते हैं -

*माया नै बहोत मार गेरे / जग में मोहे मेर-सुमेर
नेतराम भी सोच करै / राजपाट गए छूट*

नेतराम की भाषा में नए युग की अनुगूँजें अधिक हैं। उनकी रागनियों में शैल्पिक चमत्कार का विशेष स्थान है। उन्होंने ऐसी औप्य वर्ण रहित रागनियों की भी रचना की है, जिन्हें गाते समय मुख खुला ही रहता है। यथा -

अरजुन गरजै / सकल दल लरजै / दल नै कतल करै धनंजय।

रागनी के विकास के प्रथम चरण में अन्य काव्य-रूपों की तुलना में इसकी मात्रा अपेक्षाकृत कम है, परन्तु शिल्प के नवीन प्रयोगों एवं अस्तित्व के संघर्ष की दृष्टि से इस काल का विशेष महत्त्व है।

द्वितीय सोपान

हरियाणवी काव्य में उन्नीसवीं शती के अंत में रूपगत परिवर्तन तेजी से घटित हो रहे थे। इस काव्य के सूत्र प्रमुखतः भजनिकों एवं सांगियों के हाथ में थे। संगीतमय प्रस्तुति, काव्य की नृत्यमयी प्रस्तुति एवं अभिनय की रोचकता के कारण साँग की लोक में पैठ अधिक थी। इस युग तक आते-आते साँग अधिकाधिक गीतमय हो गए थे। इसलिए रागनी को इस युग में हरियाणवी काव्य में प्रमुख स्थान मिल गया था। सन् 1900 से 1920 तक के हरियाणवी काव्य ने रागनी की संरचना को स्थिर करने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। शिल्प-संरचना एवं बाह्य विशेषताओं की दृष्टि से इस युग में रागनी की तीन रूढ़ियाँ स्थिर होती हैं। वे थीं- 1. रागनी का टेक, कली एवं तोड़ का स्पष्ट ढाँचा 2. सामान्यतः रागनी में चार कलियों का प्रयोग और 3. अंतिम कली में रचनाकार का आत्मकथ्य तथा अपना अथवा अपने गुरु का नामोल्लेख।

विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से भी इस काल में अग्रिम विकास के लक्षण स्पष्ट हैं। इस युग के प्रमुख कवि हैं- पंडित दीपचंद, मांगेराम (सुनारियाँ वासी) सरूपचंद, सोहन, हरदेवा व जमुआ मीर।

शंकर के बाद सांगों में रागनी के आनुपातिक संवर्द्धन का श्रेय दीपचन्द को ही दिया जाता रहा है। उनके प्रसिद्ध सांग हैं - सोरठ, हीर, ज्यानी चोर, नौटंकी, हरिश्चन्द्र, गोपीचन्द। इनमें चौबोला और काफिया के साथ-साथ सैकड़ों रागनियाँ संकलित हैं। ये रागनियाँ विषय, भाषा एवं संरचना में पूर्व परम्परा से बहुत हटकर हैं। हरियाणवी का ठेठ रूप एवं जन-प्रचलित मुहावरे दीपचन्द की रागनियों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। निम्न उदाहरण से यह अंतर स्पष्ट होता है -

*मनै धरती कै मार डिगरगी वा छूछक की लड़की रै
तन पै बिपता झेल्या करता
तरी भैंसा नै मेल्या करता
जिसतै मैं खेल्या करता काणा लेगा वा गींड रबड़ की रै
लोट्या करती भैंस लेट मैं
रहूं था उस हीरा की ढेठ मैं
आज मेरै उट्टया दरद पेट मैं फाकी दे दिए नूण हरड़ की रै*

हरियाणा की भाषिक अस्मिता की पहचान उस काल की रागनियों से ही निर्मित हुई है।

अंत्यानुप्रास की विशेष पद्धति पर आधारित रागनी का यह संरचनात्मक ढाँचा आगे देवीसिंह ने विशेषकर अपनाया है। इससे रागनी की शैली में बहुत परिवर्तन आया है। दीपचन्द ने परवर्ती कवियों को विषय की दृष्टि से भी प्रभावित किया है। पौराणिक दृष्टान्तों को अप्रस्तुत के रूप में प्रयोग में लाने की प्रेरणा लखमीचन्द ने दादा शंकर के अतिरिक्त दीपचन्द से ली होगी, वह इन प्रयोगों से स्पष्ट है :

*मनै मत भेजै हे रोवणीं पैर पसार
गये थे बैठ मौत नै घड़ कै
सब पत्थर हगे पड़ कै
उस कपिल मुनी तै अड़ कै
सगर के कित गये साठ हजार?*

दीपचन्द ने महाभारत के विवाद एवं प्रवाद-ग्रस्त संदर्भ 'द्रोपदी-चीर-हरण' की मार्मिक प्रस्तुति की है। निस्संदेह इस सांग

का प्रभाव भी लखमीचन्द पर पड़ा होगा। दीपचन्द ने जहाँ 'सोरठ' में संगीत के लालित्य का परिचय दिया है, वहाँ उन्होंने महाभारत के प्रसंगों को भविष्य-वचन की शैली में ठेठ हरियाणवी में यों प्रस्तुत किया है -

दुःशासन चीर छोड़ दे अनरथ तै धरती हिल ज्यागी
बात ना करते अणजाणा तै
बिगड़ी धर तक के ठाणा तै
एक दिन अरजन के बाणा तै तेरी गद्दी सिल ज्यागी
गुरु द्रुण डुब्बे सै पढ़ गुण कै
प्यारी रो रही सै सिर धुन कै
अस्तुधाम का मरणा सुण कै तरी पफक-दे-सी ज्यान निकल ज्यागी
जेठ करण ख्याल कर दानी
जगत में बदनामी रहै ना छ्यानी
सारे बण बैठे अभिमानी इक दिन दहदल त्यग अरथ निगल ज्यागी
सब तै कह रही सूं रो-रो कै
बैठ गे बस्या बसाया खोकै
इक दिन खून मैं खेस डबो कै प्यारी खास हुमालनि गल ज्यागी

लोक-मन की मार्मिक अभिव्यक्ति के कारण दीपचन्द ने रागनी को असीम लोकप्रियता दी है एवं इसमें नवीन-प्राण-प्रतिष्ठा की है। दीपचन्द के संदर्भ में हरियाणवी साहित्य के प्रत्येक अध्येता ने यह भी उल्लेख किया है कि अंग्रेजों के कहने पर दीपचन्द ने रागनी काव्य का प्रयोग हरियाणा के नवयुवकों को फौज में भर्ती होने की प्रेरणा देने के लिए किया था। इस संदर्भ में उनकी सर्वाधिक उद्धृत पंक्तियाँ हैं -

भरती हो ल्यो रे थारै बाहर खड़े रँगरूट
आड़ै राखो मध्यम बाणा
अर मिल्लै फट्या पुराणा
उत मिल्यैगे फुलबूट

दीपचन्द की अन्य बहु-उद्धृत पंक्तियाँ हैं -

टुक-सा नीर पिल्या दे और घाल मेरे लोटे में
तू भले घरों की दिक्खे सै तनै जनम लिया टोटे में
तू मेरी साथ में होले नै दामण मँढ़वा दूँ घोटे में

लेकिन ऐसे अध्येताओं ने ज्यादातर इन उद्धरणों के साथ ही दीपचन्द के रागनी काव्य के मूल्यांकन की इतिश्री मान ली है। उनके रागनी काव्य का पाठानुसंधान और मूल्यांकन बहुत ही कम हुआ है।

रागनी की शैल्पिक प्रविधि को विकसित करने में सरूपचन्द का स्थान भी उल्लेखनीय है। उनकी रागनियों में श्रृंगार की सरसता के साथ-साथ नैतिक मूल्यों की स्थापना का प्रयास भी है। वन, पर्व, चीर पर्व, विराट पर्व, उत्तानपाद या हरिश्चन्द्र जैसे महाभारत-आधारित सांगों में ही नहीं, सिल्ल्या सेठाणी जैसे सांगों में भी हरियाणवी काव्य के अन्य विविध रूपों के साथ-साथ उनकी रागनियाँ संकलित हैं। इनमें प्रयोग-वैविध्य बहुत है, यहाँ तक कि उन्होंने गजल को भी रागनी में ढाला है। सहज भाषा में उनकी रागनियों की विशेषता इस उद्धरण में देखी जा सकती है -

सुनो मेरे भरतार
तुमने करी किधर की त्यारी
नारंगी रंग सुहागण
सिलवट क्यूं लागे त्यागण
पके नीम्बू खिले अनार
या मद छा रही केसर क्यारी
तज कलाकंद क्यूं जाते
पिया गुड़ चोरी का खाते
उन मरदों को धिक्कार
जो बिन खोट बिसारें नारी।।

सरूपचन्द की रागनियों में दीपचंद और देवीसिंह की रागनियों की तुलना में टेक और अन्त्यानुप्रास-संयोजन में एक हल्का-सा परिवर्तन है। उन्होंने टेक की यति के साथ अंतरे की यति का अनुप्रास मिलाया है। ऊपर उद्धृत की गई रागनी में भरतार, अनार और धिक्कार इसके उदाहरण हैं। बाद में लखमीचन्द ने तो शैली में बीसियों प्रकार की विविधताएँ उत्पन्न की हैं। बीसवीं शताब्दी में खड़ी बोली के हिंदी गीतिकाव्य को इन शैलीगत प्रयोगों ने बहुत प्रभावित किया है।

सुनारियाँ के कवि मांगेराम दीपचंद के काल में ही हुए हैं। इन्होंने सांगों की तुलना में स्वतन्त्र रागनियों की रचना अधिक की थी। जमुआ मीर इनके ही प्रतिभाशाली शिष्य थे। 85 वर्ष की दीर्घायु पाने वाले कवि जमुआ मीर का देहान्त तो सन् 1959 में होता है, पर इनके रचना-कर्म का विस्तार रागनी के विकास के द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ सोपानों तक रहा है। भारत-पाक विभाजन के समय इन्होंने हिन्दू धर्म ग्रहण कर लिया था, तब इन्होंने अपना नाम जमनादास रख लिया था। इनकी रागनियाँ नल-दमयन्ती तथा द्रौपदी-चीरहरण सांगों में संकलित हैं। लय एवं छन्द की दृष्टि से जमुआ ने पूर्ववर्ती कवियों की तुलना में अधिक प्रयोग किए हैं।

शिल्प के नवीन प्रयोगों की झलक उनकी निम्न रागनी में मिलती है-

में मूरख के ब्याह दी हो दादा ना दुख रोया जा
उठै समन्दर बरगी झाल
दादा के बूझैगा हाल
किते तै जहर मंगा के खाँगी
में बिन बालम होगी नाँगी
कह जमुआ बोल छाँट के
में मर ज्याँगी कणी चाट के
काठ के बीच फँसादी हो, ना बैटूँ ना सोया जा

विरह की मार्मिकता जमुआ मीर की रागनियों की विशेषता है। रागनी के विकास के तीसरे और चौथे चरण में प्रसिद्धि पाने वाले धनपत डूम जमुआ मीर के ही शिष्य थे।

दीपचंद काल के रागनी-काव्य को समृद्धि प्रदान करने में दीपचंद के ही शिष्य हरदेवा का भी विशिष्ट स्थान है। हरदेवा का देहान्त संवत् 1983 में लगभग 50 वर्ष की आयु में उनकी ससुराल कुलासी में हुआ था। इसमें स्पष्ट है कि वे दीपचन्द काल से ही रचनारत थे। रागनी को सांग का प्रमुख घटक बनाने में हरदेवा, बाजे और चतरू का उल्लेख जहाँ लखमीचन्द के शिष्य मांगेराम ने अपनी एक रागनी में किया है, वहाँ देवीशंकर प्रभाकर तो रागनी को सांग में प्रथमतः समाविष्ट करने का श्रेय ही हरदेवा को देते हैं। हरदेवा ने दीपचंद एवं सरूपचंद की दो एवं ढाई बोल की रागनियों की परम्परा को तो अपनाया ही, शंकरदास की परम्परा में चली आ रही चार बोल की रागनियों की रचना भी की। इनमें अनुभव-सापेक्ष सूक्तिपरकता का गुण उल्लेखनीय है। यथा -

हिजड़ा के जाणै कामन के रस नै,
गूँगा के जाणै राग सही है
शेर के जाणै रंडी का पूत,
मौत के जाणै एक यही है
बालू की भीत, पछीत का पाणी,
ओछे की संगत सदा गही है।
कहैं गुरु दीपचन्द पार वे होंगे
जिन नै शांती धर लई है।

चंद किरण सांग के सूफी-सिद्धांत-आश्रित कथानक को मार्मिक रागनियों में अपने-अपने कौशल के अनुरूप बीसवीं शताब्दी के तीन महान् हरियाणवी कवियों (हरदेवा, बाजे और लखमीचन्द) ने ढाला है। हरदेवा की सूक्तिपरक शैली इस सांग की रागनियों में

भी दिखलाई देती है। हरदेवा ने परकीय प्रेम से उत्पन्न विसंगतियों का चित्रण एक रागनी में इस शैली में किया है-

आशकी मत कोये करिय
मरद नै तै बिन आई मरणा हो।
आशकी सै बेल नाश की
एक ते माया लुटै पास की,
चाहे करो शेर आशकी
पर गीदड़-भभकी तै डरणा हो,
कह हरदेवा मुश्किल दिन कटणे।
बेमाता के हरफ ना मिटणे
सै आशकी नट बाँस का
कदे चढ़णा कदे उतरणा हो।

नई धुनों के आविष्कारक हरदेवा ने निश्चिततः रागनी को समृद्धि प्रदान की है।

रागनी काव्य के विकास का द्वितीय चरण उसकी संरचना के स्थिरीकरण के कारण उल्लेखनीय हैं। इसकी भाषा हरियाणा के लोक-जीवन की आन्तरिक अनुभवों से जुड़ी है। इस चरण तक रागनी में वस्तु-वर्णन की अधिकता है।

तृतीय चरण

रागनी काव्य का तृतीय चरण भाव-दीप्ति के वैशिष्ट्य को लेकर आता है। इसकी मूल चेतना गीतात्मक है। काव्य-वैभव की दृष्टि से सन् 1920 से 1945 तक का काल रागनी का स्वर्ण युग है। इस युग के महत्त्वपूर्ण कवि हैं - देवीसिंह, रबीसरूप, बाजे भगत, लखमीचन्द एवं जमुआ मीर। सन् 40 के आस-पास ही मांगेराम, श्रीराम शर्मा, धनपत, छोटू लाल, झंडू मीर, खीमा, चतरू आदि अन्य अनेक कवि भी रागनी रच रहे थे। इनमें मांगेराम, श्रीराम शर्मा और धनपत का प्रदेय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

यह सही है कि रागनी काव्य के तृतीय चरण के साथ ही अनेक लोक-प्रचलित कथाओं को सांगों में पिरोया गया, परन्तु इस संबंध में कुछ तथ्यों को ध्यान में रखना होगा। प्रथम तो यह कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में समस्त उत्तर भारत में लोक-नाट्य के रूप में नौटंकी एवं सांग का प्रचलन बहुत अधिक था। बनारस, हाथरस और आगरा नौटंकी के गढ़ थे, जबकि हरियाणा में सांग का प्रचलन चरम पर था। विशेष यह है कि नौटंकी एवं सांग में प्रादेशिक विशेषताओं के कारण शैली एवं प्रस्तुति का अंतर अवश्य

था, पर मूलतः ये भिन्न विधाएँ नहीं थीं। सन् 1870 के आसपास उत्तर भारत में 'नौटंकी' कथा-विशेष की लोकप्रियता इतनी बढ़ती है कि वह एक लोक-नाट्य के रूप में ही रूढ़ हो जाती है और दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि 'नौटंकी' विधा में जितनी कहानियों का मंचन हुआ, वे सब रूढ़ हो गयीं और प्रत्येक ने एक ही तरह से मूल कथाओं को ग्रहण कर उनकी अंतर्भूत सामग्री में ही मौलिकता का प्रदर्शन किया है, लेकिन इस अंतर्भूत सामग्री में भी मौलिकता के दर्शन नहीं होते, अपितु अधिकांश कवियों ने दोहा, काफिया, दोड़, सवैया, चौबोला, टप्पा, झूलना एवं रागनी जैसे रूपों का प्रयोग किया है। हरियाणवी रागनी के तृतीय चरण में निस्संदेह काव्यात्मक समृद्धि है, पर समृद्धि का आधार कथानकों की मौलिकता नहीं है। कथा-रूढ़ियों का दोहराव तो बीसवीं सदी के सातवें दशक के सागों तक में देखा जा सकता है। लखमीचंद जैसे बड़े कवि के तीन-चार सांग ही कथानक की दृष्टि से मौलिक कहे जा सकते हैं। लेकिन यह सच है कि बीसवीं सदी के तीसरे और चौथे दशक में हरियाणवी सांगीत अथवा नौटंकी और रागनी का अभूतपूर्व मात्रात्मक विस्तार हुआ है।

देवीसिंह हरियाणवी रागनी के तृतीय चरण के एक प्रमुख हस्ताक्षर हैं। उनका काव्य दीपचंद एवं लखमीचंद के काव्य के मध्य-संयोजक रेखा की भाँति है। 'ज्यानी चोर' की रचना उन्होंने संवत् 1983 में तथा 'ढोलामारू बाग' की रचना संवत् 1985 में की। उनके अन्य सांग भी इसी कालावधि के आसपास के हैं। इनके अधिकांश सांगों के अंत में रचनावधि का उल्लेख है। 'ज्यानी चोर' और 'ढोलामारू बाग' के क्रमशः उद्धृत अंतिम दोहे इसी का संकेत देते हैं:

1. *द्वितीय चैत कृष्ण पक्ष तिथि दसमी गुरुवार
सम्मत उन्नीस सौ तिरासी का पद कथ करै तैयार*
2. *सावन मास शुक्ल पक्ष तिथि अष्टमी बुधवार
सम्मत उन्नीसौ पचासी का सांग किया तैयार*

देवीसिंह के सांगों का एक निश्चित प्रारूप है। इनमें दोहा, काफिया, दोड़, सवैया एवं रागनी की क्रमशः आवृत्ति है। कहीं-कहीं दोहा व रागनी युगपत क्रम में आए हैं, तो कुछ अंश चौबोला, टप्पा एवं झूलना में निबद्ध हैं। इस संरचना के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्होंने लगभग 200 रागनियों की रचना की होगी। उनके ढोला मारुबाग में लगभग चालीस रागनियाँ हैं। देवीसिंह की रागनियाँ प्रवाहपूर्ण वर्णन शैली के कारण प्रबन्ध के अनुकूल हैं। अधिकांशतः इनमें ढाई बोल हैं। अंतरा में चौदह

मात्राओं का छंद है। इनमें थानेसरी अखाड़े के भाषा-रूप को विशेष रूप से अपनाया गया है। इन रागनियों में अलंकारिकता की अपेक्षा दृश्य-बिम्ब विधान की प्रधानता है। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है -

*सब चौकस रहियो आ रह्या ज्यानी चोर
वह चोर बड़ा है डाकी
कुछ नहीं छोड़ता बाकी
ले जाता चूल्हा चाकी
कोई मरद सूरमा पकड़ै कर गौर
अदली नै बचन उचारे
क्या डूब गए हो सारे
कोई बीड़ा ना ठाता रे
देबीसिंह कहता सुधले नंद किसोर*

देवीसिंह की किसी-किसी रागनी में टेक एवं तोड़ में अन्त्यानुप्रास का वह विधान भी मिलता है, जो आगे चलकर लखमीचंद की अधिकांश रागनियों की विशेषता बना है। विरह की मार्मिकता का चित्रण करने वाली उनकी अग्रांकित रागनी में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है -

*हो मेरे साजन ब्याह कै छोड़ दई पीहर में
क्यूँ ऐसा जुल्म करै
आखिर ब्याहता थारी थी
ना कोए खता हमारी थी
जै रेवा तुझको प्यारी थी
में हो जाती दासी खासी, प्यासी को कहाँ नीर धरै,
भावज तान्ने मारै थी
बात पर बात उतारै थी
बार-बार दुदकारै थी
में करती अफसोस, रोस से नैन में जल ओस भरै,
सोच फिकर कर मरली
मोस आत्मा धरली
बिपत बहुत सी भरली
दुखी हुई जिंदगानी, जानी पटरानी के मान भरै,
जल बिन कैसा मीना सै
बालम बिन के जीना सै
देबीसिंह अधीना सै
आज हुए अनन्द, चन्द से छंद समा में कहे खरे*

देवीसिंह के कुछ सांगों का प्रकाशन भाषा विभाग, हरियाणा ने किया है, पर उनका आलोचनात्मक मूल्यांकन नहीं के बराबर हुआ है।

हरियाणवी रागनी के तृतीय चरण को समृद्धि प्रदान करने में चंदू लाल के शिष्य रबीसरूप का भी विशेष योग रहा है। रबीसरूप निंदाणा गाँव के निवासी थे। 10 मार्च 2008 के 'हरिगंधा' के अंक में श्री राजकिशन नैन का 'चौबीसी में गाँव निंदाणा' लेख प्रकाशित हुआ है। श्री नैन का यह प्रयास प्रशंसनीय है कि इस लेख में उन्होंने रबीसरूप जैसे महत्त्वपूर्ण कवि पर भी प्रकाश डाला है। प्रस्तुत लेखक ने हरियाणा साहित्य अकादमी द्वारा 1996 में दादरी में आयोजित विचार-गोष्ठी में अपने शोधपत्र में रबीसरूप की काव्य-पंक्तियाँ भी उद्धृत की थीं। वास्तव में हरियाणवी कविता के इतिहास में इस कवि का बहुत कम उल्लेख हुआ है। इसलिए श्री राजकिशन नैन ने अपने लेख में इस कवि का मूल्यांकन न हो पाने के कारण जो रोष और आक्रोश प्रकट किया है, वह स्वाभाविक और उचित है, पर प्रश्न उठता है - वह मूल्यांकन करने कौन आएगा? यह तो आपको और हमको ही करना होगा। श्री नैन ने रबीसरूप की रचनाओं की अनुपलब्धता तो स्वयं स्वीकार की है। इस दिशा में उन्होंने स्वयं कितना प्रयास किया है, यह हमें मालूम नहीं है? पर उनके लेख की विडम्बना यह है कि इसमें छोटी लकीर के साथ बड़ी लकीर खींचने का प्रयास नहीं किया गया है, बल्कि बड़ी लकीर को ही मिटाने की कोशिश की गई है। 'लखमी अर बाजे लेट-जाहड़ थे तो रबीसरूप समंदर था!' निंदाणा के कन्हैया का यह उद्गार, जिसे श्री नैन ने अपने लेख में उद्धृत किया है, अपने गाँव के कवि के प्रति भावात्मक श्रद्धांजलि हो सकता है, पर श्री नैन को चाहिए कि वे इस चिंता में न घुलें कि लखमीचन्द की प्रशंसा में किसने क्या कहा है। जरूरत है, रबीसरूप जैसे महान कवि के पाठ को सामने लाने की। यह एक अलग प्रसंग है कि जिस लखमीचंद ने अपने जीवन-काल में खूब विरोध सहा था, पिछले एक दशक से गैर-साहित्यिक कारणों से उनकी निंदा फिर शुरू हो गई है।

श्री नैन ने यह अच्छी जानकारी दी है कि रबीसरूप ने दीर्घ आयु प्राप्त की और उनकी मृत्यु संवत् 1990 में (1942 के आसपास) जींद जिला के मरेहड़ी गाँव में हुई। रबीसरूप की प्रभावपूर्ण रागिनियाँ अध्यात्मपरक एवं नीतिपरक अधिक हैं। अपने समय की विकृतियों पर उनकी नजर थी। सामाजिक आचार के खंडित होने के दर्द को वे अनुभव कर रहे थे। इस विडम्बना को वे यों चित्रित करते हैं-

पागल पाग पिता की झटकै।
वेद विधि का पता नहीं
न्युंए मूरख मूंड़ी पटकै।

उनकी कविता के अध्यात्मपरक स्वर को इन पंक्तियों में पहचाना जा सकता है-

रटना आतम ज्ञान की, उट रट रंग लगन लगौं
ये डगर ब्रह्म अस्थान की, ध्यानी मन मगन लगौं
कर आसा इमरत पान की, सूते नर जगन लगौं
तज हान-मान अपमान की, आसन जहाँ गगन लगौं
चंदू सकती भगवान की, रविसरूप दम दगन लगौं

आशा है भविष्य में प्रामाणिक पाठ की उपलब्धि के आधार पर रबीसरूप के काव्य का उचित मूल्यांकन हो सकेगा।

डॉ. शंकरलाल यादव ने 'हरियाणा प्रदेश का लोक साहित्य' के पृष्ठ 399-403 पर मानसिंह के शिष्य दुलीचंद के एक सांग के कुछ अंश उद्धृत किए हैं। मानसिंह के शिष्य होने से स्पष्ट है कि वे बाजे तथा लखमीचन्द के ही समकालीन होंगे। उनकी कुछ रागिनियाँ श्रृंगार के माधुर्य एवं भाषा के लालित्य के कारण ध्यान आकर्षित करती हैं। एक उदाहरण देख लें-

मेरा सोरण बरगा गात
मनै तूं ले चल अपणे साथ
मैं उठ कै रोज परभात
पती तेरी देखूँ स्यान नै
मनै बड़ी-बड़ी बिपता ठाई
जोबन बणग्या बकर कसाई
मेरी इब तक ना हुई सगाई
रोऊँ मैं किसकी ज्यान नैं

हरदेवा के शिष्य बाजे लखमीचन्द के समकालीन ही थे, पर माना जाता है कि संवत् 1993 में केवल 35 वर्ष की अवस्था में उनकी हत्या कर दी गई थी। लोक में वे बाजे भगत के रूप में ख्यात थे। हरियाणवी रागनी को उन्होंने नया शैलिक उत्थान दिया था। दीर्घ धुनों पर आधारित बाजे की रागिनियाँ श्रोता-वर्ग में अत्यंत लोकप्रिय थी। लखमीचंद और बाजे की प्रतिद्वन्द्विता लोक-प्रसिद्ध है। दोनों के बीच नाँगलोई में हुई काव्य-प्रतिस्पर्धा भी हरियाणा में चर्चा का विषय रही है। चंदकिरण, सतवंती देवी, सोरठ, हीर-रांझा, द्रौपदी-स्वयंवर, जमाल, पूर्णमल, सरणदे, ज्यानी

चोर आदि सांगों में आई बाजे की रागनियाँ मात्रात्मक विस्तार और गुणात्मकता – दोनों दृष्टियों से विशिष्ट हैं। इनमें भावात्मकता एवं रसोद्रेक की अद्भुत क्षमता है। चंदकिरण सांग की रागनियाँ सर्वाधिक मार्मिक हैं। यह उदाहरण बाजे के काव्य-वैशिष्ट्य को स्पष्ट करता है –

दईं गेर कमंद की डोर चढ़, क्यूँ वार लगावै सै,
रंगत देखी ना बाणे की
जले इस जोबन जल जाणे की
सिर पै नक्कारे घोर इश्क मनै घणा सतावै सै
मेरा जी फंस गया तेरे में
सच बूझै तै मन मेरे में
उट्टै सामण बरगी लोर मेरी ना पार बसावै सै।
बाजे कह कर ठंडा सीना
लया सामण किसा महिना
नाचै नै बण कै मोर मोरणी आँसू चाहवै सै

बाजे की रागनियाँ लालित्य-प्रधान तो हैं ही, इनमें छंदों का प्रवाह और अप्रस्तुतों की सहजता भी विशिष्ट है। निम्न अंश इसका उदाहरण है –

धूम्रा आवै सै अटारी में
धूणा ठाले हो बाबा जी
म्हारी चंद किरण दुख पागी,
तू कित तै आग्या निरभाग
लगावै भगवा बाणे के दाग
या रुक री सै नाग
पिटारी में
तू मत छेड़ै तनै खागी।

हरियाणवी रागनी काव्य के उत्कर्ष में बाजे का योग स्मरणीय रहेगा। अपने जीवन काल में ही मिथक बन जाने वाले कवि लखमीचंद को निर्विवाद रूप से रागनी रचयिताओं में श्रेष्ठतम माना गया है। हरियाणा के जिस ग्रामीण परिवेश में लखमीचंद पैदा हुए थे, उसमें तब जन्म-तिथि का हिसाब रखता ही कौन था? लखमीचंद के काव्य का अत्यन्त उल्लेखनीय संग्रह 'रत्न-कोष' प्रकाशित करने वाले श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा के अनुसार उनकी जन्म-तिथि 15-7-1903 है तथा उनके अवसान की तिथि 15-10-1945 है।¹⁶ उनके अवसान का निश्चित लेखा-जोखा इसलिए मिल जाता है, क्योंकि तब तक वे कवि-सूर्य बन चुके थे।¹⁷ डॉ. हरिश्चंद्र बंधु ने लखमीचंद के काव्य पर महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य

किया है। पहले उन्होंने एक स्थान पर लखमीचंद का जन्म 1900 में होने का उल्लेख किया था। हाल ही में उन्होंने प्रस्तुत लेखक को बतलाया है कि उन्होंने जिला सोनीपत के मुख्य चिकित्सा अधिकारी कार्यालय से कुछ वर्ष पूर्व लखमीचंद के जन्म का रेकार्ड निकलवाया था। उसके अनुसार श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा द्वारा सूचित तिथि ही प्रामाणिक है।

अपने लगभग दो दशकों के रचना-काल में लखमीचंद ने जिन सहस्राधिक रागनियों की रचना की है, वे इस विधा का उपलब्धिपरक इतिहास निर्मित करती हैं। महान् कवि न तो परम्परा से कटता है और न अनुकरण उसका लक्ष्य होता है। वह तो सदैव परम्परा से जुड़कर नया रचता है। लखमीचंद ने किशनलाल से लेकर दीपचंद तक प्रचलित हरियाणवी काव्य की सभी शैलियों को सूक्ष्मता से परखा था। हीरादास से लेकर देवीसिंह तक के भाषिक मुहावरे को पहचाना था और शंकरदास के पौराणिक ज्ञान को गुना था। समूची परम्परा में जो कुछ ग्राह्य था, उसे लखमीचंद ने सश्रद्ध ग्रहण किया था, पर सृष्टि उन्होंने नितांत मौलिक काव्य की ही की। रागनी के इतिहास के पूर्वोक्त तथ्यपरक विवेचन से श्रद्धा-अतिरेक और भावुकता भरे वे दावे खारिज हो जाते हैं, जिनमें से कुछ में कहा गया है कि रागनी का आविष्कार एवं चलन दीपचंद ने आरम्भ किया और कुछ अन्य ने कहा है कि लखमीचंद ने रागनी को जन्म दिया। इन दोनों कवियों से पूर्व रागनी का चलन ही आरंभ नहीं हो चुका था, इसकी एक परम्परा भी बन चुकी थी, पर इसमें संदेह नहीं कि इसके विकास में लखमीचंद का योग सर्वाधिक है। लखमीचंद की विशेषता यह है कि उन्होंने रागनी के सभी संगीतपरक भेदों – सोहनी, लावनी, अर्द्धलाजवंती, मरहटी, दबंग, सारंग, कालंगड़ी आदि को अपनाकर नए प्रयोग भी किए। उन्होंने दो, ढाई, तीन एवं चार बोलों की रागनियों की रचना की एवं अपनी 'डोली' की मौलिक भंगिमा का जादू समाज पर डाला। सूक्ष्म अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि उनकी रागनियों का हरियाणवी काव्य के सभी पूर्ववर्ती लोकप्रिय रूपों – कड़ा, चौबोला, काफिया, सवैया, खयाल, बारहमासा, टप्पा, झूलना व बहरे तबील का भी अंतर्लयन किसी न किसी रूप में हो गया है। लखमीचंद का संगीत-कौशल अद्भुत था। लय के आवर्तों के अनुकूल अन्त्यानुप्रासों का संयोजन जैसा लखमीचंद की रागनियों में है, वैसा किसी हरियाणवी कवि में तो उपलब्ध है ही नहीं, खड़ी बोली साहित्य में भी यह दुर्लभ है। उदाहरणार्थ 'पद्मावत' सांग की लगभग 70 रागनियों में उन्होंने 50 विभिन्न शैलीगत प्रयोग किए हैं। उनका आदर्श था –

लखमीचन्द छंद का धरणा

चाहिए ठीक गाल्यम-सा भरणा।

उनके काव्य में यह प्रयोग-वैविध्य कहीं भी पादपूर्ति-दोष से ग्रस्त नहीं है।

लखमीचंद का हरियाणवी रागनी काव्य में प्रमुखतम योग है, इसके प्रामाणिक दस्तावेज भी उपलब्ध हैं। 'इंडिया ऑफिस लंदन' में केवल दो वर्षों - 1937 और 1939 के बीच में प्रकाशित चौदह सांग इसका साक्ष्य हैं। संयोग से उस संग्रह में लैला-मजनू और प्रह्लाद जैसे वे सांग भी हैं, जो न तो 'हरियाणा साहित्य अकादमी' द्वारा प्रकाशित 'लखमीचंद ग्रंथावली' में संग्रहीत हैं, न अन्य अध्येताओं ने उनका उल्लेख किया है।

लखमीचंद के रागनी काव्य की विशिष्टताओं को परखने से पूर्व उनके काव्य की छंद-सापेक्ष स्थिति पर टिप्पणी अनिवार्य है। यह सही है कि लखमीचंद ने पिंगल-शास्त्र का अध्ययन नहीं किया था। वर्ण, अक्षर एवं मात्राओं का विधिवत् विश्लेषण भी उन्होंने नहीं सीखा था, परन्तु जैसा कि पहले कहा गया है, छंद की पूर्णता एवं निर्दोषता के प्रति उनका एक निजी दृष्टिकोण था। यह दृष्टिकोण उनकी कई रागनियों के अंत में निरूपित है। वे छंद के गढ़ने को हँसी-खेल नहीं मानते थे। वे अपने छंद को पूर्णता प्रदान करते थे। उनके इन आत्म-वक्तव्यों में दो बातें स्पष्ट हैं। एक तो वे छंद को प्रायः काव्य-मात्र से अभिहित करते हैं, दूसरे छंद की पूर्णता का आधार वे संगीत को मानते थे। यह 'साज पर डोली पड़ने' के उनके वक्तव्य से स्पष्ट होता है। लखमीचंद का काव्य आज हमारे सामने डॉ. पूर्णचंद शर्मा द्वारा संपादित हरियाणा साहित्य अकादमी के प्रकाशन 'लखमीचंद ग्रंथावली' तथा श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा द्वारा संपादित 'रत्न-कोष' के रूप में विद्यमान है, पर अब तक भी उनकी रचनाओं का पूर्ण, मूल एवं निर्दोष पाठ प्रामाणिक रूप से उपलब्ध नहीं है। श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा ने लखमीचंद से प्रत्यक्षतः जुड़े स्रोतों के आधार पर संग्रहीत सामग्री को पाठ की दृष्टि से 'प्रामाणिकता की पराकाष्ठा' बतलाया अवश्य है, पर इस संग्रह को भी पूर्णतः संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। हाँ, हरियाणवी कविता पर हो रहे विवेकहीन उपाधि-सापेक्ष 'शोध' पर उनका उँगली उठाना सही है। अनेक तथाकथित विद्वानों ने लखमीचंद के सांगों की ऐसी अंधाधुंध सूची प्रस्तुत कर दी है, जिसमें उन सांगों का भी उल्लेख है, जो लखमीचंद के थे ही नहीं। हरियाणा साहित्य अकादमी के प्रकाशन 'लखमीचंद ग्रंथावली' पर भी श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा की प्रक्षेपणों से संबंधित आपत्ति पर विचार किया जाना

चाहिए। क्योंकि एक तो इसमें संग्रहीत सामग्री के पाठ को सही जाँचा-परखा नहीं गया है और अनन्त प्रक्षेपणों को इसमें जाने दिया है, दूसरे अनेक हरियाणवी शब्दों का अनावश्यक रूप से तत्समीकरण कर उनकी सहजता को ही समाप्त कर दिया गया है। श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा ने लखमीचंद के नाम पर अप्रामाणिक रागनियों की जो सूचियाँ स्थान-स्थान पर अपने 'कोष' में दी हैं, उनकी 90 प्रतिशत रागनियाँ तो निस्संदेह लखमीचंद की नहीं हैं और वे अप्रामाणिक हैं, परन्तु इन सूचियों की कुछेक रागनियाँ ऐसी हैं, जो परम्परा, शिल्प और भाषा-शैली के आधार पर लखमीचंद की मानी जा सकती हैं और उन पर पुनर्विचार होना चाहिए। वास्तव में लखमीचंद के काव्य की प्राप्ति के जितने भी स्रोत आज हमारे पास बचे रह गए हैं, उन सभी स्रोतों की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। कहीं-कहीं तो संग्रहकर्ताओं की अज्ञानता ने उसके स्वरूप को इस रूप में विकृत कर दिया है कि उसमें छंद-स्खलन स्वाभाविक हो गए हैं। अतएव आज यदि लखमीचंद की रागनियों में यत्र-तत्र छंद-दोष नजर आते हैं या पिंगल के नियमानुसार वे शास्त्रीय छंद प्रतीत नहीं होते या उनमें ऐसी अन्य विसंगतियाँ नजर आती हैं, तो बहुत दूर तक इसका उत्तरदायित्व इनके संग्रहकर्ताओं पर है, अन्यथा भाषा का इतना सशक्त प्रयोग करने वाला वह कवि जो स्थान-स्थान पर छंद की पूर्णता की बात करता है, त्रुटिपूर्ण छंद नहीं रचता।

लखमीचन्द द्वारा रचित सेठ ताराचंद, पद्मावत, मीराबाई, शाही लक्कड़हारा, नल-दमयन्ती, पूर्णमल, हरिश्चन्द्र, चापसिंह आदि सांगों में संग्रहित रागनियों के अतिरिक्त शताधिक प्रबन्ध-निरपेक्ष रागनियाँ भी उपलब्ध होती हैं। उनके काव्य की सर्वोपरि विशेषता है- इसकी रसप्रवणता! वेदना, प्रेम और अध्यात्म उनके काव्य के प्रमुख पक्ष हैं, अर्थात् करुण, शृंगार एवं शांत इसके अंगी रस हैं। सांगों को वर्णानात्मकता से तन्मय गीतात्मकता तक लाने का श्रेय लखमीचन्द की रागनियों को ही है। पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व एवं मनोवेग की मार्मिक अभिव्यक्ति इनमें है। कर्तव्य-बोध के द्वन्द्व से ग्रस्त चन्द्रगुप्त जब धर्ममालकी को टापू में छोड़ देता है, तो समुद्र के अनन्त विस्तार में, यात्रा की निःसंगता में वातावरण की निस्तब्धता में धर्ममालकी की स्मृति आने पर चन्द्रगुप्त का यह आत्म-मंथन मार्मिक है -

हुचकी आई गोरी की याद की

जैसे तेग दुधारी फौलाद की

लगी काटण, चाटण, बाँटण ध्यान नै चुफेरै

मैं तनै हरगिज भी नाँ त्यागता
 बेईमान छोड़ दिया जागता
 तू पड़कै सोगी, खोगी, होगी, झूठी भ्रांती-सी मेरै।
 हो गया फासला घणी दूर का
 उस धर्ममालकी हूर का
 कर इंतजाम, तमाम, राम जी दी छोड़ भरोसै तेरै,
 फेर मिलण की आस ना
 न्यू कहण आला तेरै पास ना
 तज रोवा पीट्टी, मिट्टी, घिट्टी काट कै मत गेरै
 कह लखमीचंद दिन रात नै
 के भूलूँ सू उस बात नै
 मुख खोल्ले, बोल्लै, डोल्लै जाणु कोए फूल से बखरै

हरिश्चन्द्र के मार्मिक कथानक को सैकड़ों कवियों ने काव्यबद्ध किया है, पर लखमीचंद की-सी भावावेगमयी अभिव्यक्ति कम में ही देखी गई है। निम्न पंक्तियाँ वेदना-विह्वलता का बेजोड़ चित्रण करती हैं -

बेटे आला किला टूट गया टूटी पड़ी किवाड़ी रहगी
 चीर नै ले कै राजा चल दिया राणी सपट उघाड़ी रहगी
 रोण नै होगा बूँभ फूट के
 पिकर नै खा लिया गात चूँट कै
 आवण लाग्या साँस टूट कै
 उसीए चलती नाड़ी रहगी।
 रानी धोरै तै टलती बरियाँ
 डह पड़्या होता सिंभलती बरियाँ
 लिंकड़ियो बेसक जलती बरियाँ
 पेड़ मैं गड़ी कुल्हाड़ी रहगी।

‘हरिश्चन्द्र के मन-प्राण वेदना से बिंध गए हैं। इस वेदना का निष्क्रमण अब शरीर के जलने के साथ ही संभव है’ - इस प्रस्तुति के लिए ‘बीटा टूटी पेड़ मैं गड़ी कुल्हाड़ी’ का अप्रस्तुत अनुपम है। कई बार तो लखमीचंद ने पूरे के पूरे पौराणिक संदर्भ को ही अद्भुत रूप में अप्रस्तुत बना दिया है, यथा -

मैं दुखिया फिरूँ सूँ कँगाल
 मेरे तै के मतलब थारा
 पकड़ मनै कित ले जाओगे
 बेटा वरुण देवता पै लिया
 नहीं मौके पै उलटा दिया

किया हरिचंद नै कोड़ कमाल
 मरवाणा ब्राह्मण सुत धार्या
 केउसी बली चढ़ाओगे।

यहाँ ‘केउसी बली चढ़ाओगे’ की लकड़हारे की आशंका पुरा-बिम्ब के सहारे अद्भुत मार्मिकता पा गई है। अप्रस्तुत-विधान में एक पूरे कथा-प्रसंग को समाहित कर कवि ने सर्जनशीलता का एक मानक प्रस्तुत किया है।

विपुल काव्य-रचना करने वाले किसी भी कवि की प्रत्येक पंक्ति श्रेष्ठ नहीं हुआ करती। लखमीचंद की भी नहीं है, परन्तु उनका ‘दोष रहित दूषण सहित’ श्रेष्ठ काव्य भी मात्रा में कम नहीं है। नाटकमय होना उनके काव्य की रूपगत अनिवार्यता थी। अनेक रूढ़ कथाओं को भी उन्होंने सांगीत-निबद्ध किया है, पर उनकी रागनियाँ एक धरातल पर पहुँचकर राजा, देवता या महापुरुष से असम्बद्ध-सी हो जाती हैं, वे केवल जन से जुड़ जाती हैं। लोक-मानस एवं जनभाषा का प्रतिबिम्बन उनकी प्रमुख विशेषता बन जाता है। साहित्य में समकाल इसी रूप में प्रतिबिम्बित होता है।

लखमीचंद ने रागनी के शिल्प-तंत्र को अपने अद्वितीय संगीत-ज्ञान के आधार पर जो वैविध्य एवं लालित्य प्रदान किया है, वह उनकी अमरता का आधार है। उनका तुक-विधान तो अनुपम है। यों दुनिया के किसी भी काव्य-शास्त्र में तुक को काव्य-श्रेष्ठता का एकांत मानदण्ड नहीं माना गया है, पर लखमीचंद ने तुक को गहरी मनोवैज्ञानिक समन्वितता के रूप में देखा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने ‘देवदारु’ निबन्ध में तुक की मौलिक व्याख्या करते हुए इसका आधार अगरे-बगरे जैसा ध्वनि-साम्य न मानकर अर्थगत समानता को माना है। लखमीचंद ने भी तुक को केवल आनुप्रासिकता से न जोड़कर इसका आधार भावगत साम्य माना है। परिणामतः यदि उनके काव्य में दो पात्रों के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने वाली एक साथ दो रागनियाँ हैं, तो उन्होंने दोनों का छन्द एवं यति विधान ही समान नहीं रखा है, उनकी भाषा-शैली एवं मिथक निर्वाह भी समान हैं। जिस शैली में वे चन्द्रगुप्त के परिताप को व्यक्त करते हैं, धर्ममालकी की वेदना को भी उसी साँचे में ढालते हैं। एक रागनी की टेक, कली और तोड़ में अन्त्यानुप्रास का जो स्वरूप बन जाता है, उसे वे शेष कलियों में भी निभाते हैं। विशेष यह है कि यह अत्यन्त असहज साधना पाठक को नितांत सहज एवं निरायास लगती है। कहीं अर्थगत विसंगति नजर नहीं आती। उनकी रागनियों में यति एवं अन्त्यानुप्रास के प्रयोग वैविध्य से जन्य लय के आवर्तों को दिखलाने के लिए कुछ उदाहरण यहाँ

प्रस्तुत करना अपेक्षित है -

(क) कहियो री उस नौटंकी गौरी नै,
राजा की छोरी नै
एक आस्यक रोवै तेरी ज्यान नै
दान पुन जाणूँ कद आज्याँ आड़ी
ह दिए वो हीणा तू ठाड़ी
धँसरी गाऱ्या मै गाड़ी
मुश्किल होरी सै धोरी नै
जाणूँ कद चालैगी जीत मदान नै

(ख) लड़का तै ना लेणा चाहिए
बदलै मैं दुख खेणा चाहिए
माँगै सौं दे देणा चाहिए
पिया काम चलावण नै
कर दे दूर जिगर के धड़के
तनै मैं भेद बता दूँ जड़ के
इस लड़के तै के माया बरसै गी
दूणी बेसरमी दरसै गी
दयावती बहना तरसै गी
पूत खिलाहवण नै

(ग) अरी तबीयत मानै तेरी, सुन ले अरज मेरी, बस रो ली भतेरी
जरा दिल को थमा तू
सबर कर सबर ये दुख सबसे जबर मुझ को ना थी खबर
है इस मुरदे की मा तू

(घ) दिन लिंकड्या पीली पटी
चलने की सुरती रटी
ना डरते, फिरते, करते सैल बण की रै
ताल नीर के भर रहे
ऊपर कै भौरै फिर रहे
बड़ा शोर अनन्द का कर रहे
खुशी दिल में, पल में, जल में
झलक जिनकी रै

(ङ) ब्याहली बहू नै ले कै चला
चलता क्रिया था जहाज
झिमाझिम हो रही पाणी पै
उनकी न्यजर मिल्लै थी कैसे
दोनों बात करण लगे ऐसे

जैसे अम्बर में करकै कला
झगड़ रहे दो बाज
तीसरी एक ज्यान विराणी पै।

(च) राणी रोण लगी बेजार जब पास पती पाया ना
मैं डूब गई मझधर खिवैया रह्या सहाया ना
क्यू हाँसो रे तुम फूल
झूल रहे किसे नसे मैं टूल
या सै थहारी बड़ी भूल
धूल नै एक दिन करो कबूल
दुखी की रूल ना होई थारै पार थहारा हँसणा मुरझाया ना

(श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा द्वारा संपादित 'रत्न-कोष' में 'नल-दमयन्ती' सांग में यह रागनी नहीं हैं, पर इसकी शैल्यिक संरचना इसके लखमीचन्द द्वारा रचित होने का ही संकेत देती है।)

इन उद्धरणों के रेखांकित शब्द रागनी की टेक, कली और तोड़ का एक अलग-अलग पैटर्न प्रस्तुत करते हैं और प्रत्येक में आगे इसी पैटर्न का निर्वाह है।

लोक में प्रचलित उक्ति 'जो गाणा था लखमीचन्द गा गया' उनके रागनी काव्य का सम्यक् मूल्यांकन प्रस्तुत करती है। परवर्ती कवियों ने लखमीचन्द के शिल्प का अनुकरण तो किया है, पर वे उसे नई दिशा नहीं दे पाए। तृतीय चरण का रागनी की विशिष्ट उपलब्धि लखमीचन्द का काव्य ही है।

चतुर्थ सोपान

1945 में जब लखमीचंद का देहान्त हुआ, तब हरियाणवी रागनी काव्य अपने चरम उत्कर्ष पर था। गाँव-गाँव में सांगियों और भजन-मंडलियों की टोलियाँ उनकी रागिनियों की तो प्रस्तुति कर ही रही थीं, तब मांगेराम, श्रीराम शर्मा एवं धनपत सिंह भी मौलिक लेखन के साथ उपस्थित हो चुके थे। लगभग इसी समय मेहरसिंह फौजी का आगमन होता है। रागनी के चतुर्थ चरण का प्रवर्तन इन्हीं कवियों के साथ होता है। तीसरे चरण में भी लगभग एक दशक तक रचनास्त रहने वाले कवि मांगेराम की सर्जन-यात्रा परवर्ती दो दशकों तक (सन् 1968 तक) चलती रहती है। चौथे-पाँचवें दशक में ही धनपत सिंह का आगमन हो चुका था। धनपत ने 'लाहौर' फिल्म पर आधारित लीलो-चमन सांग से रागनी काव्य को फिल्मों की ओर मोड़ दिया। दीपचन्द की शिष्य परम्परा में इस काल के आरम्भ में भरतू, चतरू एवं छोटूलाल ने भी रागनी-शिल्प में कई

परिवर्तन किए। हुकमचन्द, बनवारी, सुलतान, चंदन, मुन्शीराम, मंगलसिंह, भीष्म, माईराम, रघुनाथ, बुल्ली जैसे कवि जहाँ लखमीचन्द की शैली से जुड़े रहे हैं, वहाँ इनकी रागनियों में नए प्रभाव भी स्पष्ट हैं। भीष्म आर्य समाजी भजनीक थे। हरियाणवी एवं खड़ी बोली का मिश्रित रूप प्रस्तुत करने वाली उनकी रागिनियाँ अंजना सांग में उपलब्ध होती हैं, पर काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से यह साधारण रचना है। यही स्थिति माईराम की रचना 'उदयभान संतोष कुमारी' की है।

आयुक्रम में पण्डित मांगेराम अपने गुरु लखमीचन्द से दो-तीन वर्ष ही छोटे थे, परन्तु रचनाक्रम में वे उनके परवर्ती थे। हरियाणवी रागनी काव्य को लखमीचन्द के बाद मांगेराम ने ही नया मोड़ दिया है। उन्हें ध्रुवभगत, कृष्ण जनम, खाण्डेराव परी, भरथरी-पिंगला, शकुन्तला-दुष्यन्त एवं नौरत्न सांगों की रागनियों के आधार पर विशेष ख्याति मिली है, यों इनके अतिरिक्त भी उनके कई सांग हैं। मांगेराम ने नवीन अप्रस्तुत-विधान के बल पर लखमीचन्द की परम्परा से जुड़कर भी मौलिक काव्य-प्रवृत्तियों का परिचय दिया। उनकी उपमाएँ ग्रामीण जीवन से गहरे जुड़ी हैं। लखमीचन्द के काव्य में आए जो पौराणिक संदर्भ जन-सामान्य को दुरूह प्रतीत होते थे, उन्हें मांगेराम ने सरलतर रूप में प्रस्तुत किया। रागनी की प्रथित शैली को अपनाकर उन्होंने नए प्रयोग भी किए। निम्न उदाहरण से यह स्पष्ट है -

गंगे जी तेरे खेत मैं / गडे री हिंडोले चार
श्री रुकमणी झूलती / श्रीकृष्ण जी झूल रहे।

मांगेराम ने अपनी रागनियों में समाज में व्याप्त विसंगतियों से जन्म लेने वाले अन्तर्द्वन्द्वों एवं मानसिक घात-प्रतिघात का सुन्दर चित्रण किया है। सौत एवं विमाता की समस्या समाज में बहुत व्यापक है। ध्रुव भगत की एक रागनी में मांगेराम ने इसका मार्मिक चित्रण यों किया है -

हथनापुर तै डोले आगे
समझूँ था दिन सौले आगे
उमर बडेरी धोले आगे
इब थाम जात बिगाड़ो गी।

पारिवारिक कलह, अवैध सम्बन्ध और देवर-भाभी के विवाद का निरूपण 'भरथरी-पिंगला' में जिस शैली में हुआ है, यह ग्रामजनों को किसी राजा की कहानी की अपेक्षा अपने आसपास के समाज

का चित्रण ज्यादा लगता है। विक्रम का यह कथन ऐसा ही है -

विक्रम देख-देख कै डर लिया
क्यूँ तनै पेट जहर तै भर लिया
किसा तुम्बा-सा मुँह कर लिया
भाभी चोर की तराँ।

मांगेराम ने 'कृष्ण जन्म' की रागनियों में संवेदना और शिल्प का श्रेष्ठ समन्वय किया है। इन करुणा-व्यंजक रागनियों का लय विधान नवीन एवं विषय-सापेक्ष है। निम्न अंश की मार्मिकता इसका प्रमाण है -

उग्रसैन के कंस, मिटैगा वंश, मनै दुख देया
रोवै सै खड्या दूर भणोई तेरा।
हाथाँ नै टुक डाट, केस गए पाट, हुई लाचारी
मां की जाई बाहण रोवती थारी।
ब्राह्मण मांगेराम बोलता थारा उतर गया चेहरा।

'गैरों के दुख दूर करण आले' 'वीर विक्रमाजीत' सांग की रागनियों की प्रवाहमयता भी अनूठी है। मांगेराम की उत्कृष्ट अप्रस्तुत-योजना के कुछ उदाहरण हैं - 'सूखे धानाँ पाणी आज्या हटकै फेर हरे होज्याँ', 'मांगेराम साँझला कोल्हू घर-घर छोल रहें जा सै', 'किसे टेड़े कर लिए कान भाभी मोर की तराँ', 'बैत की तरियाँ दोलड़ करकै मोड़या करूँ बटेउआँ नै', 'बिना सिंगा के बैल बटेउ नाथ घला मत ना फड़कै' तथा 'और देस नै मोती चुग लिए मैं खाली रेत पिछौडूँ सूँ।' काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से रागनी साहित्य के इतिहास में लखमीचन्द के बाद मांगेराम का ही स्थान है।

श्रीराम शर्मा का जन्म 1907 में भैंसरू कलाँ में हुआ, पर उनका रचना-कर्म बलि ब्राह्मणान (त. गोहाना) में गऊशाला हेतु प्रचार के रूप में आरम्भ हुआ। यों तो उन्होंने भी उन्हीं पारम्परिक सांगों की रचना की है, जिनका क्रम बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से चल रहा था, पर उनके काव्य की दो बहुत बड़ी विशेषताएँ हैं, जो उन्हें अन्य हरियाणवी कवियों से अलग करती हैं। एक तो उनके काव्य में प्रगतिशील तत्त्वों की प्रचुर उपस्थिति है, दूसरे सामयिक घटनाओं और विषयों का समावेश उनकी रागनियों में विशेष रूप से हुआ है। यथार्थ के प्रति जितनी सजगता श्रीराम शर्मा के काव्य में दिखलाई देती है, उतनी अन्य रचनाकारों में उपलब्ध नहीं होती।

श्रीराम शर्मा ने किसान के जीवन की विडम्बनाओं का जो चित्रण किया है, वह हरियाणवी काव्य में दुर्लभ है। निम्नलिखित

उदाहरण से यह स्पष्ट है-

पच-पच कै दिन रात कमाया, फेर भी भूखा सोया
जर्मीदार तेरा हाल देख कै मेरा जीवड़ा रोया
जेठ, साढ, भादों की धूप मैं तेरा बदन जला रै
माह-पौह मैं पाणी बाह्या, कोल्हू मैं रहा खला रै
आई बारी भरोटा भारी डिग ग्या तेरा नल रै

स्वतंत्रता के साथ पूरे देश में आशा की नई किरण फूटी थी। तब एक सपना जगा था कि किसान जीवन बदल जाएगा। भले ही यह आशा अंततः एक दुःशा ही सिद्ध हुई हो, तथापि उस प्रगति का एक स्वर कविता में फूटा था। श्रीराम शर्मा ने उस सपने को प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति दी है। इस संदर्भ में उनकी ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं-

भारत के नर नारी जरा कान करिये।
बदल गया ढंग अर जमाना ध्यान धरिये।
टूटे लीतर पाटे वस्त्र गात उघाड़ा था
गैर मुलक की करी गुलामी कोड पुवाड़ा था
आमदनी कम खर्चा ज्यादा जी नै खाड़ा था
निरे दिए लगान टैक्स तेरा कूढ़ा माड़ा था
इब महान आत्मा गांधी के गुणगान करिये।

श्रीराम शर्मा ने हरियाणा के अशिक्षित समाज की विडम्बना को भी पहचाना था और शिक्षा की आवश्यकता पर बल देते हुए लिखा -

सारी कौम तरक्की करगी लड़कै और झगड़ कै
अविद्या के मनुष देख कै मेरा कालजा धड़कै
बिन विद्या इस आदम देह मैं नहीं जन्म माँ दे
पढे लिखे बिना समझ सकै ना ऊँच-नीच कादे
कोन्या बणै ज्वाब अकलबंद खूँट चना फाह दे
राग-द्वेष केस सत्रु कोए अर्जी भी जा दे
थाणा और तहसील अदालत देख-देख फड़कै

लोकप्रियता की दृष्टि से मेहरसिंह फौजी की रागनियों की भी बहुत धूम रही है, पर उनकी अधिकांश रागनियाँ लखमीचन्द का अनुकरण प्रतीत होती है। उनके द्वारा रचित 'अंजना' सांग की रागनियाँ बहुत प्रसिद्ध रही हैं। अपनी कुछ रागनियों में मेहरसिंह ने फौज के अनुभवों का मार्मिक चित्रण किया है। हरियाणा के देहात का सेना से मजबूत रिश्ता रहा है। संयुक्त परिवारों से एक जमाने में

कोई-न-कोई युवक सेना को आजीविका के लिए चुनता ही था। फौज छुट्टी न मिलने अथवा छुट्टी काट कर चलने के करुण क्षणों का चित्रण मेहरसिंह की रागनियों में देखा जा सकता है।

बिस्तर बांध कै चाल पड़ूया, जब याद हाजरी आई।
मेरे पिकर मैं मेरी बहू नै, रोटी भी ना खाई
दो दिन रहगे छुट्टी के, मेरा घी पीपी मैं डाल्या
छोट्टै भाई नै ठाया बिस्तरा, मेरे आगै-आगै चाल्या

फौज के अनुभव पर आधारित उनकी 'देश कै ऊपर ज्यान झ्होक दी लिख चिट्ठी मैं गेर दियो'

तो अति चर्चित रागनी है ही।

मेहरसिंह ने हरियाणवी रागनी की एक चिर-परिचित शैली सूक्ति-कथन को भी अपनाया है। इस तरह की उनकी एक रागनी का एक अंश यहाँ उद्धृत है -

रस बिन इश्क, इश्क बिन आश्यक, आश्यक बिन संसार नहीं
शरम बिन लिहाज, लिहाज बिन मतलब मतलब, बिन कोए यार नहीं
धन बिन दान, दान बिन दाता, दाता बिन जर सून्ना है
रन बिन शूरा, शूरा बिन तेगा तेगा बिन घर सून्ना है
तप बिन कर्म, कर्म बिन किसमत, किसमत बिन नर सून्ना है
हठ बिन हार, हार बिन हाणी, हाणी बिन हुशियार नहीं...

धनपत सिंह की रागनियों की विशेषताएँ इनका चित्रण-कौशल, वातावरण की प्रस्तुति एवं दृश्य-विधान है। समकालीन कल्पित कहानियों के अतिरिक्त पूर्व प्रचलित किस्सों पर लगभग दो दर्जन सांग रचे, जिनमें कई सौ रागनियाँ संकलित हैं। भले ही वे लखमीचन्द या मांगेराम जैसी काव्य-समृद्धि न दे सकें हों, तथापि उनके काव्य में अनेक अंश बहुत मार्मिक बन पड़े हैं। यथा-

बण टोहे, बिरवे टोहे, टोह लिए सब रूख
बणदेवी मने पाई कोन्या मेरे कालजे का टूक
जेठ साढ़ की घाम पड़ै सै लू चलती बड़ी भारी
कोए नहीं साथी मेरा रोऊँ दे किलकारी
हो रही इसी लाचारी फिकर मैं लिया कालजा सूख।

धनपत सिंह की एक विशेषता यह है कि श्रीराम शर्मा की तरह उन्होंने किसान की उस व्यथा-कथा का चित्रण अपनी रागनियों में किया है, जिसे अनेक सांगियों ने भक्ति, नीति और श्रृंगार के प्रवाह में नजर-अंदाज कर दिया था। उनकी एक ऐसी रागनी का

एक अंश इस प्रकार है-

किसान की मुसीबत नै जाणै सै किसान
लूट-खसोट मचावणियाँ तू के जाणै बेईमान
ऊँची-ऊँची बाड़ करैँ और खोद हम खाई दें
म्हारे खून के कतरे के दाणे बणे दिखाई दें
उन दाण्याँ नै तूँ लेज्या हाम बस माल-उघाई दें
जमीदार की मौत हुया करैँ चौगुणा लगान

स्वतन्त्रता के पश्चात् आधुनिकीकरण और शिक्षा-प्रसार के कई धनात्मक प्रभाव हरियाणा के ग्राम जीवन पर पड़े हैं, पर इसी युग में कुछ अपरिहार्य विसंगतियाँ भी उभरी हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त वर्ग की लोकपरक साहित्य के प्रति अरुचि उभरने लगी है। उधर जीवन के हर क्षेत्र में साधना का मूल्य घटने लगा है। इस काल में अर्द्धशिक्षित समुदाय सांगों से जुड़ा है, वह अधकचरे आधुनिकीकरण के प्रयास में रागनी को फिल्मों के अकलात्मक अनुकरण एवं अश्लीलता की ओर धकेल देता है। इस युग में रागनी को मात्रात्मक विपुलता तो मिली, पर गुणों का स्पष्ट हास हुआ है। आजकल जहाँ मुद्रण की सुविधा बढ़ी है, वहाँ इलैक्ट्रॉनिक यन्त्रों का चलन भी बढ़ा है। रागनी इन माध्यमों से प्रस्तुत हुई है। इसी युग में आकाशवाणी के दिल्ली एवं रोहतक केन्द्रों से रागनी के प्रचुर-प्रसार ने इसे असीम लोकप्रियता दी। दो दशक पूर्व 'कंपीटीशन' सांगों के स्थानापन्न बनकर आए, पर इनमें स्तरीय रागनियों का अभाव रहा।

स्वातंत्र्योत्तर युग के सभी रागनी रचयिताओं का उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं। इस युग के प्रमुख कवि हैं - रामकिशन व्यास, चन्द्रदत्त बादी, हरिकेश, जगदीश शर्मा, महावीर, जगत सिंह, तुलाराम, जयनारायण, टेका, भारत भूषण सांघीवाल, रामानन्द, प्रह्लाद शर्मा, कुन्दनलाल, पूरणचन्द आजाद आदि।

अधिकतर चार चरणों की चार कलियों वाली रागनियाँ रचने वाले रामकिशन व्यास को छठे दशक में विशेष ख्याति मिली। उत्तर-प्रत्युत्तर शैली में युगल रागनियों की उन्होंने अधिक रचना की। लगभग 12 सांगों के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप में भी उनकी रागनियाँ उपलब्ध हैं। व्यास की रागनियों में प्राप्त लय-वैविध्य के आधार पर इन्हें बड़ा देश, छोटा देश, लावणी, जगाधरी, थानेसरी, दौड़, सोहनी आदि वर्गों में बाँटा जा सकता है। इनके चर्चित सांग हैं- 'कम्मो कमलेश' एवं 'रूपकला जादू खोरी।' ईश्वर की सर्वव्यापकता, साम्प्रदायिक सौहार्द एवं आत्मज्ञान का प्रतिपादन उनकी रागनियों में विशेष रूप से हुआ है। धनपत के 'लीलो-

चमन' की कभी धूम मची थी। 'कम्मो कमलेश' का कथानक भी भारत-पाक विभाजन से जुड़ा है। कवि ने साम्प्रदायिक विद्वेष से उत्पन्न विनाश का चित्रण यों किया है -

चढ़गी गरदिस सहस कटे आपस में भाई-भाई,
बखत कसूता, पाट गए थे न्यारे मरद लुगाई
लाशां के ऊपर चाल्लै थी सरकारी मोटर लारी।।

सन् 60 के बाद के रागनी-काव्य में साहित्यिक उत्कर्ष का अभाव नजर आता है। रामकिशन व्यास ने फिल्मी धुनों का अनुकरण शुरू कर ही दिया था। चन्द्रलाल भाट ऊर्फ 'बादी' ने तो जैसे उन्हीं पर अपना ध्यान केन्द्रित कर दिया था। नए जमाने की हवा में उन्हें लोकप्रियता भी मिली। नए एवं पुराने कथानकों पर रचे लगभग 25 सांगों में बादी की अनेक रागनियाँ हैं, पर इस परिमाणाधिक्य में लखमी की परम्परा का विकास नहीं, अपितु उसका हास अधिक है। उनके काव्य में कहीं-कहीं शाब्दिक चमत्कार की झलक है। यथा 'कीचक वध' प्रसंग में जब द्रौपदी का वेश धारण कर कीचक से भिड़ता है, तो उसका ध्वन्यात्मक अंकन विशिष्ट बन पड़ा है -

बदल कै नया विचार धर रहा भीम दूसरा ढंग
फैंक कै साड़ी देह उघाड़ी, पीसी जाड़ी करड़-करड़
ताकत तोली, धरती डोली, बाही बोली चरड़-चरड़
पां टाए, सेरवे मड़काए, पोवे टूटे जरड़-जरड़
खम कूटे तो बम से फूटे, रूख से टूटे अरड़-अरड़
फटा झरड़-झरड़ नीवार, नाहर नै दिया तोड़ पलंग।

स्वातंत्र्योत्तर काल में हरिकेश पटवारी, जगदीश शर्मा, पण्डित रबीसरूप एवं भारत भूषण सांघीवाल की प्रबन्ध-निरपेक्ष रागनियों का विशेष महत्त्व है। हरिकेश एवं जगदीश की रागनियों में लोकानुभव की गहनता है। 'अनपड़ कानूनगो बणगे रहा हरीकेश पटवारी क्यूं' जैसे उक्तियों में युगीन विसंगतियों का चित्रण है। जगदीश शर्मा की एक लोकप्रिय रागनी है -

किस-किस के दुख दूर करूं या दुनिया दुखी फिरै राणी
सुख थोड़े दुख घणे जगत में भोगें कष्ट सरै राणी

भारत भूषण सांघीवाल की रागनियों में देश-प्रेम, समाज-सुधार एवं विकास का चित्रण है। इन्होंने जहाँ अनेक विकास-प्रतिपादक विषयों की फुटकर रागनियाँ रची हैं, वहीं स्वतंत्रता-संग्राम और देशभक्तों के जीवन पर आधारित नई पद्धति के सांगों में भी आधुनिकता-मंडित रागनियों का समावेश किया है। ऐसी

एक रागनी का उदाहरण नीचे दिया जा रहा है -

गुलामी की जिंदगी तै, अच्छा हो सै मर ज्याणा
मलिन आतमा हो, पड़ता रै, कदम-कदम पै दुख ठाणा
या सबतै बुरी बिमारी, आजाद कराओं देस नै।
'काला इडियट' कह कै बोलै, करै बड़ेज्जती गोरे रै
म्हारे देस पै राज करै, हम नौकर उनके होरे रै
लानत हम पै भारी रै, आजाद कराओं देस नै।
भारत माता रोती कसर कोन्या अत्याचार में
मुँह दिखावण लयक ना हम किते भी संसार में
सबतरियाँ होरी हारी, आजाद कराओं देस नै।

समकालीन राष्ट्रीय संदर्भों से जुड़ी रागनियों के रचयिताओं में तारादत्त विलक्षण का विशेष स्थान है। स्वतंत्र भारत की नयी हवा में लोक-जीवन का बहुत ही प्रभावशाली चित्रण तारादत्त विलक्षण की रागनियों में प्राप्त होता है। हरियाणा रागनी को अपने युग का गीत बनाने में इस कवि का विशेष योग है। कवि विलक्षण की इस विलक्षण रचना ने हरियाणा में बहुत ख्याति अर्जित की है -

गंगा जी के प्यार में, सरस्वती कंठार में
जमना-घागर में, म्हारा बसै देस हरियाणा सै
जनमजात सै पूत कमाऊ, सभी पुरुष अर नारियाँ
खून-पसीना सींच-सींच कै, भर दें सै ये क्यारियाँ
लहलहवै आड़ै खेत सुनहरी, खिल उट्टै फुलवारियाँ
कर्मठ सै मजदूर आड़ै के ऊँचे भवन अटारियाँ
अन-धन के भंडारों में, नेते की गुज्यारों में
चुड़ले की झनकारों में, म्हारा बसै देस हरियाणा सै

देश-प्रेम विलक्षण जी के काव्य का प्रमुख स्वर है। उनके काव्य की प्रवृत्तियों की परिचायक उनकी ऐसी पंक्तियाँ हैं-

के गुण गाऊँ माटी का
तिलक लगाऊँ माटी का
मेरे देश की माटी तुझ पै मुझको स्वाभिमान सै

रागनी-साहित्य की दीर्घ यात्रा में अनेक पड़ाव आए हैं। अपने प्रत्येक सोपान पर यह काव्य हरियाणा के लोक-मानस को पूर्णतः प्रतिबिम्बित करता है। समाज की संरचना एवं जीवन-मूल्यों के निर्धारण में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। सांगों के प्रदर्शन बहुत कम हो जाने के बावजूद आज भी श्रवण-गायन के

रूप में रागनी की लोकप्रियता में कोई अन्तर नहीं आया है, परन्तु जहाँ तक नवीन सर्जना का प्रश्न है, रागनी का विकास शिथिल-सा हो गया है।

यहाँ एक विसंगति का उल्लेख हम अनिवार्य समझते हैं। यदि हरियाणा में रचित समकालीन (विशेषकर 1980 तक के) खड़ी बोली साहित्य की मूल चेतना का परीक्षण किया जाए, तो स्पष्ट हो जाता है कि इसमें एक निर्वैयक्तिक आधुनिकता, राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता तो है, पर हरियाणा का मन, हरियाणा के जीवन की धड़कन यहाँ के बहुत कम उपन्यासों, कहानियों एवं कविताओं में देखी-सुनी जा सकती है। युग-सापेक्ष विकास एवं साहित्य-मानकों की रक्षा के बावजूद हरियाणा में रचित आधुनिक खड़ी बोली काव्य का हरियाणा-सापेक्ष व्यक्तित्व संदिग्ध है। उसमें हरियाणा का आंचलिक रंग लगभग अनुपस्थित है। दूसरी ओर हरियाणवी में रचा गया रागनी-काव्य जन से तो जुड़ा है, पर हिंदी काव्य-यात्रा के अधुनातन सोपानों के साथ प्रायः नहीं जुड़ पाया है। युग-बोध की अभिव्यक्ति एवं शिल्प के नए मानकों के प्रति वह सचेत नहीं है। इस विडम्बना का कारण इस काव्य का अनेक रूढ़ियों से घिर जाना है। सांग के साथ इसकी सम्बद्धता से इसे असीम लोकप्रियता तो मिली है, पर सांग की कुछ अपरिष्कृत प्रस्तुतियों एवं कुरुचिपूर्ण रूढ़ियों ने रागनी के 'टेक्स्ट' को उपेक्षा एवं वितृष्णा का शिकार भी बनाया है। उदाहरणार्थ करुणा अथवा श्रृंगार - सभी संवेदनाओं की समान रूप से 'तखत-तोड़' नाच के साथ प्रस्तुति रागनी के 'पाठ' को हास्यास्पद बना देती है। इसी प्रकार लगभग 250 वर्षों से चले आ रहे सांगों के एक-से कथानकों के ग्रहण ने रागनी के कथ्य को सीमित किया है।

रागनी के कथ्य के शैथिल्य का और भी कारण है। रागनी की मौखिक उपस्थिति के कारण रचनाकारों को लगता रहा है उनकी पहचान और मौलिकता का आधार रागनी की समापक कली में लेखक की 'छाप' अनिवार्यता होनी चाहिए। यह रूढ़ि बहुत लम्बे समय से चली आ रही है, लेकिन इस रूढ़ि के कारण अनेक बार रागनियों में कथा-प्रसंग से भटकाव एवं भर्ती के पदों का आगमन हुआ है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि यह एक विडम्बना ही है कि न तो हरियाणा के खड़ी बोली के रचनाकार लखमीचन्द जैसे श्रेष्ठ कवि की परम्परा से कुछ अधिक ग्रहण कर सके और न समकालीन रागनी काव्य खड़ी बोली गीत

और नवगीत और छंदमुक्त कविता की आधुनिकता को अर्जित कर सका। हमारी दृष्टि में इन दोनों धाराओं का अन्तःसंक्रमण हरियाणवी काव्य के स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है, न तो रागनी को हिंकारत से देखने से और न ही आत्ममुग्धता एवं अहंकार-ग्रस्तता के कारण उससे कटे रहने से हरियाणा में रचे काव्य का सही व्यक्तित्व बन पाएगा। यों भी इस अहंकार का कोई ठोस आधार नहीं है, क्योंकि समस्त आधुनिकता को अपनाकर भी हरियाणा का खड़ी बोली का एक भी रचनाकार लखमीचन्द से श्रेष्ठ काव्य की रचना नहीं कर पाया है, किन्तु इस उपलब्धि के कारण रागनी रचयिताओं को भी गर्वित होने का प्रमाण-पत्र नहीं मिल जाता, क्योंकि लखमीचन्द के बाद श्रेष्ठ रागनी की सरस्वती भी क्रमशः लुप्त होती चली गई हैं। उसके युगानुरूप परिष्कार की, जन से जुड़कर भी युगबोध की

प्रखरता को अपनाने की, यन्त्र-युग के कोलाहल को गीत में ढालने की जो आवश्यकता थी, उसको हरियाणवी के नए रचनाकारों ने पूर्णतः उपेक्षित किया है।

अंततः एक प्रत्याशा के साथ हम इस लेख-शृंखला का समापन करना चाहेंगे। क्या 'ग्राम' के 'विश्वग्राम' बनने की प्रक्रिया के बीच, उसके खेतों में गाँव को ही निर्वासित कर देने वाली 'सेज' बिछ जाने के बावजूद, बाजार और बाजारी ताकतों के सहयोगी मीडिया की चिल्ल-पों के बीच और भाँड-भड़ेंती के शोर-शराबे के बीच भी कोई ऐसी 'चकित-चल' करने वाली प्रतिभा उभर कर आएगी, जो हरियाणवी काव्य को 'नए फूल-फल' देगी? कामना करते हैं कि ऐसा हो सके। हमें इसी की प्रतीक्षा है।

ब्रज के आख्यान गीत

डॉ. (श्रीमती) मालती शर्मा

हमारे विशाल प्राचीन साहित्य में 'आख्यान' कथा-कहानी के अर्थ में एक सुपरिचित शब्द है, किन्तु समस्त ज्ञान-विज्ञान की गेय और श्रुति परम्परा के हमारे देश की वाचिक परम्परा में ऐतिहासिक, पौराणिक, लौकिक और लोक कल्पना प्रसूत आख्यानों पर आधारित छोटे-बड़े कथात्मक प्रबन्ध गीतों के विभिन्न क्षेत्रों में, भाषा बोलियों में कई-कई नाम मिलते हैं। सामान्यतः महाराष्ट्र में ये 'पोवाड़ा', राजस्थान में 'भारत' लीला और चित्रांकित आख्यान 'पड़' कहे जाते हैं, तो बुन्देलखण्ड में 'राछरे'।

लोक देवी-देवता, सती, सूरमा, त्यागी, बलिदानी वीरों और भक्तों के नाम से जुड़े जैसे 'जगदेव का पमारा', 'सरमन लीला', 'सीता का मंगल', 'पूरनमल', 'हरदौल', 'चन्द्रावली' इत्यादि के चरित्र आख्यानों पर भी इनके नाम हैं। कथ्य और अवसर के अनुसार साके, जुझ, भेंट, जस, मंगल, धनई संज्ञाएँ इनके साथ जुड़ जाती हैं।

लोकवार्ताविदों ने वाचिक परम्परा के ऐसे अनेक नामों वाले कथात्मक प्रबन्ध गीतों को 'लोक गाथा' की संज्ञा दी है। यह 'बैलेड' के समानार्थी गढ़ा गया शब्द है। वैदिक-पौराणिक साहित्य में आख्यान और गाथा में कुछ अन्तर है, पर वे नगण्य हैं। क्योंकि गाथाएँ अन्ततः गीतों में गुँथे हुए आख्यान ही तो हैं।

रास रसिकेश्वर राधाकृष्ण की लीला भूमि ब्रज की वाचिक परम्परा आख्यान गीतों की दृष्टि से बहुत ही समृद्ध है और वह एक-दो निबन्ध क्या, कई प्रबन्धों का विषय है। ब्रज के 'जगदेव का पमारा', 'जाहरपीर', 'गुरु गुग्गा', 'ढोला', 'आल्हा' यदि महाकाव्यात्मक आख्यान गीत हैं, तो सुरही, नवलदे, सरमनलीला खण्डकाव्यात्मक आख्यान गीत हैं।

इसके साथ ही ब्रज में विशाल भण्डार है, पौराणिक चरित्रों- गौतम-अहिल्या, भक्त ध्रुव, हरिश्चन्द्र-तारामती, नरसी भगत, महादेव-गौरा (शंकर-पार्वती), कृष्ण-रुक्मिणी, राम-सीता की वृहद् जीवनगाथा के छोटे-छोटे कथा प्रसंगों, घटनाओं को सहेजे स्त्रियों द्वारा गाये जाते आख्यान गीतों का। स्त्रियों के सावन के आख्यान गीत तो घूँघट की ओट में हृदय की हूक की करुण गाथाएँ हैं। सावन की सरस ऋतु में परदेसी प्रियतम की याद की हिलकियाँ हैं। कुल मर्यादा और सतीत्व की रक्षा हेतु बलिदान हुई चन्द्रावली तन और मन की पुकार की प्यास न सह सकी, विपथगामिनी हुई चन्दना, आशिक बंजारे के हाथों छली गई विष पीकर सोई राजा की बेटी, मोरा

की अनोखी कुहुक की प्रेमिका, मध्यकालीन उत्तर भारत के नारी जीवन का न जाने कितना इतिहास सावन के झूलों की डोरियों से लिपटे इन आख्यान गीतों में लिखा है।

ब्रज की लोकगाथाओं और आख्यान गीतों में अभी लोक सांस्कारिक आख्यान गीत और सावन के स्त्रियों के गीतों पर नियोजित कार्य नहीं हुआ है। पेशेवर गायकों द्वारा गाये जाते पुरुष वर्ग के आख्यान गीत अवश्य संगृहीत और विवेचित हैं। अस्तु, ब्रज के आख्यान गीतों के विशाल भण्डार को निम्न शीर्षकों में जानना-समझना समीचीन होगा। वृहद् कथाओं के छोटे-छोटे प्रसंग और घटनाओं पर आधारित आख्यान गीत।

आनुष्ठानिक आख्यान गीत

आनुष्ठानिक आख्यान गीत गाने वाले और इनका गायन कराने वाले विशेष सम्प्रदाय या देवी-देवता के मानने वाले भक्त होते हैं। ये गायक अधिकतर शैव और शाक्त सम्प्रदायों से जुड़े होते हैं। आश्विन विशेष कर चैत्रीय नवरात्रि में ब्रज में शक्तिपीठों की यात्रा होती है। ब्रज में नगरकोट (काँगड़ा) और करौली की कैलादेवी की जात देने और देवी जागरण कराने तथा होम रचाने की विशेष मान्यता है। यह जागरण और जात का अनुष्ठान 'भगत' कराते हैं, जो जाति से बुनकर या पटवा होते हैं। यह जागरण सप्तमी, नवमी, अष्टमी को होता है। देवी जागरण में छोटे-बड़े अनेक आख्यान गीत रात भर गाये जाते हैं, जो 'भेंट' कहे जाते हैं। जागरण में गाये जाते प्रमुख आख्यान गीत साके, पमारे, जुञ्झ हैं। ये तारागढ़ की लड़ाई, ज्वाला जी का जुञ्झ, धानू और भगत नाम से भी जाने जाते हैं। इनमें 'जगदेव का पमारा' बहुत बड़ा आख्यान है, जो इतिहास और लोक कल्पना का एक अत्यन्त सुन्दर मिश्रण है। अनेकानेक लोक तात्त्विक कथानक रूढ़ियों, मिथकों और अभिप्रायों से भरपूर है। ऐसे ही वृहद् आख्यान गीत जाहरपीर, गुरु गुग्गा, ढोला और आल्हा हैं। 'जाहरपीर, गुरु गुग्गा' में जाहर के जन्म से लेकर धरती में समा जाने तक का आख्यान है। यह जागरण भादों सुदी नवमी या किसी भी नवमी को होता है। इसके गायक नाथपंथी जोगी हैं। स्व. डॉ. सत्येन्द्र ने दोनों ही वृहद् आख्यानों को सम्पादित कर प्रकाशित किया है।

यों तो आल्हा, ढोला मूलतः बुन्देलखण्ड और राजस्थान की आख्यान गाथाएँ हैं, किन्तु ब्रज के गायक बीधेराम और मदारी ने इन्हें अपनी तरह से आख्यान-रंग भरकर बहुत लोकप्रिय बनाया है। पाँच वाद्यों का वादन, गायन के साथ में अनोखा समा बाँधता है।

'महादेव कौ ब्याह' एक और वृहद् आख्यान गीत है। इसका गायन प्रत्येक माह की शिवरात्रि, विशेषतः महाशिवरात्रि, को मानता होने या किसी भी सोमवार को हो सकता है। यह 'ब्याह' लोकतात्त्विक मिथकों से भरी पार्वती के जन्म से विवाह तक भारतीय संस्कृति के आदि युगल शिव-पार्वती की अनूठी गाथा है। इसके गायक भी नाथपंथी जोगी हैं।

'नवलदे' आख्यान गीत सर्प विष उतारने वाले कालबेलिये, जिन्हें 'बायगी' कहा जाता है, गाते हैं। ये सपरे या कुम्हार होते हैं, पर कहलाते हैं 'बायगी'। ये महुअर और इन्दुरबाजा बजाकर 'विषहरा' और 'नवलदे' (भरनी भी कहते हैं) आख्यान गीत गाते हैं।

संस्कारगत के आख्यान गीत

लोक सांस्कारिक आख्यान गीतों में यद्यपि सीता, पार्वती, गंगा, रुक्मिणी और राधा के विवाह के मंगल आख्यान गीत प्रमुख हैं, किन्तु जन्म के सोहर गीतों में 'नरंग फल', 'हेलिन', 'तपसी', 'जगमोहन लुगरा', बरध बिजार का 'खीचरी' गीत, सीता वनवास की सोहर सिलरी, राधा-कृष्ण, कृष्ण-रुक्मिणी, राम-सीता की जीवन गाथा के कथा प्रसंगों को पारिवारिक संस्कार, मान-मर्यादा और भाई-बहन, ननद-भावज के सम्बन्धों को, पति-पत्नी और प्रिया-प्रियतम के प्रेम सम्बन्धों को अनूठी भावना और संवेदनाओं के साथ चित्रित करते हैं। सुभद्रा को अपने पीहर का 'जगमोहन लुगरा' न देने पर कृष्ण रुक्मिणी को घर से निकल पीहर जाने की सजा सुनाते हैं और यह भी कहते हैं-

रुक्मिनि धनियाँ बहुत सी लाऊँ ब्याहि बहिन नायँ पाइये।

अन्ततः रुक्मिणी को ऐसे कठोर निर्णय के आगे झुकना पड़ता है। सीता वनवास की सोहर का आख्यान तो वनवास के पीछे ननद की साजिश की करुण कथा है। ननद सीता से रावण का चित्र बनाने की हठ करके चित्र बनवाती है, वह चित्र राम को दिखाकर सीता को वनवास देने के लिए प्रेरित करती है। सोहर गीतों में लव-कुश के जन्म का प्रसंग, लक्ष्मण का वृक्ष के नीचे सोती सीता के मुख पर पानी का दोना बाँधकर छोड़ने का आख्यान भी आता है।

'तिलरी' आख्यान गीत पति-पत्नी के प्रेम सम्बन्ध में साँवली पत्नी को पति का तिलरी आभूषण और चुनरी देने से इंकार और फिर पुत्र जन्म पर मान-मनौवल की हृदयस्पर्शी सोहर है। बाँझ की व्यथा के आख्यान की सोहर तो सभी बोलियों में प्राप्त है।

विवाह के सुबह के संस्कार गीतों में 'गंगाजी का ब्याहुला', 'दातुन', 'मेहंदी', 'डाँडौ', 'हरे-हरे नीम' प्रमुख हैं। 'गंगाजी का ब्याहुला' लोकजीवन की आदि सपत्नी गाथा है। यौवन से भरपूर गंगा को ब्याह कर शिव-द्वार पर लाकर खड़ी कर देते हैं और पार्वती से उसे आरती कर भीतर लेने का आग्रह करते हैं, फिर एक-एक आभूषण गंगा को दे डालने को कहते हैं-

नारि को हँसुला गौरा तुम्हें नायँ सोहै
गंगा ए देउ उतारि हो।

दाँतुन गीत का आख्यान कृष्ण के माँ यशोदा की अवहेलना करने पर रुक्मिणी को माँ के मान रक्षार्थ नाम के लिए पीहर भेज देने और फिर दीपक जलाने वाली गृहलक्ष्मी के बिना घर के अँधेरे और बच्चों की उदासी देख पुनः लिवा लाने की, पारिवारिक मूल्यों की अनुपम कहानी है। यशोदा के मुख से ही यह तथ्य गीत में अभिव्यक्त है-

ए बेटा दिये बिन घर में अँध्यार
माँ बिना बालक बच्चे अनमने।

संस्कार गीतों के आख्यान गीतों में हमारी लोक संस्कृति का स्वरूप, रीति-नीति, व्यवहार, पारिवारिक सम्बन्धों की मिठास और खटास के मध्य समाज की नैतिकता और जीवन मूल्य अनूठी भावभूमि पर अभिव्यक्त हुए हैं।

पावस ऋतु के आख्यान गीत

पावस के कजरारे मेघों को देख जब मयूर नृत्य करते हैं, तो लोक जीवन के मन मयूर भी नाच उठते हैं। पुरुष वर्ग के विशाल आख्यान गीत ढोला और आल्हा, निहालदे पावस ऋतु में ही गाये जाते हैं। ढोलक, सारंगी, चिकाड़े, खड़ताल, मँजीरों का वाद्य संगीत मेघ गर्जना से होड़ लेता है। ब्रज के आख्यान गीतों में पावस ऋतु में गाये जाने वाले आख्यान गीत सबसे अधिक हैं। किन्तु ढोला, आल्हा, निहालदे को छोड़कर शेष गीतों का संग्रह प्रकाशन और विवेचन अभी शेष है।

स्त्रियों के सावन के गीतों में- चन्दना कलारिन, मोरा चन्द्रावली, गेंदाराय, हंसा मोरनी, मनिरा बनजारा, बिजैरानी, भरथरी, मरबिन, नीबरिया धोबी, नटवा आदि ऐसे 25 आख्यान गीत हैं-जो प्रेम कहानियाँ, विरह व्यथा कथा सतीत्व रक्षा के लिए नारी की बलिदान गाथाएँ हैं। एक-एक गीत अपने में भारत के 12वीं-13वीं सदी में नारी जीवन का विधि-निषेधों और साहस से भरा इतिहास लिये हैं।

भिक्षार्थियों के आख्यान गीत

भिक्षार्थी आख्यान गीतों में भोपों के गोपीचन्द, भरथरी, मैनामंती, चम्पा (गोपीचन्द की माँ और बहन) के आख्यान गीत हैं। ये भी नाथपंथी गायक हैं। भोपे की वेशभूषा गाँव में उसके प्रवेश परिचय की द्योतक होती है। 'महादेव का ब्याह' गाने वाले जोगी भी भिक्षाटन के समय शिव से सम्बन्धित छोटे आख्यान गीत या 'महादेव ब्याह' के अंश सारंगी पर गाकर भिक्षा माँगते हैं। किन्तु इनसे पृथक हैं 'सरमन लीला' के गायक बिसुनदेवाओं की पितृभक्त श्रवणकुमार की गाथा। इस गाथा में श्रवण की पितृभक्ति और उसकी स्त्री का सास-ससुर के प्रति दुर्भावना भरा चरिताख्यान है।

बिसुनदेवा गंगापंथी हैं। ये खड़ताल पर 'सरमन लीला' गाते हुए सूर्योदय से पूर्व द्वार-द्वार पर जाकर भिक्षा माँगते हैं। भिक्षार्थ आख्यान गीतों के गायक अन्य पौराणिक प्रसंगों पर भी भिक्षा माँगते हुए गीत गाते हैं। गोपीचन्द, भरथरी, सरमन लीला को छोड़ ब्रज के भिक्षार्थी आख्यान गीतों पर भी विशेष कार्य नहीं हुआ।

वृहद कथाओं के छोटे-छोटे प्रसंगों-घटनाओं पर आधारित आख्यान गीतों का तो ब्रज में अखूत भण्डार है। राधा-कृष्ण और राम-सीता से जुड़े गीतों की संख्या सर्वाधिक है। ये आख्यान स्त्रियों के ढोला गीतों, भजनों, खेल के गीतों में, जिकड़ी, समादी भजनों में अपनी अनोखी छवि लिये हैं।

ब्रज के आख्यान गीतों की आख्यान विन्यास शैली व्यास और समास दोनों शैलियों में है। अकेले ब्रज की ही यह बात नहीं, बुन्देलखण्ड में तो एक-एक पंक्ति में पूरा आख्यान सिमटा है-

'खूब लड़ी मरदानी अरे झाँसीवाली रानी'
'बड़ो लरैया टंट्या भील'

गायक मण्डली और क्षेत्रीय अन्तर से आख्यान गीतों के अनेक पाठान्तर उपलब्ध होते हैं। स्त्रियों और पुरुष वर्ग के गाये एक ही विषय के आख्यान गीतों में कथा-तत्त्व का अन्तर रहता है। भाट के सनेहीराय का 'सीता कौ मंगल', प्रभुदास का गाया 'रुक्मिणी मंगल', स्त्रियों के 'सीता कौ मंगल' और धामनकार 'रुक्मिणी मंगल' से भिन्न कहानी लिये हैं। यह भिन्नता यह पाठान्तर ही लोक की वाचिक परम्परा के आख्यान गीतों की संजीवनी शक्ति है। गायकों की अनुपम देन है।

पीला रूमाल

डॉ. कैलाश नारद

भोपाल से औरंगाबाद के रास्ते पर दो मुसलमान राहगीर पैदल चले जा रहे थे। दोनों के हाथों में गदहिया बन्दूकें थीं। साथ में एक छोटा-सा अरबी घोड़ा। घोड़े की पीठ पर माल। ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी पगडण्डी। मीलों सुनसान घाटी। दिन के ढलते-ढलते कहीं-कहीं कांछों की झाड़ी की तरह दो-एक गाँव। चलते-चलते वे ताप्ती नदी के किनारे जा पहुँचे। ताप्ती के उस गुमनाम घाट पर उस रोज मानो किसी पीर का मेला लगा हो। इर्द-गिर्द दरख्तों के नीचे ढेर सारे लोग। कोई रसोई बना रहा है, तो कोई तम्बाकू पी रहा है, कोई खुले गले से गाना गा रहा है - विन्ध्याचल का गाना। उन्हीं में से एक ने आगे बढ़कर सलाम किया। बताया- 'मेरा नाम रोशन जमादार है। झाँसी के पूर गाँव का बाशिन्दा हूँ। हमारे दल में बारह ऊपर सौ जने हैं। हम लोग भी औरंगाबाद के मुसाफिर हैं।'

कोई दूसरा आदमी दो थैलियों में खाना लेकर आ गया। बोला- 'खाने बैठे थे। आप लोग हमारे मेहमान हैं। काफी दूर से चलकर आए हैं। आप लोगों की खातिर किये बगैर खाने से गुनाह होगा।' फौरन दोनों दलों में दोस्ती हो गई। खाने-पीने से निबटकर, बेफिक्र बटोही एक साथ ही चल पड़े। यही बेहतर है। सुनसान राह। जमाना भी कोई अच्छा नहीं है। दल जितना ही बड़ा हो, उतना ही बेहतर। बुरहानपुर पीछे रह गया। झाँसी के बारह ऊपर सौ के दल के साथ-साथ भोपाल के दोनों कारबारी भी चल रहे थे। अब उनके लिए डर की कोई बात नहीं। चिन्ता नहीं। कहीं भी शाम हो जाए, रात के लिए कोई फिक्र नहीं। साँझ झुकने तक वे छः कोस का रास्ता तय कर, एक गाँव से बाएँ बाजू पर पहुँचे। गाँव का नाम था तानकोली। रोशन जमादार ने कहा- 'यही जगह बेहतर है, रात यहीं बिताई जाये।' निकट ही संझलौके में शान्त गाँव। काली-काली झोपड़ियों से धीरे-धीरे धुआँ निकल रहा है। रात का खाना बन रहा है। घर-घर में दीया जल रहा है, मानो जुगनुओं का एक निश्चल झुण्ड हो। चारों ओर देखकर भोपाल के दोनों आदमी भी राजी हो गये। बोले- 'हाँ, यही जगह बेहतर है'।

घोड़े की पीठ से बोझ उतारा गया। अमराई के एक छोर पर पड़ाव डाला गया। कोई रोटी बनाने बैठ गया, तो कोई तम्बाकू भरने, तो कोई निकल गया यह देखने कि आसपास कहीं सूखी टहनियाँ मिल सकती हैं या नहीं।

हाथों-हाथ काम। देखते ही देखते इन्तजाम पूरा हो गया। शाम के दो घड़ी बाद खाना-पीना समाप्त हो गया। रोशन जमादार ने खुद मेहमानों के साथ बैठकर खाना खाया। खाने के बाद खुद जाकर चिलम भर लाया। फिर गप्प लड़ाने बैठ गया।

मुल्क के अलग-अलग इलाकों के किस्से। सुनते-सुनते मेरी आँखें भारी हो गयीं, फिर भी जबरन जागते रहने को जी करता रहा। भोपाल के इन दो व्यापारियों ने बहुत सारे देश देखे हैं। लेकिन इतनी दिलकश आवाज और किस्सा कहने का ऐसा दिलफरेब ढंग पहले कभी सुना हो, ऐसा लगता नहीं। वे लोग जागते बैठे रहे। बीच-बीच में तम्बाकू आ रही है। जमादार मजे से हुक्का गुड़गुड़ाता है।

हवा में मीठी महक। वे मगन-से रोशन जमादार के मुँह की ओर देख रहे हैं।

ऐसे ही बैठे रहे। लेकिन रात के कितने घड़ी तक, कोई नहीं जानता। रोशन जमादार ने खुद बताया कि भोपाल के दोनों ही व्यापारी उसकी चटाई पर बैठे किस्सा सुन रहे थे। बुरहानपुर से छः कोस दूर तानकोली गाँव के बाएँ बाजू की अमराई में बिछी हुई उस चटाई पर। फिर भी अगले दिन सबेरे कहीं पर भी ये दोनों आदमी ढूँढे नहीं मिले। वे खो गये। किसी जादू से मानो वे गायब हो गये। दो बन्दूकें, एक घोड़ा, घोड़े पर लदा माल, दो सही-सलामत जिन्दा आदमी, पर अब कहीं कोई निशानी तक नहीं।

सबेरा हुआ। व्याकुल से रोशन जमादार ने चारों ओर भलीभाँति देखा। फिर पौ फटने से पहले ही वे दक्खिन के रास्ते पर चल पड़े। उनके झाँसीवाले दल में अब भोपाल के व्यापारी नहीं थे। वे खो गये थे। कोई नहीं जानता था कि कहाँ गये। बूढ़े रोशन जमादार के चेहरे से लगता था कि उसे भी नहीं मालूम। वे लापता हो गये। लोगों का और एक दल लापता हो गया। उस दल में छः जने थे। दलपति पन्द्रह साल का नौनिहाल। बाकी पाँच उसके सहचर।

वही दक्खिनी रास्ता। चाचा के घर से बाप के पास लौटा जा रहा है बालक। बाप एक खाते-पीते गाँव का मुखिया। चाचा व्यापारी। पन्द्रह साल के लड़के को अकेले इतनी दूर के रास्ते पर जाने देना खतरे से खाली नहीं था। चौकस चाचा ने इसीलिए पाँच आदमी भेज दिये थे। इसके अलावा एक घोड़ा भी। सामान जो दिया था, उसे लादकर ले जाने के लिए घोड़ा काफी था।

चलते-चलते वे एक सराय में पहुँचे। उस दिन वहीं रात गुजारना तय हुआ। खाना-पीना खत्म कर वे लेटने वाले थे। ऐसे ही समय उस छोटी-सी सराय में नये मेहमानों का एक दल आ पहुँचा। उस दल में करीब चालीस आदमी थे। वे भी रात वहीं बिताना चाहते थे।

एक ही छाजन के नीचे टिकना पड़ा। लिहाजा परिचय हुआ। बातों-बातों में पता चला कि वे जयपुर के रहने वाले हैं। धन्धे की फिराक में दक्खिन आए हैं। दलपति रुस्तम खाँ ने और भी बताया कि फिलहाल तीन दिन तक वे भी उसी रास्ते से जाने का इरादा रखते हैं। फिर जब सरदार का बेटा जबलपुर की तरफ बाएँ चला जायेगा, तो वे दाहिनी ओर मुड़कर इन्दौर की तरफ चले जायेंगे। यह सुनकर वह लड़का बेहद खुश हुआ- 'बहुत खूब! एक साथ चला जायेगा।' उसके साथियों ने सिर हिलाकर हामी भरी।

दो दिन वे एक साथ चले। जयपुर का रुस्तम खाँ अब दक्खिनी बालक के लिए कोई अजनबी परदेशी नहीं। वे दोनों मानो युग-युग से मित्र हैं। अपनी उम्र का ख्याल नहीं रहा रुस्तम खाँ को। वह मानो उसका स्नेही अभिभावक हो। लड़का जो कुछ कहता, उसी पर वह राजी हो जाता। वह अगर कहे 'इस पेड़ तले सुस्ताएँगे', तो रुस्तम खाँ वहीं डेरा डालने का हुक्म दे देता। ठाँव-ठाँव बुरा है या अच्छा, इस पर भी गौर न करता।

तीसरे दिन वे रंगूर नामक एक स्थान पर पहुँचे। छोटा-सा हाट, चन्द महाजनों के घर उन लोगों ने एक साथ वहीं रात बिताई। अगले दिन फिर सफर शुरू हुआ। शाम को वे दौसा नामक एक हाट में जा पहुँचे। लड़के ने कहा- 'आज यहीं टिका जाये।'

लेकिन रुस्तम खाँ के दल के लोग बिगड़कर खड़े हुए। बोले- 'अभी शाम अच्छी तरह झुकी भी नहीं। चलने पर दो कोस रास्ता अभी भी मजे में तय कर आगे पहुँचा जा सकता है।'

रुस्तम खाँ ने उन्हें बहुत समझाया, लेकिन फिर भी वे किसी कीमत पर वहाँ रात काटने के लिए तैयार नहीं हुए। लाचार रुस्तम खाँ को बेबस होकर विदा लेनी पड़ी। सराय में खुद बालक का सारा इन्तजाम कराकर, वह रुखसत हुआ। जाने से पहले कहता गया- 'नसीब में होगा तो कल फिर मुलाकात होगी।'

सचमुच मुलाकात हो गई। रुस्तम खाँ की टोली उस समय रवाना होने की तैयारी में लगी थी, ऐसे ही समय लड़का और उसके साथी जा पहुँचे। बोला- 'तुम लोगों को पकड़ने के लिए मुँह अँधेरे उठकर चल पड़ा। क्यों, भाग नहीं सके न?' खुशी से बूढ़े रुस्तम खाँ की आँखों में आँसू आ गये।

फिर दोनों दल एक साथ रास्ते पर चल पड़े। इस बार साँझ हुई, एक मरी नदी के किनारे पहुँचकर। रुस्तम खाँ आज उस लड़के को छोड़कर जाने को तैयार नहीं था। उसके हुक्म पर पड़ाव नहीं डाला गया। उस समय भी रात उभरी नहीं थी। चारों ओर सुनसान मैदान। रास्ते के दाहिनी ओर अचानक ही उभरा हुआ कुछ जंगल-सा। नदी के किनारे डूबते हुए सूरज की ओर मुँह किये रुस्तम खाँ बैठा। बगल में वही बालक। थोड़ी ही दूर पर उसके साथी। कोई घोड़े की देखभाल कर रहा है, तो कोई रसोई का इन्तजाम कर रहा है। रुस्तम खाँ जयपुर का किस्सा सुना रहा है और वह नादान लड़का बेसुध-सा वह किस्सा सुन रहा है।

अचानक यह क्या हुआ? लड़के की आँखों के सामने से क्षणभर में सब कुछ ओझल हो गया। वह खो गया। उसके पाँचों साथी और घोड़ा सब लापता हो गये।

पिता के पास से खबर आई कि लड़का घर नहीं लौटा। पागल की तरह चाचा निकल पड़े उसे ढूँढने। ढूँढते-ढूँढते रंगूर के महाजन के घर पहुँचे। वहाँ उन्होंने सुना कि लड़के ने वहाँ रात बिताई थी। फिर दौसा। वहाँ भी यही सुनने को मिला कि वे सबेरे ही वहाँ से चले गये थे।

चाचा घोड़े के खुर के निशान पकड़े-पकड़े कई कोस और आगे बढ़े। लेकिन पैरों की छाप मानो नदी के किनारे पहुँचकर बिला गई। उसके बाद कहीं कुछ भी नहीं। सिर्फ वही मरी नदी, सुनसान मैदान और जंगल का एक छोटा-सा चप्पा। उसका दुलारा भतीजा कहीं भी नहीं था। वह गुम हो गया था। कहाँ? किसी को भी मालूम नहीं था।

चन्द दिनों के बाद दौसा की उसी सराय में रुस्तम खाँ लौट आया। घर लौटते हुए बदहवास चाचा उस वक्त भी वहाँ हहाकर रो रहे थे। रुस्तम खाँ ने आगे बढ़कर उस लड़के के बारे में पूछा। उसके मुँह की ओर देखकर, गमजदा चाचा को कुछ-कुछ तसल्ली मिली। किस तरह वह लड़का लापता हो गया, बूढ़ा अब भी समझ नहीं पाता था।

19वीं सदी के तीसरे दशक की कथा। उस समय रेल की पटरियाँ नहीं बिछी थीं। लेकिन कलकत्ते की नींव पड़ चुकी थी। श्रीरंगपत्तन का युद्ध हो चुका था। भारत में कम्पनी राज तेज चाल से दोपहर की ओर बढ़ रहा था। लेकिन फिर भी मानो ये सब किसी अविश्वसनीय दुनिया की बातें हों। भारत एक अजीबोगरीब मुल्क है। उसके घर से निकला हुआ आदमी अपनी मंजिल तक नहीं पहुँचता। वह खो जाता है, लापता हो जाता है।

लापता हो जाना आज की दुनिया में भी आश्चर्यजनक घटना नहीं है। आदमी अब भी खो जाता है, लापता हो जाता है। कभी स्कूल से लौटता बारह साल का लड़का खो जाता है। कभी सिनेमा से लौटती अठारह साल की तरुणी, कभी तीर्थ के घाट से कुलवधू या ट्रेन के डिब्बे से प्रतिष्ठित गृहस्थ।

लेकिन तब की कहानी के साथ इस सबका कोई भी मेल नहीं। उन लोगों का गुम हो जाना बिल्कुल खामोशी में दब जाता था। उनके खो जाने की राह पर कोई सुराग नहीं रह जाता था।

झुण्ड के झुण्ड सिपाही लापता हो जाते थे। छुट्टी लेकर, सिपाही टोली बनाकर अपने घर की ओर चल पड़ते, लेकिन फिर वापस न आते। फौज के अधिकारी कुछ दिनों तक उनका इन्तजार करते, फिर उनके नाम काट देते। नाम के बगल में लाल पेंसिल से

लिख देते 'डेजर्टर' (भगोड़ा)। उत्तर भारत में तीर्थ करने गया दक्षिण का बड़ा-सा दल फिर कभी अपने गाँवों में न लौटता। नाते-रिश्तेदार उनकी प्रतीक्षा करते रहते। फिर रो-धोकर अपनी गिरस्ती के कामों में लग जाते। किसी सुहावनी शाम को या निःसंग बिस्तर पर दिल टीसने लगता, तो वे मन ही मन अपने को तसल्ली दे लेते - 'भाग्यवान थे वे। गंगा-स्नान करने जाकर गंगाजी को प्यारे हो गये।'

जंगल के रास्ते व्यापार करने निकला भोपाल का सौदागर घर वापस न आता। पाँच दिन का रास्ता तय कर बेटा अपनी माँ की गोद में लौट न सकता। लोग कहते- 'शेर खा गया होगा' या कहते- 'साँप ने काट लिया होगा या किसी बीमारी से मर गया होगा'।

उस समय भारतवर्ष आश्चर्य से भरा एक देश था - हर साल जहाँ हजारों आदमियों को शेर खा जाता था, हजारों लोग गंगाजी के प्यारे बन जाते थे, हजारों की तादाद में सिपाही फौज से भगोड़े बन जाते थे। यह मानो एक रहस्यमय देश था। यहाँ खो जाने की कोई मनाही नहीं थी।

किसी विशेष वर्ग में नहीं, हर साल ही मुद्दत से लोग ऐसे ही खोते जा रहे थे। गुम हो जाना उस समय विशाल भारत में प्रतिदिन का नियम था। कोई अंग्रेज इतिहासकार काफी सावधानी से ध्यान लगाकर एक बार हिसाब लगाने बैठे थे। हिसाब लगाने के बाद उन्होंने बताया था कि उन्नीसवीं सदी के मध्य से उससे पेशतर तीन सौ साल तक हर साल औसतन चालीस हजार लोग गुम हो जाते थे। हाँ, हर साल तीन सौ साल तक। हर साल उनकी औसत संख्या थी - चालीस हजार।

यह लाखों-लाख जनता कहाँ गई? कहाँ गए भोपाल के वे दोनों व्यापारी और जबलपुर के रास्ते से पाँच साथियों के साथ पन्द्रह साल का वह दक्खिनी मुखिया का बेटा?

जवाब रोशन जमादार ने नहीं, उसके ऊपरवाले बुकत जमादार ने दिया था। साहब के सामने उसने काफी घमण्ड भरे शब्दों में कहा था- 'शेर नहीं, साँप नहीं, जहाँ तक याद है, भोपाल से वे दोनों व्यापारी, जिसके हाथों के स्पर्श से गायब हो गये थे, वह मैं हूँ। 'मेरा नाम है बुकत जमादार, साकिन झाँसी का पूर गाँव।' बूढ़ा जमादार मेज की दूसरी ओर बैठे साहब को सलाम कर तनकर खड़ा हो गया। फिर बिना किसी भूमिका के उसने अपना बयान देना शुरू किया- 'बरसात के बाद की बात है। उस बार हम लोग

दक्खिन के रास्ते निकले थे। हम लोग – यानी मैं, ठाकुर गोकुल पाण्डे और मुखलाल। हम सभी एक ही गाँव के हैं।’

झाँसी, भिलसा, रेली होकर हम लोग भोपाल की ओर बढ़े चले। लेकिन भोपाल नहीं गये। शहर दाहिने रखकर, चीपानेर में हम लोगों ने नर्मदा पार की। नदी के दूसरे तट पर गाँव। गाँव के किनारे एक बहुत बड़ा बरगद। हम लोग वहाँ बैठे सुस्ता रहे थे। नजदीक ही एक दूसरे दरख्त के नीचे कुछ लोग गुट बनाये बैठे दिखे। बहुत सारे लोग। हम लोगों में से एक जाकर उनके बारे में सब कुछ मालूम कर आया। वे भी हमारी ही तरह थे, एक ही इरादे से निकले हुए। उस गिरोह में पचास थे। सभी एक दल के नहीं थे। दस थे रोशन जमादार के मातहत, तीन गुलाब खाँ के, कुछ मदारी शेख के, कुछ अहीर मुल्ला के, तो कुछ केहरी लोदी के। सात-सात थे घुरीबा और जुल्फिकार जमादार के गिरोह के।

बातें हुई। हम लोगों की तरह वे भी तब तक खाली हाथ ही थे। लिहाजा तय हुआ कि एक ही साथ चला जाये। वह रात हम लोगों ने उसी पेड़ के नीचे गुजार दी। अगले दिन सबेरे राह चलना शुरू किया। अबकी बार हमारा गिरोह काफी बड़ा था।

दो दिन बाद गिरोह और बड़ा हो गया। तीसरे दिन चलते-चलते मुलाकात हो गई चौवन लोगों के एक दल से। हालाँकि वे सब एक ही दल के नहीं थे। प्रसाद लोदी, परशुराम जमादार, मनोहर जमादार – हर एक की अलग-अलग टुकड़ी थी। रास्ते में ही वे सब एक हो गये थे। एक साथ चल रहे थे। हम लोग भी उनके साथ मिल गये। फिर सभी मिलकर चलते-चलते कई रातों के बाद ताप्ती नदी के किनारे पहुँचे। उस समय उस दल में हम लोग, सब मिलाकर एक सौ बारह थे।

वहीं भोपाल के दोनों व्यापारियों से हमारी मुलाकात हुई थी। ‘सोथाई’ बना रोशन जमादार। गैरमुल्की लोगों को वश में करने का भार उस पर था। रोशन जमादार पूरा घाघ था। उसे कतई कोई परेशानी नहीं हुई।

तानकोली के बारे में हम लोगों ने निश्चय किया था। जगह अच्छी थी। सुनसान। दूर पर गाँव। गाँव के उत्तर में दरिया। दरिया के किनारे-किनारे रास्ता। बगल में जंगल। कई कोस के अन्दर इससे बेहतर जगह नहीं थी। खाना-पीना खत्म होने के बाद ही सलिए ‘झिरनी’ दे दी गई। वे दोनों हालाँकि रोशन जमादार की चटाई पर बैठे थे, लेकिन उसने उन्हें छुआ तक नहीं। काम निबटारा था – खुदाबख्श मुसलमान और बुकुत ब्राह्मण ने।

‘कितना मिला?’ साहब की ओर से हिन्दुस्तानी दरोगा ने सवाल किया। ‘नकद तो एक सौ पचास रुपया मिला था, हुजूर। इसके अलावा बन्दूक, एक घोड़ा, घोड़े पर लदा माल, कपड़े-लते। हममें से हर एक को एक-एक रुपया मिला था।’

‘कुल जमा एक रुपया?’ साहब ने अचरज से बुकुत जमादार के मुँह की ओर देखा। बेलौस जमादार ने जवाब दिया- ‘जी हुजूर! लेकिन चन्द दिनों में ही बारवाघाट ने घाटा पूरा कर दिया।’

पूरा कमरा हिल-डुल उठा। साहब ने मेज पर फैलाए नक्शे में एक जगह एक छोटा-सा लाल निशान लगाया और कान खड़े कर लिये। दरोगा ने कापी का पन्ना उलटा। बुकुत जमादार मानो उन लोगों के तैयार हो जाने के इन्तजार में ही खामोश था।

अब उसने मुँह खोला- ‘भोपाल के व्यापारियों का झमेला रातोंरात ही खत्म हो गया। अगले दिन सबेरे फिर हम लोग रास्ते पर चल पड़े। इस बार बुरहानपुर से दस कोस दक्खिन में इदौलाबाद। शहर के बाहर बस्ती के एक कोने में सड़क के किनारे चन्द पेड़ थे। उनकी आड़ में एक फकीर की झोपड़ी थी – छोटी सी। उस दिन हम लोगों ने वहीं डेरा डाला। किस्मत अच्छी थी। उसी दिन खबर मिली – आठ रकौरिया शहर की ओर जा रहे हैं। वे बम्बई के नामी व्यापारी धनराज सेठ के आदमी हैं। रुपया लेकर बम्बई से इन्दौर जा रहे हैं। उनके साथ छः बन्दूकें थीं और दो ऊँट। ऊँट की पीठ पर थैलियों में टीपूशाही रुपये भरे थे।

‘तिलहाई और भी खबर ले आए कि आज की रात वे इदौलाबाद में ही काटेंगे। खुदाबख्श और मल्लू जमादार को तिलहाई बनकर शहर भेजा गया ताकि ओट में रहकर वे इन लोगों पर निगरानी करें। तिलहाइयों का काम यही है।’

अगले दिन सबेरे रकौरिये रास्ते पर उतरे। पीछे-पीछे तिलहाई थे। हम लोगों ने सोच-विचार कर देखा कि दिन ढलते-ढलते उन्हें तानकोली में जाकर ठहरना ही पड़ेगा। लेकिन सिर्फ एक ही दिन पहले भोपाल के व्यापारियों के साथ हम खेल कर चुके थे। इसलिए तय हुआ कि उस रास्ते आज ही लौट न जाना बेहतर होगा।

इसके बदले हम लोगों ने चांददोभी का रास्ता चुना। पहले ही बता चुका हूँ कि उस रोज हम लोगों की किस्मत बुलन्दी पर थी। तिलहाई रास्ते में ही इत्तला कर गये कि रकौरिये तानकोली में नहीं टिक रहे हैं, वे बुरहानपुर में रात बितायेंगे। यह सुनकर, अगले दिन सबेरे ही पचास चुनिन्दा जवानों को लेकर महाराज

पाठक, जालिम और परशुराम बुरहानपुर की ओर चल दिये। एक दूसरी टुकड़ी और चली गई, भोपाल जिले के देवरिया के रास्ते। कौन जाने, ये बम्बई वाले आखिर तक किस ओर मुड़ जायें।

शाम से घड़ी भर पहले हम लोग भी बुरहानपुर पहुँच गये। इस बार शहर के बाहर ही पड़ाव डालना पड़ा। रास्ते पर निगरानी रखनी थी। तिलहाइयों ने खबर पहुँचाई कि वे बाजार में टिके हैं। मल्लू और दल का दूसरा एक आदमी फौरन बाजार चले गये।

लेकिन रकौरिये बाजार में नहीं थे, उन लोगों ने बाजार का चप्पा-चप्पा, कोना-कोना ढूँढ डाला, लेकिन रकौरिये कहीं पर नहीं थे। वे मुँह बनाकर लौट आये। तब खलील, मनोहर और मुदारा, इन तीनों को आसिर के रास्ते भेज दिया गया। उनसे कहा गया - अगर टोह लगा लोगे तो सौ रुपया। हम लोग तुम लोगों के लिए आसिर में इन्तजार करेंगे, फिर बरगाँव में।

वे तीनों जब आसिर पहुँचे तो आधी रात बीत चुकी थी। इसलिए रात को कोई इत्तला नहीं भेज सके। अपने कहने के मुताबिक हम सबेरे आसिर पहुँच चुके थे। लेकिन रकौरियों की कोई खबर नहीं मिली। ख्वाहमख्वाह यहाँ बैठे रहने से क्या फायदा? अशरफ और गंगा को बाजार भेजकर हम लोगों ने बरगाँव का रास्ता पकड़ा। उन्हें कह दिया- 'आटा, मैदा जो कुछ भी मिले, खरीदकर तुम लोग चले आओ। सामने जो नाला देख रहे हो, हम लोग उसी के किनारे इन्तजार करेंगे।'

बाजार से वे भागते हुए लौट आए। बोले- रकौरिये बाजार ही में थे। हम लोग देख आए कि वे कस्टम-हाउस में बैठे चुंगी अदा कर रहे हैं। हम लोगों ने वहाँ दो तिलहाई भेज दिये और फौरन बरगाँव का रास्ता पकड़ा।

हम लोग बरगाँव आ गये। थोड़ी ही देर बाद तिलहाई लौट आए। उन लोगों ने आकर कानों में बताया कि रकौरियों ने रास्ता बदल दिया है। वे अब इधर नहीं आयेंगे। वे पंचपोखर की ओर जा रहे हैं। सुनते ही हम लोगों को भी वही रास्ता पकड़ना पड़ा।

लेकिन ताज्जुब की बात कि वे पंचपोखर में भी नहीं थे। तो क्या इतने लोग हवा में उड़ गये? रात-भर हम लोग पंचपोखर में बैठे उधेड़-बुन में पड़े रहे। सुबह होते ही छः जवानों को चारों ओर दौड़ा दिया गया। जैसे भी हो, इन लोगों को ढूँढ निकालना होगा। जो दो जवान शेरपुर के रास्ते पर गये थे, वे शाम से कुछ पहले भोर में आए। इन्होंने आकर खबर दी कि रकौरिये पिछली रात शेरपुर में ही रहे। अब वे इन्दौर की तरफ जा रहे हैं। शेरपुर से

आठ कोस की दूरी पर वे रात काटेंगे। वे गाँव का नाम भी पूछ आए थे, पर आते-आते रास्ते में भूल गये थे। बाकी चार जने भी तब तक लौट आए थे।

उन लोगों ने बताया कि रकौरिये कहाँ गये, कोई इसका आभास नहीं दे पा रहा है। समझ में आया कि शेरपुर से मिली खबर ही पक्की है। वक्त जाया न कर हम लोग इन्दौर की ओर चल पड़े। दल के सभी लोग थके हुए थे। फिर भी इत्तला जब मिल ही गई थी तो चलना ही था।

आठ कोस रास्ता तय कर जब हम लोग उस अनाम गाँव में पहुँचे तो आधी रात हो चुकी थी। रास्ते के किनारे पर बरगद था। उसी के नीचे चटाई बिछाकर हम लोग लेट गये।

सुबह सचमुच रकौरिये गाँव से निकल आए। हम लोग भी सफर के लिए तैयार हो गये। करीब दो मील चले होंगे कि सामने कस्टम-हाउस के चौकीदार खड़े हो गये। उनसे बातें करते समय रकौरिये आँखों से ओझल हो गए। कहीं एकदम सो न जाएँ, इस डर से मैंने अंटी से एक रुपया और एक चक्की निकालकर चौकीदार को दिया और उसके साथ निपटारा कर लिया।

इस बीच वे लोग बारवाघाट से नर्मदा पार कर चुके थे। नदी के दूसरे किनारे बारवा बाजार है। वहीं उन लोगों ने डेरा डाला। हम लोगों ने भी बदस्तूर पेड़ तले पड़ाव डाल दिया। वे लोग उस दिन रास्ते पर नहीं निकले। शायद थक गए थे, इसलिए सुस्ता रहे थे। हम लोग भी थके थे। सुस्ताने का मौका मिला तो हम मन ही मन खुश हुए।

अगले दिन वे बाजार छोड़ने ही वाले थे कि कस्टम-चौकी के दरोगा का बुलावा आया। सभी को उसके सामने से होकर जाना होगा। लेकिन रकौरिये झंझट में फँस गये। हम लोगों ने वहाँ जाकर देखा कि चुंगी के बारे में दरोगा से वे लोग तकरार में लगे हुए हैं। अच्छा ही हुआ। जब तक उनके मामले का फैसला नहीं हो जाता, तब तक हम लोग अपनी चुंगी नहीं देंगे। क्योंकि उनके पीछे-पीछे चलने का हमारा इरादा है।

दिन बढ़ने लगा। लेकिन दरोगा उनको छोड़ने वाला नहीं था। हम लोग भी बैठे ही रहे। अन्त में हमी लोगों में से एक, महाराज पाठक आगे बढ़ गया। उसने दरोगा से कहा- 'सरकार! इतनी देर से आप इन लोगों को रोके हुए हैं। इधर दिन ढलने को है। बेचारे रुपये-पैसे लेकर जा रहे हैं। कहीं कुछ हो-हवा जाए तो?' उसकी बात सुनकर दरोगा होश में आया। उसने फौरन

अपना पावना वसूला और उनको छोड़ दिया। लेकिन रकौरिये तब तक अपना इरादा बदल चुके थे। पाठक की बातों से वे भी चौकन्ने हो गये। वे इस वक्त चौकी छोड़कर जाने को तैयार नहीं थे। इसीलिए हम लोगों को भी मजबूरन आसपास ही रहना पड़ा। चौकी से दो कोस जाकर ही हम लोग रुक गये। वहाँ रात को खाना-वाना बनाया और खाया गया।

सुबह हम सभी तैयारी कर ही रहे थे कि सड़क की मोड़ पर उनके ऊँट दिखाई पड़ गये। झटपट हम लोगों ने बोरिया-बिस्तर बाँधा और चल पड़े।

कुछ दूर जाकर ही सामने एक नाला था। उसके किनारे बहुत बड़ी एक बाँसवाड़ी थी। हम लोग वहीं बैठ गये, मानो सुस्ता रहे हों। दल के दो आदमी जाकर चन्द बाँस काट लाये। हम लोगों ने बैठे-बैठे उन बाँसों से दो-चार लम्बी लाठियाँ बना डालीं।

पिछले दिनों रात को कस्टम की चौकी पर एक को छोड़ आए थे। घोड़े पर सवार वह रकौरिये से पहले ही चला आया। आकर हम लोगों के साथ सुस्ताने लग गया। उसके पीछे-पीछे रकौरिये भी आ पहुँचे। उसको ऐसा करते देख, वे भी हमारे सामने आकर ठहर गये। फिर आग्रह करते ही वे हमारे साथ तम्बाकू पीने बैठ गये।

वे तम्बाकू पी रहे हैं। हम लोग धीरे-धीरे उनको घेरकर बैठ गये थे। अचानक 'झिरनी' उठी। वे जमीन पर लुढ़क गये। उस समय भी दो आदमी ऊँटों पर सवार थे। हम लोगों को मालूम था कि वे शायद ऐसे ही रहें। इसीलिए लम्बी लाठियों का इन्तजाम किया गया था। उसी से उन्हें उतारा गया। फिर तो चन्द मिनटों का मामला था।

साहब ने पूछा- 'लाशें कहाँ रख दीं?' 'क्यों? उसी भूखे नाले के नीचे।' बुकुत जमादार ने तुरन्त जवाब दिया- 'उनको दफना कर हम लोग बड़ी सड़क छोड़कर फौरन घुरिवा की ओर चल पड़े। इसके बाद हम लोग जंगल की टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों पर थे। दो कोस चलने के बाद ऊँटों की पीठ का बोझ उतारकर घोड़े पर लादा गया। ऊँटों को जंगल में छोड़ दिया।'

वहाँ से हम लोगों ने फिर दूसरा रास्ता पकड़ा। अबकी बार इन्दौर की ओर नहीं - पूरब की ओर। तीन दिन चलने पर अन्त में संदौलपुर आ पहुँचा। यहाँ आकर खुरजियाँ काटी गईं।

'क्या मिला?' कलम रोककर दरोगा ने सवाल किया।

'खुरजियों में पन्द्रह हजार टीपूशाही रुपये, सौ तोला चाँदी और मुहरबन्द एक पीतल की पेटी मिली।'

उसमें क्या था? दरोगा ने फिर पूछा। उतनी देर में वह सारा फर्द लिख चुके थे।

उसमें थीं हीरे की चार अँगूठियाँ, आठ मोती और सोने के कंगन का एक जोड़ा। शायद धनराज सेठ ने किसी को भेंट भेजी थी। सारी चीजों की कीमत हम लोगों ने एक हजार रुपया लगाई थी। लेकिन अन्त में हम लोगों में से हर एक के हिस्से में कोई बड़ी रकम नहीं आ सकी। दल काफी बड़ा था। इसके अलावा जालिम ने एक मोटी रकम शुरू में ही अलग रख दी थी। क्योंकि विन्ध्याचल में पूजा चढ़ानी थी। फिर भी हममें से हर एक को डेढ़ सौ रुपये मिले थे।

'हर एक को बराबर हिस्सा मिला था?' दरोगा ने फिर सवाल किया। 'जी हाँ। यहाँ तक कि जो लोग मौजूद नहीं थे, उनको भी अपना-अपना हिस्सा मिल गया था। जो लोग भोपाल चले गये थे, उनका हिसाब उनके नाते-रिश्तेदारों को चुका दिया गया था। हम लोगों में, सरकार! आप नमकहरामी नहीं पायेंगे।' बुकुत जमादार ने गुमान-भरे शब्दों में अपना बयान खत्म किया। लेकिन बटोहियों के साथ इसका उल्टा बरताव ही उनका धर्म था। वहाँ धोखा ही मुस्तकिल तौर-तरीका था। बुकुत जमादार का किस्सा सन् 1833 का है। रुस्तम खाँ ने दक्खिन पन्द्रह साल के लड़के का किस्सा सुनाया था, सन् 1834 की जनवरी में।

उसी साल दिसम्बर में जुल्फिकार नाम के जमादार ने अपनी याददाश्त कुरेदकर जो किस्सा सुनाया था, वह इक्कीस साल पहले का वाकया था। वही, विश्वासघात की एक और कहानी। जुल्फिकार जमादार की जुबानी वह किस्सा यों है

उस बार मुहर्रम के बाद हम तीन सौ जने इकट्ठे हुए। तय हुआ कि अब सड़क पर उतरना है। कौन लोग किस तरफ जायेंगे, यह तय होते-न होते ही सामने सत्ताईस आदमियों का एक जत्था आ पहुँचा। सुनाई पड़ा कि हमारे अड्डे से नजदीक के बाज़ार में वे डेरा डाले हुए हैं। उनके साथ सामान से लदे हुए चार घोड़े भी हैं।

अगले दिन सबेरे वे कलादाउन की ओर रवाना हो गये। पीछे-पीछे हम लोग भी उसी रास्ते पर चल पड़े। कई कोस के बाद दोनों दलों की मुलाकात हो गई। शुरू में वे हमसे कतरा जाना ही चाहते थे। लेकिन हम लोगों में जो बुजुर्ग थे, उन्होंने रास्ते के जोखिम के बारे में उनको बताया। इतना लम्बा रास्ता, वन-जंगल

में रुपया-पैसा साथ में लेकर ऐसे चलना क्या ठीक होगा?

उन लोगों ने भी सिर हिलाया। हाँ, बात तो सही है। उन लोगों ने आपस में सलाह-मशविरा कर यह फैसला लिया कि एक साथ चलना ही अक्लमन्दी का काम है। हम लोग जानते थे कि आखिर में वे राजी होकर ही रहेंगे। कहीं भड़क कर वे दूसरे रास्ते चलने न लग पड़ें, इस ख्याल से इसी बीच हम लोग भी दो टुकड़ियों में बँट गये। एक टुकड़ी उनके साथ-साथ लगी हुई थी और दूसरी टुकड़ी दूसरे रास्ते आगे बढ़ गई थी। हम लोग अगर कामयाब न हो सके तो एक या दो दिन के बाद वे जिम्मा ले लेंगे।

लेकिन इसकी जरूरत नहीं पड़ी। वे तैयार हो गये। हम एक सौ पच्चीस थे और वे सत्ताईस। अब एक साथ सफर शुरू हुआ। घनिष्ठता होने में एक दिन और निकल गया। अगले दिन 'झिरनी' उठी।

1833 के अप्रैल में शेख इनायत ने जो सुनाया था, वह और भी सनसनीखेज और भी निर्दयतापूर्ण है-

पन्द्रह साल पहले की बात है। 'तुम उस वक्त कहाँ थे, साहब! मुझे नहीं मालूम। शायद तुम अपने मुल्क ही में थे।' गर्वीला नायक इनायत पुराने दिनों की बातें करते-करते अचानक ही रुक गया। फिर सिर खुजलाते हुए- 'हाँ-हाँ, नाम उनका जेनकिन साहब ही था। वे उन दिनों नागपुर में रेजीडेंट थे। है न, साहब?'

इत्तला मिली कि साहब अपने पूरे दल-बल के साथ नागपुर से बाँदा आ रहे हैं। हम लोग उस वक्त जबलपुर में थे। एक सौ पच्चीस जने बेकार बैठे हैं। इत्तला पाते ही सोचा कि बुरा क्या है? शेर की दुम पर ही एक बार हाथ डालकर क्यों न देखा जाए कि माई की क्या मर्जी है। बस, हम लोग जबलपुर छोड़, सिंहोड़ा में आकर घात लगाकर बैठ गये।

जेनकिन साहब हमारे सामने से होकर चले गये। पीछे-पीछे था उनका लाव-लशकर। वह, सरकार! बहुत बड़ा जत्था था। देखकर लगा कि जत्थे पर काबू पाना हम लोगों के बस की बात नहीं। लेकिन बिना आजमाये छोड़ देने को भी जी नहीं कर रहा था। मैं दिमाग दौड़ाने लगा। अक्ल से परे कोई काम नहीं होता। आखिर एक जरिया निकल ही आया।

साहब का दल चल रहा था। साथ-साथ हम लोग भी। चलते-चलते दो-चार लोगों से बातचीत हुई। साहब के संग बेशक

हैं, पर सभी कोई साहब तो हैं नहीं। धीरे-धीरे चन्द लोगों के साथ रसूख बढ़ा। उनको हम लोगों ने समझाया- 'बिल्कुल साहब की चाल से क्या चलना? ऐसी भी कौन-सी बात है? तुम लोग जरा धीमी चाल से चलो न। इसमें तो तुम्हीं लोगों को सहूलियत है। देखते नहीं कितना बड़ा दल है तुम्हारा। जहाँ पहुँच जाते हो, वहीं सामान का दाम आसमान पर चढ़ने लग जाता है। कुँए का पानी सूख जाता है। जरा पीछे चलने पर तुम लोगों को आराम रहेगा। या फिर आगे-आगे चलो, दूसरे रास्ते से।'

पहले दिन उन लोगों ने इस बात पर तवज्जो नहीं दी। दूसरी रात को जरा उन्हें तब्दीली दिखाई पड़ी। मौका पाकर हम लोगों ने आँखों में अँगुली डालकर असुविधा दिखाई, एक ही ठौर पर इतने सारे लोग। 'दादा रे! न तो आराम की नींद आती है, न दिल खोलकर बातें ही की जा सकती हैं।' बहुत लोगों के साथ औरतें थीं। उनकी सूत देखकर पता चला कि उन लोगों ने हमारी बात मान ली है।

अगले दिन जेनकिन साहब के दल से एक छोटी-सी टुकड़ी सचमुच अलग हो गई। उस वक्त साहब का साजो-सामान सँजोया जा रहा था। हम लोग अपने पसन्द के चन्द लोगों को लेकर चल पड़े। शिकारपुर आकर एक झाड़ी के पास हम लोगों का डेरा डला। फौरी छावनी। दो घड़ी बैठकर सुस्ता लिया जाये। कानों-कान मंत्र लेकर, दो जने और आगे बढ़ गये, सुभीतेवाला ठाँव ठीक करने।

ठौर-ठाँव तय हुआ। वहाँ पहुँचकर, रात के लिए नए तौर पर पड़ाव डाला गया। दल की औरतों ने खाना बनाया। हम सभी ने मिलकर खाया। खाने के अन्त में गप्प-सड़ाका, हँसी-मजाक। उस समय काफी रात बाकी थी।

साहब उस वक्त भी हम लोगों से कई कोस पीछे थे। कोई बैठा था तो कोई खड़े-खड़े गप्प सुन रहा था। कोई भी सो नहीं रहा था। शोर-शराबे से दूर आकर सभी लोग खुश थे। अड्डा काफी जमा हुआ था। औरतें हथेली पर गाल टिकाये, किस्से सुन रही थीं। मर्द लोग फुर्र-फुर्र तम्बाकू पी रहे थे। ऐसे ही समय मैंने 'झिरनी' दी- 'साहब! खानपान लाओ।'

पलक झपकते पच्चीस लोगों की लाशें धरती पर लोट गईं। उनमें पाँच औरतें थीं। दल में दो बच्चे थे। एक को जहीर ने अपनी गोद में ले लिया और दूसरे को केहरी ने संभाला। लेकिन जहीर की गोद के बच्चे का रोना रुकने को ही नहीं आता था। माँ के लिए

छोकरा मानो बौरा गया था। जहीर ने दो-एक दफा उसे छुपाने की कोशिश की, पर वह लड़का किसी तरह बस में आने वाला ही नहीं था। सामने एक पत्थर पड़ा था। बिगड़कर जहीर ने उसी पर उसे दे मारा। नासमझ बच्चा हमेशा के लिए खामोश हो गया। उसी रात को हम लोग फिर अपने रास्ते पर चल पड़े।

नवाब सब्जी खाँ के लापता होने का किस्सा भी ऐसा ही बेरहमी से भरा हुआ है। उसके पीछे भी नायक था यही इनायत। दो साल बाद, सन् 1835 में एक ही ढंग की बेलौस आवाज में उसने उस 'झिरनी' की कहानी सुनाई थी।

सब्जी खाँ हैदराबाद के निजाम बहादुर के एक ऊँचे ओहदेदार थे। लोग उन्हें सिर्फ इसलिए सब्जी खाँ कहते थे कि उस ऐय्याश नवाब की सिर्फ एक ही नशे की चीज थी - किसी खास तरीके से बना एक भेषज-पेय।

उस बार अपने सोलह साल के बेटे को लेकर वे निजाम-दरबार से भोपाल जा रहे थे। उनके दल में थे दो साईस, दो सिपाही, बेटा और एक जवान बांदी। रास्ते में किसी बात पर बाप-बेटे में तकरार हो गई। बाप-बेटे, दोनों ने अलग-अलग रास्ता ले लिया। नवाबजादा एक रास्ते पर, तो नवाब दूसरे रास्ते पर।

रास्ते में इनायत सलाम करके नवाब के सामने खड़ा हो गया- 'हुजूर! हम लोग घोड़े के सौदागर हैं। घोड़ा लेकर दकन गए थे। भोपाल होकर अपने मुल्क लौटना है। क्या आप भी उसी तरफ जा रहे हैं?' उसने कहा।

नवाब ने सिर हिलाया। इनायत ने कहा- 'अगर एतराज न हो तो हम लोग आपके साथ चलें। आप इज्जतदार आदमी हैं। आपके साथ रहने पर हम परदेशी बड़े ही बेफिक्र रहेंगे।'

नवाब ने कोई एतराज नहीं किया। बेटे के साथ झगड़कर उनका दिल बड़ा खट्टा हो गया था। सोचा, बुरा क्या है? नये लोग साथ रहेंगे तो बातचीत में जरा दिल ही बहलेगा।

वे एक साथ ही चलने लगे। रास्ते में फरागदिल नवाब ने अपने दिल के किवाड़ खोल दिये। वे क्या करते हैं, क्या कमाते हैं, कैसी आदते हैं - कुछ भी नहीं छिपाया, यहाँ तक कि सब्जी खाँ नाम का भेद भी बता दिया।

तीन दिन इनायत उनके साथ-साथ चलता रहा, पर मौका किसी तरह भी हाथ नहीं लगा। हर बार नवाब ऐसी जगह पर आकर डेरा डालते कि वहाँ इनायत लाचार हो जाता।

लेकिन चौथे दिन एक जंगल के बगल से वे चल रहे थे। इनायत ने कहा- 'खाँ साहब! जगह काफी ठंडी है। बहुत देर से आपने सब्जी नहीं ली है। जरा सा आराम न करेंगे? हम लोग भी प्रसाद पा सकते हैं।'

सब्जी का जिक्र आते ही नवाब को गले में खुशकी महसूस होने लगी। उन्होंने कहा- 'तुमने ठीक ही सुझाया। जरा सुस्ता लिया जाये।'

कारपेट बिछाया गया। वह जवान बांदी सब्जी-पेय बनाने का सामान ले गई। नवाब बदन ढीला कर बैठ गये। उन लोगों में से तीन साहब के दाहिने-बाएँ घुटने मोड़कर बैठ गये। वे भी आज प्रसाद लेंगे।

सब कुछ तैयार। अचानक शाही लहजे में इनायत बोल पड़ा- 'साहब खाँ! तम्बाकू लाओ।' बस, नवाब लापता हो गये। बाँदी, साईस, किसी की भी कोई निशानी नहीं रह गई।

बहुत दिनों बाद नजदीक के एक बाजार में सिर्फ एक ढाल मिली थी। नक्काशीदार खूबसूरत-सी एक ढाल। जो आदमी बेचने को लाया था, उसने कीमत आठ सौ रुपये माँगी। सुनकर दुकानदार ने शक्की निगाहों से उसकी ओर देखा। बगल से कोई बोल पड़ा था- 'वाह! बड़ी खूबसूरत चीज है। कुछ-कुछ सब्जी खाँ की ढाल जैसी।'

बातचीत के दरम्यान वह आदमी कहाँ गायब हो गया, किसी ने ख्याल नहीं किया। अन्त में ढाल जब सचमुच पहचानी जा सकी, तो इनायत खुद भी सब्जी खाँ की तरह एक रहस्य ही बन गया था - वह भी लापता हो चुका था। सब्जी खाँ ढूँढे नहीं मिले।

कोई भी ढूँढने पर नहीं मिलता था। साल में लापता होने वालों की तादाद औसतन चालीस हजार। कोई भी अतिरेक नहीं। अगले दिनों में इनायत बगैरह ने स्वयं ही कहा कि किसी के हिसाब में नौ सौ इकत्तीस जानें हैं, तो किसी के छः सौ चार, तो किसी के पाँच सौ आठ, तो किसी के चार सौ इक्कीस। जो सबसे बदनसीब है, उसकी भी स्मृति में चौबीस लापता आदमियों का पता है। उनमें से कोई भी ढूँढे नहीं मिला। कोई ढूँढे मिलता ही नहीं था।

यह इनायत भी ढूँढे नहीं मिल रहा था। रोशन जमादार, रुस्तम खाँ, इनायत, दुर्गा आदि भी उन दिनों अनगिनत थे। लेकिन

फिर भी वे किसी की नजरों में नहीं पड़ते थे, कभी नहीं। क्योंकि यह आसान नहीं था। सादी आँखों से इन्सान अपने ख्वाबों में भी उस दृश्य की कल्पना नहीं कर सकता।

उस रात को अचानक ही एमेली की नींद उचट गई थी, बुरे सपने देखकर। वीभत्स स्वप्न। अचकचाकर वह अपने कैम्प में खाट पर उठकर बैठ गई थी। फिर दोनों हाथों से आँखें रगड़ते हुए उसने तम्बू के फूल-कढ़े दरवाजे की ओर देखा था। फिर अधखुली खिड़की के एक किनारे समेटे हुए झालरवाले मखमली परदे की ओर भी नजर दौड़ाई थी।

कहीं कोई नहीं था। सिरहाने एक टिमटिमाती बत्ती जल रही थी। दरवाजे के पास हिन्दुस्तानी आया गुड़ी-मुड़ी लेटी हुई थी। बाहर लोगों का आना-जाना, बातचीत। सिपाही रतजगा करते चहलकदमी कर रहे थे। झूठ-मूठ को बुलावा भेजने की जरूरत नहीं थी। बेचारी की शायद अभी ही आँख लगी होगी। चदरे को अच्छी तरह से बदन पर खींचकर, उन्होंने फिर तकिये पर सिर टिका लिया था। वे उस समय भी नहीं जानती थीं कि अगले दिन सबेरे ही विलियम उनके सपने को साकार बनाने वाला है।

स्लीमैन खुद भी ऐसा सोच नहीं सके थे। सिलोदा की वह सुबह उनके जीवन में न भुलाई जाने वाली एक स्मृति बनी रहेगी।

सन् 1830 की बात है। जिलाधीश अपने जिले के दौरे पर निकले थे। साथ में नववधू एमेली थी। सागर से तीस मील दूर एक गाँव में आकर उस दिन का सफर खत्म करना पड़ा। थोड़ी देर बाद ही शाम झुक आयेगी। रात में इतने लोगों के खेमे कहीं और गाड़ने में असुविधा होगी। इसके अलावा यह इलाका उनका सुपरिचित है। जगह भी अच्छी-खासी है।

रास्ते के इस बाजू पर बड़ी-सी अमराई। दूसरी ओर गाँव। गाँव का नाम सिलोदा। एक नजर देखते ही समझ में आ जाता है कि काफी बड़ा गाँव है। सिर्फ रात ही क्यों, अगर चाहो तो और भी एकाध दिन यहाँ गुजारा जा सकता है। स्लीमैन ने हुक्म दिया- 'यहाँ खेमे गाड़ो'।

देखते ही देखते वह अमराई एक दूसरे गाँव में बदल गई। एक तरफ एमेली का तम्बू और एक तरफ साहब का अपना तम्बू। दोनों तम्बूओं को घेरकर अमला, कारिन्दों, सिपाहियों और खिदमतगारों के तम्बूओं की कतारें। दफ्तर, रसोईखाना, अस्तबल। देख-देखकर एमेली इसी बीच इन बातों की आदी हो गई थी। वह जानती थी कि विलियम की व्यवस्था में कहीं कोई गड़बड़ी नहीं।

उनके कैम्प में बुरे सपनों की कोई गुंजाइश नहीं। थकी-माँदी एमेली अगले ही क्षण सो गई थी।

फिरंगिया ने इत्तला दी थी। सबेरा हुआ ही था। एमेली उस समय भी बिस्तर में थी। स्लीमैन मुँह-हाथ धोकर, अपनी आदत के मुताबिक कागजात लेकर बैठ गये थे। ऐसे ही समय सलाम कर फिरंगिया सामने आकर खड़ा हो गया। वह भी दूसरा इनायत ही था - सबसे माहिर और सबसे जालिम इनायत। फाँसी के तख्ते से साहब ने खुद उसे छिनाकर रख लिया था। ऐसे आदमी को वह गँवाना नहीं चाहते थे। बहुत सारा काम निकालना था उससे, तभी से फिरंगिया स्लीमैन के साथ-साथ रहता था।

स्लीमैन को बेवक्त उसे अपने तम्बू में देखने की आशा नहीं की थी। वे मानो कुछ नाराज होकर ही कम बातों से उसे दफा कर देना चाहते थे- 'क्या चाहिए?'

'जी?' फिरंगिया दो कदम आगे बढ़ आया- 'अगर आप इजाजत दें तो एक बात कहना चाहता हूँ, हुजूर।' 'ठीक है।' 'इस बार हुजूर ने जगह बड़ी अच्छी चुनी है।'

फिरंगिया की आवाज में सन्तोष का आभास था। स्लीमैन को मानो किसी चीज की बू मिल गई। उनकी भौंहेँ सिकुड़ गई। हाथ में पकड़े कलम को उन्होंने कलमदान में रख दिया, फिर पलटकर बैठ गये। फिर सीधा उसकी आँखों में देखते हुए बोले- 'क्या कहना चाहते हो तुम?'

हुजूर! आपने जिस पण्डित और छः जनों का जिक्र किया था, वे यहीं हैं सरकार। इसके अलावा, फिरंगिया कहता गया- 'वह हवलदार और उसके चार सिपाही, गंगाजल लाते हुए चार बामन, सभी यहीं पर हैं। उनके साथ-वाली जनाना भी है।'

'क्या बक रहे हो तुम?' स्लीमैन चिल्ला पड़ा। उनको जहाँ तक याद था, पंडित और उसके छः साथी सन् 1818 में खो गये थे। यानी दस साल पहले। उत्तर भारत से गंगाजल लेकर दक्षिण जाते हुए नर्मदा घाटी के चार ब्राह्मण एक नारी समेत जो लापता हो गये थे, वह भी उसी समय की कहानी थी। हवलदार और सिपाहियों की घटना छः साल बाद की थी। सन् 1824 की। 'ऐसा हो ही नहीं सकता', स्लीमैन ने घुड़की लगाई, 'क्या तुम कहना चाहते हो कि एक युग पहले खोया हुआ पंडित मेरे पड़ाव में ही है।' 'जी हाँ, ऐसी ही बात है'- बिना घबराये फिरंगिया ने जवाब दिया। 'लेकिन हुजूर! बिल्कुल इसी पड़ाव के नीचे, जमीन के नीचे।' 'जी, हुजूर।'

कौतूहल से बेचैन स्लीमैन से अब बैठे नहीं रहा गया। वे तम्बू से निकलकर बाहर आकर खड़े हो गये। तब सबेरा हुआ ही था। अमराई में शाखों पर चिड़ियों की चहचहाहट। भोरहरिया हवा में विन्ध्य पर्वत का सन्देश। नीचे हरी घास का मखमल। उस पर तस्वीर-सा तम्बूओं का शहर। अस्तबल के सामने साईस घोड़ों को खरहरे देने में लगे हुए।

चारों ओर अच्छी तरह देखभाल कर स्लीमैन बोल पड़े- 'क्या तुम कहना चाहते हो कि मेरा घोड़ा जहाँ खड़ा है, उसके पैरों के नीचे हवलदार और उसके चार साथियों की कब्रें हैं? जहाँ एमेली अब भी सो रही है, वहीं उसकी चारपाई के नीचे गंगाजल का पात्र लिए चार ब्राह्मण पड़े हुए हैं, और एक ब्राह्मणी?'

फिरंगिया उस समय भी बगल में खड़ा था। साहब के सामने से मुट्टी भर मिट्टी उठाकर उसने अच्छी तरह परखा। फिर दर्द भरे स्वर में बोला- 'जी हुजूर! आप जमीन खोदने का हुक्म दीजिए। अगर वे नहीं मिलते तो मुझे फाँसी के तख्ते से लटका दीजियेगा। मैं राजी हूँ।'

फौरन सिपाहियों को बुलाया गया। वे गाँव से फावड़ा और आदमी ले आये। फिरंगिया के दिखाने पर हरी घास पर फावड़े चलने लगे। बगल में समूचा कैम्प खड़ा रहा।

उन लोगों ने पाँच फीट तक खोदा, लेकिन हवलदार या उसके चार सिपाहियों का कहीं नामोनिशान नहीं। स्लीमैन ने फिरंगिया के चेहरे की ओर देखा। अविचल फिरंगिया ने जवाब दिया- 'हुजूर! मेहनत तो होगी, पर जरा और खोदना पड़ेगा।'

स्लीमैन ने फावड़े चालू रखने को कहा। अन्त में सचमुच आदमियों के चिह्न मिले। पहले चन्द लत्ते-गुदड़ी, फिर वरदी के कुछ बटन और इसके बाद अगल-बगल पाँच आदमी।

फिरंगिया ने कहा- 'उस ओर वाला जमादार है और इधर वाले चार सिपाही हैं।' विस्मय-विमूढ़ स्लीमैन ने नाक पर रूमाल रख ली। कहा- 'ठीक है। उन्हें ऊपर निकाल लाओ।'

एमेली बेशक तब तक बिस्तर छोड़ चुकी होगी। स्लीमैन ने उनके तम्बू में एक खिदमतगार भेजा। बोले- 'जरा पता लगाओ, मेम साहब क्या कर रही हैं।'

उसने आकर बताया कि मेम साहब छोटी हाजरी के तम्बू में चली गई हैं, यानी ब्रेकफास्ट की मेज पर। ब्रेकफास्ट का तम्बू वहाँ से काफी फासले पर था। स्लीमैन ने निश्चिंत होकर कहा- 'तो

अब चलो, मेम साहब के तम्बू में।' निश्चिंत से फिरंगिया ने जवाब दिया- 'जैसी आपकी मर्जी, हुजूर।'

फिरंगिया की हिदायत के अनुसार एमेली के तम्बू के तामझाम रस्सी-खूँटे सब खोल डाले गये। फर्श की कालीन हटा दी गई। इसके बाद उसने अँगुलियों से जमीन पर जो निशान बनाये, उसी पर फावड़े चलने लगे। खोदते-खोदते छः फीट जमीन के नीचे से बारह साल पहले खोये हुए पंडित और उनके छः अनुचर निकले। इसके बाद उससे कुछ हाथ दूर वे गंगाजलवाही ब्राह्मण मिल गये। उन्हीं की भीड़ में एक ठिगने कद की देह का अवशेष पड़ा था। वह ब्राह्मणी की देह का था।

'हॉरिबिल।' विजयी फिरंगिया के मुख की ओर देखते हुए स्लीमैन नफरत से तिलमिला उठे।

शान्त कण्ठ से फिरंगिया ने जवाब दिया- 'और भी है। देखियेगा हुजूर?' 'नहीं।' फौरन स्लीमैन वह जगह छोड़कर चले गये थे।

इतनी देर में इत्तला पाकर, बगल में कोरई गाँव से लाव-लशकर लिये स्थानीय थानेदार आ पहुँचे। उसके हाथों में फर्द टिकाते हुए, बाकी काम उसको सौंपकर, स्लीमैन ब्रेकफास्ट-टेबल की ओर चल पड़े। ऐसा दृश्य बहुत देर तक नहीं देखा जा सकता था। हॉरिबिल।

'हॉरिबिल!' एमेली ने मानो उनके मुँह से निकले अस्पष्ट शब्द को ही पूरा किया। इस सबके बारे में उनको अभी कुछ भी नहीं जानना नहीं चाहिए था। खिसियाकर विलियम शंकिंत हो उठे। सबेरा होते-न होते कौन अहमक आकर यह सब बता गया? उन्होंने चुपचाप अपने हाथ में चम्मच ले लिया।

खाना खाते हुए एमेली ने उस भयानक सपने की बात छोड़ दी- 'तुम सोच भी नहीं सकते कि कैसा दृश्य था। हॉरिबिल! घिनावना!' 'देखोगी?' मन ही मन हँसते हुए बीबी को लेकर स्लीमैन उनके तम्बू की ओर बढ़े। विस्मय-चकित एमेली ने फटी-फटी आँखों से देखा, कल रात को जहाँ उनका तम्बू था, वह जगह किसी जादू से अब गायब हो गई है। नजदीक जाने पर दिखाई पड़ा - सूनी नहीं, उस जगह पर बड़ी-सी कब्र मुँहबाये पड़ी है। बगल में कपड़े से ढँकी सात लाशें हैं। 'कल रात जो उन्होंने तुम्हें डराया था, वे ये ही हैं।' स्लीमैन के इशारे पर सिपाहियों ने कंकालों के मुखों पर से कपड़ा खींच दिया था- 'इनसे कोई डर नहीं, डियर। ये बारह साल पहले मरे थे।'

‘इनक्रीडिबिल!’ आँखों पर रूमाल रखकर एमेली आर्तनाद कर उठी थी, ‘मैंने सपने में इन्हीं को देखा था।’

‘बिल्कुल!’ मुस्कराकर पत्नी का हाथ थामे स्लीमैन अपने तम्बू में लौट गये थे। चलते-चलते बोले थे- ‘लेकिन मैंने सपने में भी ऐसे दृश्य की कल्पना नहीं की थी।’

कोई कर नहीं सकता। बेऐब कर्बे। पक्के हाथों का पक्का काम। स्लीमैन ने लिखा -

1822, 23, 24 - ये तीन वर्ष मैं नरसिंहपुर जिले में था। उस समय ऐसी कोई चोरी, डकैती, राहजनी या कत्ल का मामला नहीं होता था, जिसकी खबर मुझे न मिलती। हर जुर्म की जरा-जरा सी खबर भी मुझे मिल जाती थी। हर घटना को मैं अपने दिमाग से जाँचता-परखता था। लेकिन फिर भी किसी दिन एक बार भी उस दृश्य की कल्पना नहीं कर सका। उन दिनों अगर कोई मुझसे कहता कि मेरी कचहरी से सिर्फ चार सौ गज दूरी पर कुंदेली गाँव में ऐसे लोग हैं, जिनके हाथों के स्पर्श से हर साल सैकड़ों बटोही लापता हो जाते हैं, तो बेशक उसे पागल कहकर, मैं उसकी खिछी उड़ाता, या कोई अगर मुझसे कहता कि मेरे दफ्तर से एक दिन पैदल चलने पर ही एक ऐसे गाँव जाया जा सकता है, जहाँ जमीन के नीचे हजारों-हजार लापता लोगों का निवास है, तो भी मैं उसे बेवकूफ कहकर विदा कर देता। लेकिन ताज्जुब यह है कि आज मैं जानता हूँ कि ये दोनों ही खबरें सच्ची हैं।

यह हकीकत जानने से पहले स्लीमैन को बहुत दिनों तक इन्तजार करना पड़ा था। फिरंगिया साथ न होता तो सिलोदा शायद हमेशा के लिए उनके लिए एक साधारण से गाँव के रूप में ही रह जाता। डायरी के पन्नों पर पथ के किनारे की अमराई केवल शान्त छाया और टंडी बयार की स्मृति बनकर ही ठण्डी साँसें भरती। छः फीट जमीन के नीचे से कभी अपने नाते-रिश्तेदार और दोस्त-अहबाब के लिए दिन की रोशनी में हवलदार पंडित या चार धर्मप्राण ब्राह्मणों के कंकाल न निकलते। हरी घास की निश्चिन्त चादर के नीचे वे हमेशा के लिए लोगों की आँखों से दूर रह गये होते।

सभी लोग ऐसे ही रहते। कभी-कभी सियारों या बेपनाह बौछारों की भरपूर कोशिश से यह रहस्य कुछ-कुछ हल्का सा हो जाता। लेकिन उस हालत में दर्शक लाचार होते। जल्दबाजी में इनायत वगैरह अब ज्यादा ध्यान नहीं दे पाते थे, तब भी उनको पहचानना दुश्चर ही था।

एक आदमी ने इस पर विचार किया था। वे थे एक ठग - फिरंगी ठग। भारत के इतिहास में उनका नाम है विलियम हैनरी स्लीमैन। समसामयिक योरोपियन उन्हें पुकारते थे ‘ठग स्लीमैन’ कहकर।

सर्दियों के अन्त में भारत के विभिन्न राज्यों के भवानी-शिष्य जिस समय अनगिनत प्राणों की भेंट लिये, भक्ति से विनम्र चित्त लिये, सैकड़ों मील पैदल चलते हुए कालीघाट की यात्रा कर रहे थे, उस समय चितपुर रोड के निकट लालदीधि के दक्षिण तट पर फोर्ट विलियम कालेज के एक निर्जन कक्ष में एक उन्नीस वर्षीय अंग्रेज नौजवान एक भ्रमण-कथा पुस्तक में रमा बैठा था।

सिर्फ चन्द महीना पहले वे देश की धरती पर पधारे थे। लेकिन इस देश के बारे में बचपन से ही उनकी गहरी दिलचस्पी थी। क्योंकि कार्नवाल के जिस परिवार में उनका जन्म हुआ था, इंग्लैंड के एक सैनिक परिवार के रूप में वह सदा से सुपरिचित रहा था।

पिता कैप्टन फिलिप स्लीमैन सैनिक थे। आठ भाईयों में से तीन नौसेना में थे और एक भूसेना में। पाँचवें पुत्र विलियम ने बचपन में ही मन ही मन तय कर लिया था कि वे भी सैनिक बनेंगे और अन्य कहीं नहीं, अपना सैनिक जीवन वे सपनों के देश हिन्दुस्तान की धरती पर बितायेंगे। यह सपना उन दिनों किसी भी उच्चाभिलाषी तरुण के लिए जरा भी अस्वाभाविक नहीं था।

सिर्फ दस वर्ष पहले श्रीरंगपत्तम का युद्ध हुआ था। कम्पनी का शासन तब स्थायी राज्य का रूप लेने लगा था। धन-दौलत, रोमांच - हिन्दुस्तान उस समय अभियात्री के लिए स्वर्ग-राज्य ही था। इस देश के नाम पर हर अंग्रेज नौजवान उन दिनों दीवाना था। फिर भी उनमें से एक, फिलिप-पुत्र विलियम की बात खासतौर से इसलिए करनी पड़ रही है कि दूसरों से उसके स्वप्न में कुछ फर्क था। यह बालक ‘पैगोडाट्री’ नामक रुपये के दरख्त के ख़ाब में ही मखमूर नहीं था, इतिहास के अनुरागी छात्र के तौर पर अनदेखी भारत की धरती से भी वह मन ही मन मुहब्बत करने लगा था।

कलकत्ते में पैर धरने के साथ ही उसके मुँह से भड़ाभड़ हिन्दुस्तानी भाषा सुनकर फोर्ट विलियम के बूढ़े कर्नल उसका मुँह ताकते रह गये। फिर जरा हिल-डुलकर बैठते हुए, वह पूछ बैठे थे- ‘वीन औट हीयर?’ ‘नो सर।’ कार्नवाल के खालिस अंग्रेज विलियम ने सगर्व उत्तर दिया था।

इस बीच वे बारासात का प्रशिक्षण खत्म कर नेटिव इनफैंट्री

के सैनिक के रूप में युद्ध-क्षेत्र से लौट आये थे। अवध, नेपाल और उत्तरी भारत का काफी इलाका इस बीच वे देख चुके थे। रास्ते में हिन्दुस्तानी भाषा के साथ उर्दू, फारसी, पोस्तू और गुरखाली आदि कई भाषाएँ भी उन्होंने सीख ली थीं। अचानक हुक्म आया कि बैरकपुर लौटना है। विलियम के लिए बैरकपुर से अधिक आकर्षक थी नेपाल की सरहद। फिर भी कम्पनी का हुक्म था। मन ही मन उन्होंने निश्चय किया कि अगर जाना ही पड़ा तो इस बार काम में वक्त लगायेंगे।

यही तमन्ना लेकर बैरकपुर से कभी वह लालदीधि के किनारे फोर्ट विलियम कॉलेज की लाइब्रेरी में आये थे। वहाँ दो दिन आने-जाने के बाद ही बड़े कर्नल ने खुद आकर, पन्द्रह महीने के लिए लैंग्वेज-क्लास में उन्हें भरती करा दिया था। विलियम वहाँ अरबी और फारसी भाषा सीखने लगे। मौका मिलते ही पत्रा उलटते-उलटते एक ऐसी जगह पर आकर आँखें टिक गई कि उससे आगे बढ़ना नामुमकिन हो गया। कौन हैं ये? कहाँ रहते हैं ये? तो ऐसे विचित्र पेशेवाले लोग अब भी इस देश में मौजूद हैं? सवाल पर सवाल आकर उन्हें घेरे ले रहे थे। स्लीमैन फिर से पहली पंक्ति पर लौट गये।

भ्रमण-कथा के लेखक थे एस. थिवेनाट नामक एक फ्रांसीसी पर्यटक। सत्रहवीं सदी में वे भारत आये थे। इस पुस्तक में उस समय के भारत का आँखों देखा विवरण था।

कालीघाट का तीर्थ कर, सन्तुष्ट ठग जब हल्के दिल लेकर, चितपुर की सड़क पर टोलियों में अपने-अपने घर लौट रहे थे, लालदीधि के एक कोने में हाथ से खींचने वाले पंखे के नीचे बैठा नौजवान स्लीमैन आश्चर्यचकित आँखों से पढ़ता जा रहा था।

दिल्ली और आगरे के बीच की जिस सड़क की चर्चा कर रहा हूँ, जनपथ के रूप में वह कोई बुरी नहीं। लेकिन वहाँ शेर, साँप और डाकू हैं। खासतौर पर किसी अजनबी राहगीर के लिए रास्ते में किसी के नजदीक जाना खतरे से खाली नहीं है। क्योंकि संसार के सबसे चालाक डाकुओं का कार्य-क्षेत्र यही है। संसार में ऐसे कुशल और शांति कातिल नहीं मिलेंगे। मुसाफिर के पहुँच के अन्दर आते ही, वे एक फाँसी चला देते हैं। उनका निशाना गजब का होता है। फाँसी सीधे जाकर गले में पड़ती है। साथ ही दूसरा सिरा पकड़कर वे बटोही को धरती पर गिरा देते हैं। आँख झपकते ही सब कुछ खत्म।

कभी-कभी शिकार को वे एक दूसरे अनोखे ढंग से धोखा

देते हैं। चलते-चलते बटोही देखेगा कि रास्ते के किनारे खड़ी एक सुन्दर रमणी रो रही है। बीहड़ जंगल के सुनसान रास्ते पर अकेली बेबस नारी को देखकर कौन है, जो ठिठककर खड़ा न हो जायेगा? जाहिर है कि पथिक उसकी तरफ जायेगा। वह रमणी रोती-घिघियाती अपनी दुःख-भरी दास्तान सुनायेगी। हमदर्दी से बटोही की आँखें भी नम हो जायेंगी। अब वह पूरी कहानी सुनना चाहेगा। धीरे-धीरे दोनों में सामयिक घनिष्ठता हो जायेगी। रमणी के अनुरोध पर बटोही उसे अगले गंज या शहर तक पहुँचा देने को तैयार हो जायेगा। साथिन को पीछे बिठाकर वह फिर घोड़े पर सवार हो जायेगा। चन्द मिनटों में ही हसीना अपनी असली सूरत अखियायार कर लेगी। कमर से खामोशी से फाँसी निकालकर अपने उपकारी के गले में पहना देगी। उसके संगी-साथी भी नजदीक होंगे। वे दौड़कर बाकी काम तमाम कर देंगे।...

जितनी बार स्लीमैन इसे पढ़ते, उतनी बार उनके दिमाग में सवाल कौंध जाता - अब भी क्या ये मौजूद हैं- ये अजनबी कातिल? कलकत्ते में, बैरकपुर में, बारासात में, बेगम जानसन की बैठक में, सिपाहियों की बैरक में, शहर के सीवान के हाटों में जो भी बुजुर्ग मिल जाता, उसी से स्लीमैन पूछ बैठते- 'क्या आज भी इस देश में थिवेनट के जमाने के वे डाकू जिन्दा हैं - सत्रहवीं सदी के वे कातिल?'

लेकिन वे बावरे जैसे नाहक ही भटकते फिरते थे। स्लीमैन के इस सवाल का जवाब किसी को भी मालूम नहीं था। न तो कम्पनी के पुराने अफसर जानते थे और न बैरकपुर के हिन्दुस्तानी बाशिन्दे।

कई साल के बाद इस सवाल का जवाब उनको खुद फोर्ट विलियम कॉलेज की लाइब्रेरी में मिल गया था - इस बार भी पुराने कागजों के ढेर में पड़ी एक बेजान पाण्डुलिपि से।

कलकत्ते में उतरने (1809 ई.) के आठ साल बाद की बात है। सैनिक के रूप में तारा-मिर्जापुर, दिनापुर, गोरखपुर, विभिन्न जगहों में घूमते हुए सगौर व गुरखा युद्ध (1814-16 ई.) से निबटकर स्लीमैन उन दिनों इलाहाबाद में थे। उन दिनों के अस्थिर भारत में कम्पनी के आदमियों को कोई विशेष आराम नहीं था। आज यहाँ तो कल वहाँ।

स्लीमैन भी उस समय व्यस्त पथिक थे। वे थे दिलेर सिपाही, लेकिन राह-रास्ते जहाँ कहीं अनजान लोगों की भीड़ उन्हें दिख जाती, बस वहाँ वह गौर से देखने लगते। कर्नल पूछते-

‘हिन्दुस्तानियों के इस काफिले में देखने लायक क्या मिल गया तुमको?’

पकड़े जाने से लज्जित होकर स्लीमैन सिर झुकाकर जवाब देते- ‘पार्डन मी, सर। मैं थिवेनट के देखे हुए कातिलों को ढूँढ रहा था।’

बहुत ढूँढा उन्होंने। कभी गाँव-रास्ते पेड़-तले बैठे लोगों के चेहरे पर, कभी गेहूँ के खेतों में टोलियों में काम करते लोगों की बाँहों में, कभी फेरीघाट की भीड़ में, हुक्रे के धुएँ में, हाट से लौटती जनता की मण्डली में, हसीनाओं की आँखों में। लेकिन वे कहीं भी नहीं मिले।

अन्त में, इलाहाबाद। सैकड़ों मील लम्बे रास्ते पर, सैकड़ों गाँव-गंज में जो नहीं मिला, अन्त में इलाहाबाद की पुरानी कचहरी-कोठी की एक आलमारी ने वही जवाब उनके हाथों में दे दिया - थिवेनट से अधिक ताजा और प्रामाणिक विवरण।

स्थानीय कलेक्टर पुराने मित्र थे। छावनी से ये सैनिक कभी-कभी उनके दफ्तर आते और अलस-तिपहरी को बातचीत में गुजारकर फिर अपनी छावनी में लौट जाते। बातों-बातों में उस दिन थिवेनट का जिक्र छिड़ गया। कलेक्टर ने कहा- ‘मैंने भी सुना है, इस तरह का कुछ था जरूर।’

‘कहाँ?’ स्लीमैन ने उनका हाथ दबाया।

‘मुमकिन है कि वह किसी किताब के पन्नों में हो।’ आँखें मूँदकर मित्र कलेक्टर ने कुछ देर तक सोचा। फिर कहा- ‘तुम उस आलमारी में जरा उलट-पुलटकर देखो। जहाँ तक याद है, शायद वह किताब अभी तक यहीं पड़ी है।’

स्लीमैन फौरन काम में लग गये। कागज का पहाड़ उलटते-पुलटते वह अनमोल दौलत हाथ लग गई। किताब नहीं, एक पाण्डुलिपि। लेखक डॉ. रिचर्ड शेरवुड। परिचय-पंक्ति से पता चला कि वे मद्रास के सेंट जार्ज अस्पताल के सर्जन थे। सारी रचना - दरअसल, एक रिपोर्ट थी। उसकी विषय-वस्तु थी - फाँसीगीर या आरितुलकर या ताँताकेलेरु या वारलू वांटुलू नामक एक अजीब खूनी-सम्प्रदाय। लम्बी-चौड़ी रिपोर्ट थी। लेकिन रचनाकाल हाल का था - अभी 1816 ईस्वी का ही। स्लीमैन वहीं खड़े-खड़े उसे पढ़ने लगे।

डॉ. शेरवुड ने लिखा था कि 1799 ईस्वी में श्रीरंगपत्तम् के पतन के बाद बँगलोर के पथ पर करीब एक सौ फाँसीगीरों का

एक गिरोह पकड़ा गया था। यूरोपियों से यही उनकी पहली मुलाकात थी। उत्तर में दिल्ली और दक्षिण में त्रिवांकुर में भी एक बार और दो गिरोह पकड़े गये थे, लेकिन बँगलोर वाला गिरोह ही सबसे अधिक उल्लेखनीय है। उनको हालाँकि अन्ततः सबूत के अभाव में छोड़ दिया गया था, लेकिन डॉ. शेरवुड ने यह सोचकर उनसे कुछ तथ्य बटोर लिये थे कि शायद कभी उनकी जरूरत पड़ जाये।

स्लीमैन हर्ष से विभोर हो उठे। उनके हाथ में वह पाण्डुलिपि काँपने लगी। मानो टोलियों में फाँसीगीरों की कतार भाग रही हो। रिपोर्ट के अन्त में डॉ. शेरवुड ने भविष्य के लिए और भी कुछ संचित कर दिया था। परिशिष्ट के रूप में फाँसीगीरों की भाषा के भी कुछ नमूने पेश किये गये थे।

स्लीमैन से रहा नहीं गया। रिपोर्ट को बन्द करते हुए उन्होंने मित्र से कहा- ‘बहुत-बहुत धन्यवाद। आज के लिए यह मैं लिये जा रहा हूँ। कल वापस मिलेगी।’

उस रात उन्हें नींद नहीं आई। डॉ. शेरवुड के संगृहीत शब्द मानो हरफों के बन्धन तोड़कर उनके कानों में शोर कर रहे थे- ‘पान लाओ, तमाकू लाओ।’

उद्योगी सैनिक स्लीमैन इस बीच हिन्दुस्तान की बहुत सारी भाषाएँ सीख चुके थे। यह भाषा भी उन्होंने सीखी। आवाज के सुराग से कातिलों को ढूँढ निकालना होगा - जहाँ से भी हो सके, जितने दिन में भी हो सके।

वह मौका भी एक दिन आ गया, और आया बड़े ही आकस्मिक रूप से। स्लीमैन अब सैनिक नहीं रहे। तीन साल पहले सैनिक की वर्दी छोड़कर उन्होंने सिविल-सर्वेन्ट का कोट पहन लिया था। उनकी इच्छा थी कि वे फोर्ट विलियम कॉलेज में अध्यापक का काम करें, क्योंकि सामने तत्काल कोई युद्ध नहीं था। 1818 के मराठा युद्ध में भी उनकी पलटन को लाम पर नहीं जाना पड़ा।

दूसरी बात, रास्तों पर घूमते हुए सैनिक को लड़ाई के मैदान की तरह फसलों से भरे खेतों से भी मुहब्बत हो गई थी।

इसी बीच अवध के भूतत्व और वहाँ की कर-नीति के बारे में काफी तथ्य उन्होंने इकट्ठे कर लिये थे। उनके बारे में सोचने को काफी मसाला था।

तीसरी बात, उनका भाषा-प्रेम भी इसी बीच उनको भाषाविद् बना चुका था। सिर्फ हिन्दुस्तान के लोगों की भाषा का ही नहीं,

अरबी और फारसी का भी उन्हें ज्ञान हो चुका था।

1819 ईस्वी की 22 अगस्त को इसीलिए वे एक अनोखी अर्जी लेकर अपनी पलटन के अध्यक्ष कर्नल ग्रेगरी के सामने पहुँचे। कर्नल ने दरखास्त पर आँखें दौड़ाकर, हैरत के साथ धीर-गम्भीर स्वर में कहा- 'नामुमकिन! इसके लिए मैं कतई सिफारिश नहीं कर सकता।'

बेबस स्लीमैन के मुँह से फूट पड़ा- 'लेकिन, लेकिन...'

'कोई लेकिन नहीं, स्लीमैन। यह रही कलम और यह स्याही', ग्रेगरी ने अपने सामने के कलमदान को दिखाकर कहा- 'यहाँ बैठो, कुछ और कहे बिना जो मैं कहूँ, लिखते जाओ। तुम जैसे एक नौजवान को मैं स्कूल-मास्ट्री करने को नहीं भेज सकता।'

स्लीमैन में यह हिम्मत न थी कि बूढ़े कर्नल की हुक्म-अदूली करते। क्योंकि ग्रेगरी के गले से उस दिन उन्हें अपने पिता फिलिप स्लीमैन का स्वर सुनाई पड़ा था।

लिहाजा फोर्ट विलियम कॉलेज में अध्यापक का पद माँगने के बदले दरखास्त लिखी गई पॉलिटिकल सर्विस में किसी भी उपयुक्त पद के लिए। कई महीने के बाद 1819 की एक सुबह खबर आई कि उनकी अर्जी मंजूर कर ली गई है। कलकत्ते से गवर्नर-जनरल का आदेश आया था कि उन्हें सेना से छोड़ दिया जाये। स्लीमैन अब से सिविल-सर्वेन्ट थे। उनका नया ओहदा था - सागर में गवर्नर-जनरल के एक प्रतिनिधि - 'जूनियर असिस्टेंट टू द एजेंट ऑफ द गवर्नर इन जनरल एण्ड नर्मदा टेरीटोरीज'।

शीघ्र ही उनकी तरक्की हो गई। 1822 ईस्वी में वे नर्मदा-घाटी के नरसिंहपुर जिले के प्रधान बन गये। फिलहाल सरकारी हुक्म से वे जबलपुर जा रहे थे। वहाँ मि. मलोनी की चन्द महीने मदद करनी थी। मि. मलोनी जबलपुर के मजिस्ट्रेट थे।

स्लीमैन सुबह कचहरी में स्थानीय मजिस्ट्रेट से मिलने पहुँचे। बड़े हाकिम मलोनी ने उन्हें सादर स्वीकार किया- 'बहुत अच्छा हुआ स्लीमैन। हमारे यहाँ इन दिनों लोगों की बड़ी कमी है।'

'बताइए, सर! मुझे क्या करना होगा?' स्लीमैन ने सविनय कहा।

तभी अचानक उन्होंने देखा कि मजिस्ट्रेट के दफ्तर के सामने बरगद के नीचे कुछ लोगों की एक टोली पोटली-पोटले लिये बैठी है। काम की बात पर रखकर, स्लीमैन ने पूछा- 'वे कौन हैं, सर?'

मलोनी हँसे। इधर के दूसरे राजकर्मचारियों की तरह वे भी जानते थे कि स्लीमैन को ठगों को ढूँढने की सनक है। वे बोले- 'इनके साथ में तरह-तरह के सामान हैं, यह देखकर लगा था कि वह सब चोरी का माल है। लेकिन कोई सबूत नहीं है। लगता है कि अन्त तक इनको छोड़ ही देना पड़ेगा।... अच्छा तो है, तुम यहीं से अपना काम शुरू कर दो। काफी मुकदमे पड़े हैं। कौन जाने, शायद दो-चार ठग ही मिल जाएँ।'

मलोनी के अन्तिम वाक्य में छिपे हुए उपहास का आभास स्लीमैन की नजरों से नहीं बचा। उन्होंने कहा- 'कभी ढूँढ पाऊँगा या नहीं, मुझे नहीं मालूम। लेकिन ठग हैं, इस बात में मुझे कोई सन्देह नहीं है। मुझे कैसा लगता है, जानते हैं, सर? लगता है कि सिन्धु से कन्याकुमारी तक फैला हुआ एक विराट दल है, एक विशाल वृक्ष के जैसा। चारों ओर उसकी शाखें फैली हुई हैं। किसी एक शाखा पर हाथ डालिये, फिर जड़ तक पहुँचना कोई मुश्किल काम नहीं। हालाँकि मैं जानता हूँ कि लोग मेरी बातें सुनकर हँसते हैं।'

'यह तुमने ठीक ही अनुमान किया है, स्लीमैन।' अबकी मलोनी के गले में स्पष्ट सहानुभूति का स्वर सुनाई पड़ा। इस बार वे फिर हँस न सके। स्लीमैन की पीठ पर हाथ रखते हुए उन्होंने कहा- 'लोग यूँ ही तुम्हें लेकर हँसी-मजाक नहीं करते। इसके लिए जी छोटा करने से क्या फायदा? हम लोग जानते हैं कि तुम्हारे ऊपर ठगों का जुनून सवार है। वही लेकर रहो।' 'वी बुड नाट हैव यू अदरवाइज, माई लैड।' 'जानते हो, उन लोगों ने तुम्हारा क्या नाम रखा है?' मलोनी इतना कहकर अपने क्लर्क की ओर मुड़े, 'बाबू! पेड़ तले उन लोगों को अब बिठा रखने से कोई फायदा नहीं। उनके खिलाफ जब कोई सबूत है ही नहीं, तो उनको छोड़ दीजिये।'

क्लर्क के कमरा छोड़ते ही मलोनी फिर अपनी बात पर पलटे- 'दफ्तर-कचहरी, जिमखाना, ऑफीसर्स मेस में तुम्हें वे किस नाम से पुकारते हैं, जानते हो?'

कौतूहली स्लीमैन ने सिर हिलाया- 'नहीं'। मलोनी ने कहा- 'ठगी स्लीमैन कहकर।'

स्लीमैन हँस पड़े। उनके सहकर्मी उनके बारे में यहाँ तक पहुँच गये हैं, यह उन्हें मालूम नहीं था। मन ही मन वे बुदबुदाते रहे- 'ठगी, ठगी, ठगी स्लीमैन'। शायद इस नाम की उत्पत्ति व्यंग्य, विद्रूप या सहानुभूति से हुई हो। किसी भी सिलसिले में यह

नाम पड़ा हो, यह नाम उन्हें बनाये रखना है। उनको ठगी स्लीमैन ही बनना है। मन ही मन संकल्प करके, मलोनी से विदा लेकर, स्लीमैन कोर्टरूम की ओर बढ़े।

कोर्टरूम की खिड़की से स्लीमैन बाहर ताक रहे थे। उनके दिमाग में उस वक्त भी मलोनी की बातें चक्कर काट रही थीं। वे उनकी हँसी उड़ाते हैं। मलोनी जैसे लोग, जो उनको मानते हैं, वे हमदर्दी जताते हैं, बाकी लोग उनका मजाक उड़ाते हैं। उन लोगों ने उनका नाम रख दिया है - 'ठगी स्लीमैन'। स्लीमैन, मैं स्लीमैन, आज सबकी दिल्ली का पात्र हूँ। दया का पात्र हूँ। चंचल भाव से कमरे में चहलकदमी करते हुए वे फिर खिड़की के पास आकर खड़े हो गये।

उनके सामने सागर की सड़क पर लोगों की एक कतार धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी। पेड़ के नीचे वाला वह दल। पोटली-पोटले लिये। फिर वे रास्ते पर उतर आये थे और धीरे-धीरे चल रहे थे। उनके सिर पर पगड़ी, बदन पर धूल से बदरंग कमीजें और पीठ पर विभिन्न आकार की पोटलियाँ। साथ में छः-सात टट्टू भी थे। थके-हारे कदमों से वे चले जा रहे थे। टट्टुओं के खुरों से धूल उड़ रही थी।

'ठगी स्लीमैन' की चिन्ता छोड़कर, स्लीमैन फिर से अपने आप में लौट आए। उनकी भौंहें सिकुड़ गईं। उनको अचानक थिवेनट की बातें याद आ गईं। उनके अलावा इस बीच वे विभिन्न सूत्रों से और भी कुछ सूचनाएँ इकट्ठी कर चुके थे। वे एक-एक कर उनकी आँखों के सामने झलमला उठीं।

पहली सूचना : 1807 ईस्वी में चित्तौड़ और आर्कट में दो गिरोह पकड़े गये थे। लेकिन सबूत के अभाव में उनको छोड़ दिया गया था। दूसरी सूचना : 1809-10 ईस्वी में, यानी जिस साल स्लीमैन ने इस देश में कदम रखा था, उसी साल दोआब में रास्ते के किनारे कई कुँओं में तीस से ज्यादा लाशें मिली थीं। लेकिन खूनियों का पता लगाना सम्भव नहीं हुआ। तीसरी सूचना : उसी साल ब्रिटिश भारत के प्रधान सेनापति जनरल लीगर ने देशी सिपाहियों को एक इशतहार शायर कर होशियार कर दिया था। उसमें कहा गया था- 'अनजान राहगीरों से होशियार'।

स्लीमैन के मन में कोई सन्देह नहीं था कि सब लोग चाहे न भी हों, कम्पनी की कलकत्ता कौन्सिल उन्नीसवीं सदी की शुरुआत से ही निस्सन्देह इस रहस्यमय खून के बारे में वाकिफ थी। उन दिनों उनके लिए इधर ध्यान देने का मौका नहीं था। सभी

अपने-अपने घर सँभालने में लगे हुए थे।

इसके अलावा, समूचे देश में उस समय एक अजीब-सी उदासीनता छाई थी। उन लोगों ने किन्हीं यूरोपियों का खून तो किया नहीं था। कोई-कोई दार्शनिक मिजाज वाले भी थे। वे कहते थे कि यह युद्ध भी तो एक ही प्रकार की बर्बरता है। वहाँ भी तो हम इंसान होकर खुशी-खुशी इंसान का खून करते हैं, घर-द्वार जलाकर खाक कर देते हैं, शहरों को रेगिस्तान बना देते हैं। इसलिए सारे संसार में जहाँ इतना खून-खराबा और कल्लेआम जारी है, वहाँ भारत के गाँव के रास्ते पर कोई चकमा खाकर अनजाने मारा गया तो उसके लिए फिक्र करने से क्या फायदा?

कम्पनी के हाथ समेटे बैठे रहने का दूसरा एक कारण स्लीमैन जानते थे कि राज्याभिलाषी बनिये हिन्दुस्तान के लोगों के धर्म के प्रति सम्मान दिखाते हुए उन्हें अपने वश में रखना चाहते हैं। स्लीमैन ने सुना था कि उत्तर भारत में किसी अंग्रेज मजिस्ट्रेट की इजलास में छिहत्तर लोगों के एक दल को पेश किया गया था। उसमें से सत्रह व्यक्तियों ने प्राणों के भय से अपना अपराध स्वीकारा भी था। लेकिन उनके मुँह से भवानी का उल्लेख सुनकर, मजिस्ट्रेट ने फौरन उन्हें छोड़ देने का हुक्म दे दिया था। क्योंकि उनको लगा था कि उनको सजा देना धर्म में दखलन्दाजी ही माना जायेगा।

स्लीमैन फिर चहलकदमी करने लगे- 'कावर्ड्स! क्या धर्म है, और क्या धर्म नहीं है, यह कहने का साहस भी हम लोगों से हमारे राज्य के लालच ने छीन लिया है। छी:!'।

खिड़की से तब तक राहगीरों का वह दल ओझल हो चुका था। दोपहर की धूप में सागर की सड़क ऊँच रही थी। बीच-बीच में हवा के झोंकों में धूल उड़ रही थी। कभी-कभी ये झोंके खिलवाड़-सा करते हुए घुमरी खाने लगते थे। धूल की कुण्डली चक्कर खाती हुई ऊपर उठती जा रही थी और मुट्टी-मुट्टी भर अबीर-सी धूल चारों ओर बिखर जाती थी। स्लीमैन उदास-से उस ओर देख रहे थे। क्लर्क अब आकर नये साहब के लिए फाइलों का पहाड़ सजा गया, इस ओर भी उनका ध्यान नहीं गया। बगल की मेज पर दोपहर का टिफिन पड़ा था। लेकिन स्लीमैन उसके बारे में भी भूल गये थे।

एक-एक चिन्ता उनके दिमाग में आती, घुमड़ती और फिर टूटकर बिखर जाती। कभी थिवेनट, कभी मलोनी, कभी डॉ. शेरवुड या अभी-अभी खोये हुए लोगों का हुजूम। मन में जबलपुर की दोपहर - तीखी, उदास, अस्त-व्यस्त।

‘साहब!’ किसी के पैरों की आहट से उनका ध्यान टूटा। लेकिन स्लीमैन फिर भी हिले नहीं। बिना पीछे देखे, खिड़की पर निगाह टिकाये हुए ही बोले- ‘कौन हो तुम? क्या चाहिए?’

‘साहब!’ अब वह आदमी उनके पीछे, बिल्कुल पीछे आकर खड़ा हो गया था। स्लीमैन एक सैनिक की अदा से फौरन पलटकर खड़े हो गये। सलाम करके वह आदमी एक कदम पीछे हट गया- ‘साहब! मैं कल्याण सिंह हूँ।’

‘कल्याण सिंह!’ स्लीमैन की पेशानी पर बल पड़ गये। हाँ, चेहरा तो पहचाना हुआ-सा लग रहा है। दूसरा वक्त होता तो बहुत पहले ही याद आ जाता। वे ठग की चिन्ता में मग्न थे... और ठग ‘ठगी स्लीमैन’ की चिन्ता में। इसलिए उस आदमी के सामने ही वे छत की धन्नियों की ओर देखने लगे।

हाव-भाव देखकर लगा कि कल्याण सिंह को पहचानने में उन्हें अभी कुछ देर लगेगी। लिहाजा कल्याण सिंह ही आगे बढ़ गया- ‘साहब! मैं कम्पनी के अस्तबल में काम करता था।’

‘ओह!’ क्षण-भर में सारी घटना स्लीमैन को याद पड़ गई। ‘तुम घोड़े का दाना चुराते थे, इसलिए मैंने तुम्हें तीन महीने के लिए जेल भेजा था, है न?’

कल्याण के सिर हिलाते हुए कहा- ‘जी, हुजूर! आप देवता हैं। मैं जेल गया, तो मेरे बाल-बच्चों को आपने तीन महीना अपनी कोठी में रखकर खिलाया-पिलाया।’

‘हाँ। लेकिन, कल्याण सिंह! मैं देख रहा हूँ कि तुम फिर मुसीबत में फँस जाओगे।’ स्लीमैन को लगा कि कुछ देर पहले पेड़ के नीचे वाले दल में उन्होंने कल्याण सिंह को भी देखा था। वे बोले- ‘तुम फिर बुरी सोहबत में पड़ गये हो, कल्याण सिंह।’

‘वे बुरे लोग हैं, यह आप जानते हैं, साहब?’ कल्याण सिंह को मानो उसके कानों पर यकीन नहीं हो रहा था। डर से उसका चेहरा फक पड़ गया, ‘साहब! आप अन्तर्यामी हैं। आप मुझ पर रहम करें, मैं अब उनके गिरोह में रहना नहीं चाहता, साहब।’ कहते-कहते कल्याण सिंह स्लीमैन के पैरों से लिपट गया।

स्लीमैन को यह आशा नहीं थी। उनको लगा, मानो ईश्वर ने उसकी सुन ली। इसी कल्याण को उनकी इज्जत बचाने के लिए उन्होंने दूत के रूप में भेजा है। वे उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। ‘क्यों? गिरोह क्यों छोड़ना चाहते हो? क्या उन लोगों ने बराबर हिस्सा नहीं दिया?’

‘नहीं, साहब। उनका सरदार दुर्गा बड़ा बेरहम है।’

‘हाँ, मैं जानता हूँ’, स्लीमैन ने अँधेरे में फिर एक ढेला फेंका। ‘दुर्गा बात-बात पर कत्ल कर बैठता है, है न?’

कल्याण सिंह टकटकी लगाये साहब के मुँह की ओर देख रहा था। उसकी आँखें मानो मुर्दे की आँखें हों, उनमें पलक नहीं, जान नहीं। इतने बड़े जवाँमर्द आदमी के शरीर में मानो कहीं पर कण-भर भी चेतना नहीं। सारा अंग ही सुन्न पड़ गया है। कल्याण सिंह मानो मर चुका है।

‘क्यों, चुप क्यों रह गये?’ स्लीमैन घुड़क उठे, ‘मैंने जो कहा है, वह क्या झूठ है?’

‘जी नहीं,’ जादूगर के कब्जे में पड़े बच्चे की तरह सिर हिलाते हुए कल्याण सिंह ने जवाब दिया- ‘जी नहीं, हुजूर।’

‘बस, आगे कोई बात नहीं। भला चाहते हो, तो चलो मेरे साथ।’ यह कहते-कहते स्लीमैन कमरा छोड़कर बरामदे पर आकर खड़े हो गये। फिर थोड़ी ही दूर खड़े सिपाही को बुलाकर कहा- ‘मेरे साईस से कहो अभी घोड़ा निकालने के लिए।’

यह कहकर, स्लीमैन फिर अपने कमरे में दाखिल हो गये। उनके पीछे-पीछे था मंत्रमुग्ध कल्याण सिंह। वह मानो वह कुछ कहना चाहता हो, लेकिन कह नहीं पा रहा हो। उसके होंठ और जीभ में मानो कोई ताकत ही नहीं रही। इसके अलावा हवा में किसी बात की बू मिल जाने से सिपाही भी आकर तब तक खड़ा हो गया था। साहब की ओर देखकर उसे भी कुछ कहने की हिम्मत नहीं पड़ी।

अपने कमरे में दाखिल होते ही, पैंट उतारकर झट स्लीमैन ने ब्रीचेज पहन लिया। फिर दोनों पैर में बूट पहनकर चाबुक लेकर उठ खड़े हुए। दिखाई पड़ा कि सामने की मेज पर उस वक्त भी दोपहर का टिफिन पड़ा है। डिब्बा खोलकर, रोटी के चन्द टुकड़े उन्होंने जेब में डाल लिये। फिर एक छलाँग में बरामदा पार कर अस्तबल की ओर चले।

उत्कण्ठित सिपाही ने सुना, साहब चलते-चलते कह गये- ‘थानेदार से कहना कि सागरवाली सड़क पर अभी पुलिस का एक दस्ता भिजवा दिया जाये। मुझसे मुलाकात न होने पर वे बीच रास्ते से लौट न आएँ। और पीछे वाले दरवाजे से इस आदमी को जेलखाने ले जाओ। कल्याण सिंह, फिलहाल तुम्हारे लिए वही सबसे ज्यादा खतरे से खाली जगह है। है न?’

‘जी, हजूर।’ कल्याण सिंह ने जवाब दिया।

लेकिन साहब उसका जवाब सुनने के लिए रुके नहीं थे। उतनी देर में वे अहाते की दूसरी ओर जाकर, साईस का हाथ बँटाते हुए घोड़े की जीन कसने लगे थे। उन लोगों ने बरामदे में खड़े-खड़े देखा कि वे लम्हे-भर में उछलकर घोड़े पर सवार हो गये और किसी ओर बिना ताके घोड़े का मुँह घुमाकर, पलक झपकते ही आँखों से ओझल हो गये।

धुँधलके में जब घोड़ा रुका, तब ऐडजूटेंट बैंगलोर ने हैरत से देखा कि उसकी पीठ पर बैठा बेवक्त का जो आगुन्तक है, वह कोई और नहीं, स्वयं स्लीमैन है। टिफिन से सजी मेज वहीं पड़ी रही। वे बरामदे से भागते हुए स्लीमैन के सामने आकर खड़े हो गये।

‘गिव मी ए टुप ऐट वंस। विल यू?... आय ऐम आफ्टर डकवैट्स।’ जवाब की प्रतीक्षा किये बिना स्लीमैन ने घोड़े का मुँह घुमा दिया।

ऐडजूटेंट जानते थे कि स्लीमैन का यही तरीका है। वे बेमतलब सलाह लेने के भी आदी नहीं हैं और अपनी ओर से उन्हें सलाह देना भी पागलपन है। जब से एक कागज का पुर्जा निकालकर, उस पर दो सतरें लिखकर, बगल में खड़े अर्दली के हाथ में देते हुए, वे घोड़े के पीछे-पीछे फाटक की ओर दौड़े- ‘माई इमरजेंसी टुप्स विल टर्न आउट इन टेन मिनट्स फार यू। गुड लक।’ उनकी बातें स्लीमैन के कानों तक पहुँचीं या नहीं, पता न चला। धूल का बवंडर उस वक्त फाटक छोड़कर सड़क पर पहुँच चुका था।

ज्यादा दूर नहीं जाना पड़ा। कुछ देर चलने के बाद ही पीछे घोड़े के खुरों की आवाजें सुनाई पड़ने लगीं। स्लीमैन ने पलटकर देखा, ऐडजूटेंट ने अपना वादा पूरा किया था। अपना संकटकालीन दस्ता भेजने में उन्होंने कतई देर नहीं की थी।

वे आकर मिले। स्लीमैन ने कहा- ‘तुम लोग कम से कम आधा मील पीछे रहो। मैं आगे-आगे चलता हूँ, वरना इतने लोगों को एक साथ देखने पर वे भड़क जाएँगे।’ कहकर ही वे घोड़े को तेज चाल से भगाने लग गये।

लेकिन मलोनी के हाथों से रिहाई पाया हुआ गिरोह कहीं आसपास नहीं था। स्लीमैन ने मन ही मन हिसाब लगाकर देखा कि इतनी देर में उन लोगों को कई मील आगे बढ़ जाना चाहिए। इसके अलावा ऐसा भी हो सकता है कि वे यह रास्ता छोड़कर

किसी दूसरे रास्ते से चले गये हैं। फिर भी पहले बड़ी सड़क को देख लेना ही बेहतर होगा। स्लीमैन ने घोड़े की रफ्तार और तेज कर दी।

चलते-चलते करीब-करीब पाटन के पास पहुँचकर गिरोह दिखाई पड़ा। स्लीमैन उनके बगल में चलने लगे। मानो वे उनके बारे में कतई कोई दिलचस्पी नहीं रखते। वे भी उनके बारे में खास उत्साही नहीं लगे। काफी बड़ा दल था। सौ से भी ज्यादा लोग होंगे। वे रास्ते के बगल से छोटी-छोटी टोलियों में अपने में मगन धीरे-धीरे चल रहे थे। साहब ऐसी कोई धारणा नहीं बना सकते कि वे रास्ते में किसी को असुविधा पहुँचाते होंगे। लेकिन फिर भी फिरंगी की मर्जी।

अचानक दिखाई पड़ा कि जहाँ दल का अगला हिस्सा था, साहब वहीं घोड़ा रोककर खड़े हो गये। उनकी ओर घूमकर, हाथ उठाकर, उन्होंने कुछ कहा। लगा, उनको रुकने का हुक्म दे रहे हैं।

वे आपस में कुछ बतिया रहे थे। एक आदमी उनकी ओर बढ़ आया। वह सामने आकर खड़ा हो गया। स्लीमैन ने मन ही मन मान लिया कि इसी का नाम दुर्गा है।

दुर्गा सलाम करके साहब के एक बगल खड़ा हो गया- ‘साहब! आप क्या कुछ कहना चाहते हैं?’

घोड़े की पीठ पर सवार स्लीमैन ने जवाब दिया- ‘हाँ। क्यों, तुम लोग बता सकते हो कि इस रास्ते से सागर यहाँ से कितने कोस पर होगा? इसके अलावा, पाटन पहुँचने का क्या दूसरा भी कोई रास्ता है? अगर अभी घोड़ा भगाऊँ तो क्या शाम से पहले सागर पहुँच जाऊँगा?’ ऐसे ही अनाप-शनाप सवाल किये उन्होंने।

दुर्गा सूझबूझ वाले आदमी की तरह सोच-विचार कर एक-एक सवाल का जवाब देता जा रहा है। और साहब अगले ही क्षण घोड़े की पीठ पर बैठे-बैठे, दूसरा सवाल दुर्गा के सिर पर लादे दे रहे हैं। दुर्गा को उस वक्त भी यह मालूम न हो सका कि साहब उससे खिलवाड़ कर रहे हैं। घुड़सवारों का दस्ता आ पहुँचने तक इस चरके से उन्होंने लोगों को रोक रखा है।

सवाल-जवाब के दरम्यान ही एक समय देखा गया कि उन्हें चारों ओर से हथियारबन्द घुड़सवारों के एक दस्ते ने घेर लिया है। स्लीमैन अब घोड़े से जमीन पर उतर आए। बोले- ‘रास्ते पर नहीं। तुम लोग उस अमराई में चलो। तुम लोगों से मुझे बातें करनी हैं।’

दुर्गा अपने गिरोह को साहब के कहने के मुताबिक आम के बगीचे में ले चला। स्लीमैन ने कहा- 'अब तुम लोग बैठ सकते हो।'

दुर्गा ने जवाब दिया- 'सो तो हम बैठ रहे हैं, हुजूर। लेकिन आप कहना क्या चाहते हैं, यह हमारी समझ में नहीं आ रहा है, हुजूर।'

स्लीमैन ने घुड़की लगाई- 'सो कैसे समझ सकोगे? मैं कहना चाहता हूँ कि तुम लोग डाकू हो। फलाँ दिन रात को तुम लोगों ने नरसिंहपुर में डाका डाला था।'

वे खिलखिलाकर हँस पड़े- 'नहीं साहब! हम लोग डकैत नहीं हैं। नरसिंहपुर हम लोग जिन्दगी भर में कभी नहीं गये।'

स्लीमैन खुद भी यह जानते थे। लेकिन इन लोगों को अभी कुछ देर और बिठाये रखना था। क्योंकि पुलिस के न आने पर इतने बड़े गिरोह को लेकर जबलपुर लौट जाना घुड़सवारों के लिए मुमकिन नहीं था। उन्होंने कहा- 'तुम लोग कुसूरवार हो या बेकसूर, इसका बाद में फैसला होगा। अभी तुम लोग चुपचाप यहीं बैठो। हमारी पुलिस आ रही है। वे आकर तुम्हारी शिनाख्त करेंगे। वे अगर कहेंगे कि तुम लोग नरसिंहपुर वाले गिरोह के नहीं हो, तो तुम लोगों को हम नाहक क्यों रोकेंगे?'

दुर्गा ने कहा- 'ठीक तो है। पुलिस आ जाए। हम लोग तो बैठे ही हैं। लेकिन मैं बता रहा हूँ, हुजूर! हम लोगों को आपने खाहमखाह रोक रखा है। हम लोग तीर्थयात्री हैं। हमें बैठे रहने में क्या है? इसमें हुजूर का ही वक्त जाया हो रहा है।' दुर्गा खुद भी इस बार पेड़ के नीचे बैठ गया।

स्लीमैन ने धीरे-धीरे आगे बढ़कर, उनके बीच खुली जगह पर रूमाल बिछा दिया। फिर उस पर बैठकर, अपने हाथों में सिर छिपा लिया। उधर देखते हुए दुर्गा को लगा कि बेवकूफ साहब शायद सो गया है। वह अपने दल के लोगों के साथ घरेलू बातचीत में लग गया।

नींद नहीं ले रहे थे, जबलपुर के निकट पाटन के रास्ते पर हिन्दुस्तान की जमीन पर बैठे तरुण सिविलियन स्लीमैन उस समय सपना देख रहे थे। उनके दिमाग में उसी दिन सबेरे मलोनी से सुनी हुई बातें उथल-पुथल मचाये हुए थीं। वे उन्हें पागल कहते हैं। वे उनकी हँसी उड़ाते हैं। उन्होंने उनका नाम रख छोड़ा है - 'ठगी स्लीमैन'। उनको इस नाम की मर्यादा रखनी है।

वे लोग आपस में बातें कर रहे हैं। स्लीमैन ध्यान से वे बातें सुन रहे हैं। कभी कानों में आ रहा है 'सामचानी', कभी 'खरगोश', कभी 'रेकलान', कभी 'सियार'। कभी कोई बातों के बीच कहता है 'सेटाक', कभी 'सोनादाना', कभी 'बूस', कभी 'रुपया', कभी 'नियामत भिट्ट', कभी 'धनी हिन्दू'। ये सब बातें मानो एक अचिन्तित स्वप्नलोक की हैं।

डॉ. शेरवुड का छात्र उनका सारा का सारा मतलब न समझ सकने पर भी इतना भर समझ गया कि वह ठगों के गिरोह के बीच बैठा है - वे ठग, जो इस देश की धरती पर पैर रखने के बाद उनके ध्यान और सपने के विषय बने हुए थे।

अगर वे चाहें, तो क्षण-भर में साहब के गले में फाँसी डाल दे सकते हैं। इतने बड़े गिरोह के लिए चन्द घोड़े और घुड़सवार गायब कर देना कोई मुश्किल काम नहीं है। स्लीमैन को यह मालूम था। लेकिन फिर भी उस दिन एक बार भी उनके मन में मौत का खौफ झाँका तक नहीं। क्योंकि स्लीमैन उस रोज एक स्वप्न-दृष्टा व्यक्ति थे। ठग ही उस समय उनके ध्यान में चढ़े थे।

पुलिस आई। दुर्गा के गिरोह को लेकर स्लीमैन फिर जबलपुर के रास्ते पर चल पड़े। आगे-आगे वह। पीछे दुर्गा की पलटन। उनके बीच-बीच में पुलिसवाले। सबसे पीछे घुड़सवार दस्ता। उनमें से कोई भी नहीं जानता कि इस जुलूस के आगे-आगे घोड़े पर सवार जो साहब जा रहे हैं, उनके लिए वह दिन उनके जीवन का सबसे सुखमय दिन है। सतीदाह, बाधक डकैत, नेपाल युद्ध, 1843 का बुन्देलखण्डी विद्रोह, महाराजपुर की लड़ाई, सागर का दुर्भिक्ष, जबलपुर की आयकर-नीति, अवध का सुशासन, भारत में मॉरीशस के गन्ने की खेती - भारत के इतिहास में अंग्रेज के अनेक गौरवों के साथ जुड़ा हुआ है विलियम हेनरी स्लीमैन का नाम। लेकिन स्लीमैन के जीवन का सबसे आनन्दमय क्षण था वह साँझ - पाटन से वे जब इतिहास को मूर्तिमान कर, पीछे-पीछे पैदल चलकर जबलपुर लौट रहे थे।

दुर्गा को मालूम नहीं था कि जब भी वे उनकी ओर पलट रहे थे, तभी पुलक से उनके सारे अंगों में रोमांच हो रहा था। जेब में रोटी का बण्डल वैसे ही पड़ा था, साहब थकान को भुला चुके थे। आनन्द और उत्तेजना से वे घोड़े की पीठ पर थर-थर काँप रहे थे।

